ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक – ६

VARNA, JATI AUR DHARMA

[Critical analysis]

Pt. PHOOL CHANDRA SIDDHANTSHASTRI

Bharateeya Gyanpeeth Publication

First Edition 1963

PRICE RS. 3/-

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी

प्रथम संस्करण १९६३

मूल्य तीन रुपये

दो शब्द

भारतवर्षमें जातिप्रथा बहुत पुरानी है। ब्राह्मणधर्मके प्रसारके साथ समग्र देशमें इसका प्रचार और प्रसार हुआ। वास्तवमें ब्राह्मणधर्मका मूल आधार ही जातिप्रथा है। इस धर्मका साहित्य और ऐतिहासिक तथ्य इसके साक्षी हैं। पर पिछली शताब्दियोंके सामाजिक और राष्ट्रीय इतिहासको देखनेसे ज्ञात होता है कि जातिप्रथा देश और मानव-समाजके लिए परिणाम अच्छा नहीं लायी।

यह तो स्पष्ट ही है कि जैनधर्मका जातिधर्मके साथ थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। मूल जैन साहित्य इसका साक्षी है। किन्तु मध्यकालमें जातिधर्मका व्यापक प्रचार होनेके कारण यह भी उससे अछूता न रह सका। इस कालमें और इसके बाद जो जैन साहित्य लिखा गया, उसमें इसकी स्पष्ट छाया दृष्टिगोचर होती है। उत्तरकालीन कितने ही आचार्य, जो जैनधर्मके सर्वमान्य आधार-स्तम्भ रहे, उन्हें भी किसी न किसी रूपमे इसे प्रश्रय देना पड़ा। वर्तमानमें जैनधर्मके अनुयायियोंमें जो जातिप्रथाका प्रचार और उसके प्रति आग्रह दिखाई देता है, यह उसीका फल है।

समय बदला और अब देश यह सोचने लगा है कि जातिप्रथाका अन्त कैसे किया जाये। यह सत्य है कि वैदिक सम्प्रदायके भीतर जैसे-जैसे जातिप्रथाका मूलोच्छेद होता जायेगा वैसे-वैसे जैनसमाज भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। किन्तु यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं। यह अनुवर्तीपन जैनसमाजको कहींका भी नहीं रहने देगा। वस्तुतः उसे इसका विचार अपने धर्मशास्त्रके आधारसे ही करना चाहिए। धर्मके प्रति उसकी निष्ठा बनी रहे यह सर्वोपरि है।

ज़िन जैन आचार्योंने जाति, कुल, गोत्र आदिकी प्रथाको परिस्थितिवश धर्मका अंग बनानेका उपक्रम किया, उन्होंने भी इसे वीतराग भगवान्‌की वाणी या आगम कभी नहीं कहा। सोमदेवसूरिने अपने यशस्तिलकमें गृहस्थोंके धर्मके लौकिक और पारलौकिक दो भेद किये हैं तथा लौकिक धर्ममें वेदों और मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंको ही प्रमाण बताया है, जैन आगमको नहीं। इसी प्रकार इन्होंने अपने नीतिवाक्यामृतमें वेद आदिको त्रयी कहकर वर्णों और आश्रमोंके धर्म और अधर्मकी व्यवस्था त्रयीके अनुसार बतायी है—त्रयीत: खलु **वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था।**

यह बात केवल सोमदेवसूरिने ही नहीं कही, मूलाचारके टीकाकार आचार्य वसुनन्दिने मूलाचारकी (अध्याय ५ श्लोक ५९) टीकामें लोकका अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किया है और उनके आचारको लौकिक आचार बताया है। स्पष्ट है कि लौकिक आचारसे पारलौकिक आचारको वे भी भिन्न मानते रहे।

महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने ब्राह्मणवर्णके साथ जातिप्रथाकी उत्पत्ति भरत चक्रवर्तीके द्वारा बतायी है, केवलज्ञानसम्पन्न परम वीतरागी भगवान् आदिनाथके मुखसे नहीं। इससे भी यही ज्ञात होता है कि वे भी इसे पारलौकिक धर्मसे जुदा ही मानते थे।

जैनधर्ममें जातिप्रथाको स्थान क्यों नहीं है, इस प्रश्नका सहज तर्कसे समाधान करते हुए आचार्य गुणभद्रने उत्तरपुराणमें कहा है, 'मनुष्योंमें गाय और अश्वके समान कुछ भी जातिकृत भेद नहीं है। आकृतिभेद होता तो जातिकृत भेद मानना ठीक होता। परन्तु आकृतिभेद नहीं है; इसलिए पृथक् पृथक् जातिकी कल्पना करना व्यर्थ है।'

आचार्य रविषेणने अपने पद्मपुराणमें जातिवादका निषेध करते हुए यहाँ तक लिखा है कि कोई जाति गर्हित नहीं है, वास्तवमें गुण कल्याणके कारण हैं, क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रने व्रतोंमें स्थित चाण्डालको भी ब्राह्मण माना है।

अमितगति श्रावकाचारके कर्ता इससे भी जोरदार शब्दोंमें जातिवादका निषेध करते हुए कहते हैं, "वास्तवमें यह उच्च और नीचपनेका विकल्प ही सुख और दुःखका करनेवाला है। कोई उच्च और नीच जाति है, और वह सुख और दुःख देती है, यह कदाचित् भी नहीं है। अपने उच्चपनेका निदान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष धर्मका नाश करता है और सुखको नहीं प्राप्त होता। जैसे बालूको पेलनेवाला लोकनिन्द्य पुरुष कष्ट भोगकर भी कुछ भी फलका भागी नहीं होता, ऐसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी आचार्यने पारलौकिक (मोक्ष-मार्गरूप) धर्ममें लौकिक धर्मको स्वीकार नहीं किया है और इसीलिए सोमदेवसूरिने स्पष्ट शब्दोंमें धर्मके दो भेद करके पारलौकिक धर्मको जिन आगमके आश्रित और लौकिक धर्मको वेदादि ग्रन्थोंके आश्रित बतलाया है।

जैन परम्परामें यह जातिप्रथा और तदाश्रित धर्मकी स्थिति है। ठीक इसी प्रकार गोत्र और कुलके विषयमें भी जानना चाहिए। आचार्य वीरसेनने गोत्रका विचार करते हुए इक्ष्वाकु आदि कुलोंको स्वयं काल्पनिक बतलाया है। कर्मशास्त्रमें जिसे गोत्र कहा है वह लौकिक गोत्रसे तो भिन्न ही है, क्योंकि गोत्र जीवविपाकी कर्म है। उसके उदयसे जीवकी नोआगमभाव पर्याय होती है और वह विग्रहगतिमें शरीर ग्रहणके पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है, इसलिए उसका लौकिक गोत्रके साथ सम्बन्ध किसी भी अवस्थामें स्थापित नहीं किया जा सकता।

यह तो आगम ही है कि नोआगमभावरूप नीचगोत्रके साथ कोई मनुष्य मुनि नहीं होता। परन्तु जब कोई ऐसा व्यक्ति नोआगमभावरूप मुनिपद अंगीकार करता है तो उसके प्रथम समयमें ही उसका नीचगोत्र बदलकर नोआगमभावरूप उच्चगोत्र हो जाता है, यह भी आगमसे स्पष्ट है।

आगममें नीचगोत्री श्रावकके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति तो बतलायी ही है; साथ ही यह भी बतलाया है कि क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति

केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही होती है। यदि यह एकान्तसे मान लिया जाये कि शूद्र नियमसे नीचगोत्री ही होते हैं और तीन वर्णके मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं तो इससे शूद्रका केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें उपस्थित होना सिद्ध होता है और जब ऐसा व्यक्ति केवली और श्रुत-केवलीके पादमूलमें पहुँच सकता है तब वह समवसरणमें या जिन-मन्दिरमें नहीं जा सकता, यह कैसे माना जा सकता है।

यह कहना कि जो म्लेच्छ देशव्रतके साथ क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हैं, उनको ध्यानमें रखकर यह कथन किया है, ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार शूद्र मात्र नीचगोत्री मान लिये गये हैं, उसी प्रकार आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें म्लेच्छोंका भी नीचगोत्री होना लिखा है। आजीविका भी शूद्रोंके समान म्लेच्छोंकी हीन ही मानी जायेगी। आचार्य जिनसेनने महापुराणमें इन्हें धर्म-कर्मसे रहित बतलाया ही है। फिर क्या कारण है कि म्लेच्छोंके लिए, जो आर्य भी नहीं माने गये हैं, धर्म पालनकी पूरी स्वतन्त्रता दी जाये और शूद्रोंको उससे वञ्चित रखा जाये।

शूद्रोंमें पर्याय सम्बन्धी अयोग्यता होती है, यह भी नहीं है; क्योंकि, आगम साहित्यमें धर्मको धारण करनेके लिए जो योग्यता आवश्यक बतलायी है वह म्लेच्छों तथा इतर आर्योंके समान शूद्रोंमें भी पायी जाती है। अतएव यही मानना उचित है कि अन्य वर्णवालोंके समान शूद्र भी पूरे धर्मको धारण करनेके अधिकारी हैं, वे जिनमन्दिरमें जाकर उसी प्रकार जिनदेवका दर्शन-पूजन कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य वर्णके मनुष्य।

मगर-मच्छ जैसे हिंसाकर्मसे अपनी आजीविका करनेवाले प्राणी काल-लब्धि आनेपर सम्यग्दर्शनके अधिकारी तो हैं ही, विशुद्धिकी वृद्धि होने-हर श्रावक धर्मके भी अधिकारी हैं। यह विचारणीय है कि मगर-मच्छ और शूद्र दोनोंमें पर्यायकी अपेक्षा भी कितना अन्तर है — एक तिर्यञ्च

और दूसरा मनुष्य; फिर भी शूद्रोंके लिए तो धर्म धारण करनेका अधिकार न रखा जाये और तिर्यञ्चोंको रहे ! स्पष्ट है कि लौकिक परिस्थितिके प्रभाव वश ही ऐसा किया गया है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्डमें सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको देवपदसे विभूपित करनेमें थोड़ी भी हिचकिचाहटका अनुभव नहीं करते। और यही कारण है कि पण्डितप्रवर आशाधरजीने कृषि और वाणिज्य आदिसे आजीविका करनेवाले गृहस्थको जिस प्रकार नित्यमह, आष्टाह्निकमह आदिका पूजन करनेका अधिकारी माना है, उसी प्रकार सेवा और शिल्प (शूद्रकर्म)से आजीविका करनेवालेको भी उन सबका अधिकारी माना है।

आचार्य जिनसेनने महापुराणमें जो षट्कर्म तीन वर्णके मनुष्योंके लिए बतलाये थे, उनमें-से वार्ता (आजीविका) को हटाकर और उसके स्थानमें गुरूपास्तिको रखकर उत्तरकालीन अनेक आचार्योंने उन्हें श्रावकमात्रका दैनिक कर्तव्य घोषित किया। इसका भी यही कारण प्रतीत होता है कि किसी भी आचार्यको यह इष्ट नहीं था कि कोई भी मनुष्य शूद्र होनेके कारण अपने दैनिक धार्मिक कर्तव्यसे भी वञ्चित किया जाये। धर्म कोई देने-लेनेकी वस्तु तो नहीं, वह तो जीवनका सहज परिणाम है जो काललब्धि आनेपर योग्यतानुसार सहज उद्भूत होता है।

इस प्रकार जातिप्रथाके विरोधमें जब स्पष्टरूपसे आगम उपलब्ध है तो जातिप्रथा और उसके आधारसे बने हुए विधि-विधानोंका सहारा लिये रहना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि बहुत-से समाजहितैषी बन्धु निर्भय होकर इसका न केवल विरोध करते हैं, किन्तु जीवनमें इसे प्रश्रय भी नहीं देते।

इस विषयपर शास्त्रीय दृष्टिसे अभीतक सांगोपांग मीमांसा नहीं हो पायी थी। यह एक कमी थी, जो सबको खटकती थी। लगभग ७-८ वर्ष पूर्व मान्यवर साहू शान्तिप्रसादजीका इस ओर विशेष ध्यान गया।

फलस्वरूप श्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी सुवर्ण जयन्तीके समय मधुवनमें उन्होंने मुझसे इस विषयकी चरचा तो की ही, साथ ही इस विषयपर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख देनेका आग्रह भी किया। इसके बाद उनका आग्रह-पूर्ण एक पत्र भी मिला। बन्धुवर बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी तथा स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य आदि अन्य महानुभावोंका आग्रह तो था ही। 'वर्ण, जाति और धर्म' पुस्तक वस्तुतः इन सब महानुभावोंके इसी अनुरोधका फल है।

यों तो लगभग १३ वर्ष पूर्व श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्-की ओरसे एक योजना बनी थी। उसके अनुसार मुझे इस विषयपर सोलह ट्रेक्ट लिखने थे। किन्तु मैं एक ट्रेक्ट लिख सका कि उस समय वह योजना ठप हो गयी। उसके बाद यह दूसरा अवसर है।

मान्यवर साहूजी और उनकी धर्मपत्नी सौ० रमारानीजी विचारशील दम्पति हैं। उनकी मान्यता है कि जैनधर्म ऊँच-नीचके भेदको स्वीकार नहीं करता और इसीलिए उनका यह स्पष्ट मत है कि जो धर्म मनुष्य-मनुष्यमें भेद करता है, वह धर्म ही नहीं हो सकता। साहूजीने अपनी इस पीड़ाको उस समय बड़े ही मार्मिक और स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया था, जब उन्हें पूरे जैनसमाजकी ओरसे मधुवनमें श्रावकशिरोमणिके सम्मानपूर्ण पदसे अलंकृत किया गया था। उनके वे मर्मस्पर्शी शब्द आज भी मेरे स्मृतिपटलपर अंकित हैं। उन्होंने कहा था, 'समाज एक ओर तो मेरा सत्कार करना चाहती है और दूसरी ओर मेरी उन उचित बातोंकी ओर जरा भी ध्यान नहीं देना चाहती, जिनके बिना आज हमारा धर्म (जैनधर्म) निष्प्राण बना हुआ है। फिर भला उपस्थित समाज ही बतलाये कि मैं ऐसे सम्मानको लेकर क्या करूँगा। मुझे सम्मान-की चाह नहीं है। मैं तो उस धर्मकी चाह करता हूँ जो भेदभावके बिना मानवमात्रको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाता है।'

वस्तुतः यह पुस्तक आजसे लगभग पाँच-छह वर्ष पूर्व ही लिखी गयी थी। मुद्रणका कार्य भी तभी सम्पन्न हो गया था। किन्तु इसके बाद कुछ ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई जिसके कारण यह प्रकाशमें आनेसे रुकी रही। मैंने कुछ परिशिष्ट देनेकी भी योजना की थी, क्योंकि मैं चाहता था कि बौद्ध और श्वेताम्बर परम्पराके साहित्यमें जो जातिविरोधी विपुल सामग्री उपलब्ध होती है वह परिशिष्टके रूपमें इस पुस्तकमें जोड़ दी जाये। साथ ही वैदिक परम्परामें भी कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिस द्वारा जातिवाद पर तीव्र प्रहार किया गया है। उसे भी मैं परिशिष्टके रूपमें इसमें संचित कर देना चाहता था। दो-तीन माह परिश्रम करके मैंने बहुत कुछ सामग्रीका संकलन भी कर लिया था; किन्तु इस पुस्तकको मुद्रित हुए बहुत समय हो गया है, और अधिक समय तक यह प्रकाशित होनेसे रुकी रहे यह मैं चाहता नहीं, इसलिए इस योजनाको तत्काल छोड़ दिया गया है। जिस समय यह पुस्तक लिखी गयी थी, यदि उसी समय प्रकाशित हो जाती तो कई दृष्टियोंसे लाभप्रद होता।

पुस्तकमें जातिवादकी दृष्टिसे महापुराणके जातिवादी अंशकी तथा इसी प्रकारके अन्य साहित्यकी सौम्य पर्यालोचना आयी है। इस परसे कोई महानुभाव यह भाव बनानेकी कृपा न करें कि मैं महापुराण या उसके रचयिता आचार्य जिनसेनका या इसी प्रकार अन्य आचार्यों या विद्वानोंका आदर या श्रद्धा नहीं करता। वस्तुतः ये सब आचार्य और विद्वान् जैन परम्पराके आधार-स्तम्भ रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। मेरा विश्वास है कि इन आचार्यों या विद्वानोंने जातिवादको किसी न किसी रूपमें जो प्रश्रय दिया है इसमें मूल कारण उस समयकी परिस्थिति ही रही है। यह दूसरी बात है कि आज वह परिस्थिति हमारे सामने नहीं है। अतएव इस पुस्तकमें जो जातिवादी अंशकी सप्रमाण पर्यालोचना की गयी है, वह जैनधर्मके आचार और तात्त्विक भूमिकाके आधारपर ही की गयी है। आशा है कि इस पर्यालोचनासे समाज और दूसरे लोगोंके ध्यानमें यह बात स्पष्ट रूपसे

आ जायेगी कि जातिवादी व्यवस्था जैनधर्मका अंग नहीं है। यह परिस्थिति-वश स्वीकार की गयी व्यवस्था है। हमारे विचारमें अब परिस्थिति बदल गयी है, अतः जैनसाहित्यमें प्ररूपित इस जातिवादी व्यवस्थाके त्यागमें ही जैन परम्पराका हित है। हमें विश्वास है कि सभी विद्वान् और समाज इसी दृष्टिकोणसे इस पुस्तकका अवलोकन करेंगे।

मैं उन सबका आभारी हूँ जिन्होंने इसके निर्माणके लिए मुझे प्रेरणा दी या इसके निर्माणमें सहयोग किया। विशेष रूपसे भारतीय ज्ञानपीठकी अध्यक्षा सौभाग्यशीला श्रीमती रमारानीजीका जिन्होंने मुझे वे सब अनुकूलताएँ उपस्थित कर दीं जिनके कारण मैं इस पुस्तकका निर्माण कर सका। अन्य जिन महानुभावोंका विशेष सहयोग मिला है, उनका आदर-पूर्वक नामोल्लेख तो मैं पूर्वमें ही कर आया हूँ। विज्ञेषु किमधिकम्।

—फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

विषयसूची

मूल व अनुवाद

वर्ण, जाति और धर्म

अधिक दृष्टिगोचर होती है। विश्वमें जितने तीर्थङ्कर और धर्मसंस्थापक हुए हैं उन सबने अपने जीवनके अनुभव द्वारा इसकी महत्ता स्वीकार की है। व्यक्तिका उत्थान और उसके आधारसे समाजका निर्माण इसी पर अवलम्बित है। यद्यपि लोकमें समाजव्यवस्थाका प्रधान अङ्ग राज्य माना जाता है पर उसकी प्रतिष्ठा भी परम्परासे धर्मतत्त्वके आधार पर ही हुई है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चारों सबमें समान रूपसे पाये जाते हैं किन्तु उनमें विशेषता उत्पन्न करनेवाला यदि कोई सारभूत पदार्थ है तो वह धर्म ही है। धर्म ही प्राणीमात्रको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, जड़तासे चेतनता की ओर और बाह्य जगतसे अन्तर्जगतकी ओर ले जाता है। जहाँ वह अर्थ और काम पुरुषार्थका मूल कहा जाता है वहाँ निर्वाणकी प्राप्ति भी उसीसे होती है। प्राणीमात्रके जीवनमें जितनी सुकुमार प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं उनका आधार एकमात्र धर्म ही है। दूसरेका स्वत्त्वापहरण, असत्य संभाषण, परस्वहरण, स्वैरगमन और मूर्च्छा ये प्राणीमात्रकी अज्ञानजनित कमजोरियाँ हैं। इनपर नियन्त्रण स्थापित कर धर्मने ही उस मार्गका निर्माण किया है जिस पर चलकर प्राणीमात्र ऐहिक और पारलौकिक सुखका भागी होता है। धर्मकी महत्ता सर्वोपरि है।

धर्मकी व्याख्या—

इस प्रकार सनातन कालसे प्राणीमात्रके जीवनके साथ जिसका इतना गहरा सम्बन्ध है, प्रसङ्गसे उसकी व्याख्या और अवान्तर भेदोंको समझ लेना भी आवश्यक है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बना है। इसका अर्थ है धारण करना = धरतीति धर्मः। धर्म शब्दकी व्युत्पत्तिपरक इस व्याख्याके अनुसार धर्म वह कर्तव्य है जो प्राणीमात्रके ऐहिक और पारलौकिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर सबको सुपथ पर ले चलनेमें सहायक होता है। यहाँ मैंने 'मानवमात्र' शब्दका प्रयोग न कर जान-बूझकर 'प्राणीमात्र' शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि धर्मका आश्रय केवल

मानवको ही प्राप्त न होकर प्राणीमात्रको मिला हुआ है। किसी एक गौ पर हिंस्र पशुका आक्रमण होने पर अन्य गौ उसकी रक्षाके लिए क्यों दौड़ पड़ती हैं ? इसका कारण क्या है ? यही न कि अन्यकी रक्षामें ही अपनी रक्षा है इसके महत्त्वको वे भी समझती हैं। यह समझदारी मनुष्योंतक ही सीमित नहीं है। किन्तु जितने जीवधारी प्राणी हैं, न्यूनाधिक मात्रामें वह सबमें पाई जाती है। यह वह विवेक है जो प्रत्येक प्राणीको धर्म अर्थात् अपने कर्तव्यकी ओर आकृष्ट करता है।

धर्मके अवान्तर भेद और उनका स्वरूप—

साधारणतः संस्थापकों या सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे धर्मके जैनधर्म, बौद्धधर्म, वैदिकधर्म, ईसाईधर्म और मुस्लिमधर्म आदि अनेक भेद हैं। किन्तु समुच्चयरूपसे इन्हें हम दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—व्यक्तिधर्म या सामान्यधर्म और सामाजिकधर्म या लौकिकधर्म। व्यक्तिधर्म या सामान्यधर्ममें देश, काल, जाति और वर्गविशेषका विचार किए बिना प्राणीमात्रके कल्याणके मार्गका निर्देश किया गया है और सामाजिकधर्ममें केवल मनुष्योंके या मनुष्योंको अनेक भागोंमें विभक्त कर उनके लौकिक मान्यताओंके आधारपर पृथक्-पृथक् अधिकारों और कर्तव्योंका निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिधर्म सब प्राणियोंकी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति और सुख-सुविधाका विचार करता है और सामाजिकधर्म मात्र मानवमात्रके ऐहिक हित साधन तक ही सीमित है। यहाँ हमने जिन धर्मोंका नामोल्लेख किया है उनमें जैनधर्म मुख्यरूपसे व्यक्तिवादी धर्म है। इसे आत्मधर्म भी कहते हैं। बौद्धधर्मकी प्रकृति और स्वरूपका विचार करनेपर वह भी व्यक्तिवादी धर्म माना जा सकता है। पर बौद्ध-धर्ममें व्यक्तिवादी होनेके वे सब चिह्न उतने स्पष्टरूपमें दृष्टिगोचर नहीं होते जो व्यक्तिवादी धर्मकी आत्मा है। शेष वैदिकधर्म, ईसाईधर्म और मुसलिमधर्म मुख्यरूपसे सामाजिकधर्म हैं। इनमें मनुष्यजातिको छोड़कर

अन्य जीवधारियोंके हिताहितका तो विचार ही नहीं किया गया है। मनुष्योंके हितका विचार करते हुए भी इनका दृष्टिकोण उतना उदारवादी नहीं है। उदाहरणार्थ वैदिकधर्ममें मनुष्यजातिको भी जन्मसे चार भागोंमें विभक्त करके उनके अलग-अलग कर्तव्य और अधिकार निश्चित कर दिए गये हैं। इस धर्मके अनुसार कोई शूद्र अपना कर्म बदलकर उच्चवर्णके कर्तव्योंका अधिकारी नहीं बन सकता। इसमें क्षत्रिय और वैश्यवर्णको भी ब्राह्मणवर्णसे हीन बतलाया गया है। ब्राह्मण सबका गुरु है यह इस धर्म की मुख्य मान्यता है। वर्गप्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिए ही इस धर्मका जन्म हुआ है, इसलिए इसे ब्राह्मणधर्म भी कहते हैं। ईसाईधर्म और मुस्लिमधर्ममें यद्यपि इस प्रकारका श्रेणिविभाग दृष्टिगोचर नहीं होता और इन धर्मोंमें उच्च-नीचकी भावनाको समाजमें मान्यता भी नहीं दी गई है, फिर भी इनका लक्ष्य कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके आधारपर मानवसमाज तक ही सीमित हैं। आत्मीक उन्नति इनका लक्ष्य नहीं है, इसलिए ये तीनों ही धर्म समाजधर्मके अन्तर्गत आते हैं।

व्यक्तिधर्म

जैनधर्मकी विशेषता—

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जैनधर्म मुख्यरूपसे व्यक्तिवादी धर्म है। व्यक्ति उस इकाईका नाम है जो जीवधारी प्रत्येक प्राणीमें पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होती है। व्यक्तिके इस व्यक्तित्वको प्रतिष्ठित करना ही जैनधर्मकी सर्वोपरि विशेषता है। जैनधर्म व्यक्तिवादी है इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह किसी एक व्यक्तिकी स्वार्थपूर्तिके लिए अन्य व्यक्तियोंके स्वत्वापहरणको विधेय मानता है। लौकिक स्वार्थपूर्तिको तो वह वास्तवमें स्वार्थ ही नहीं मानता। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें अनादि कालसे कमजोरी

घर किये हुए है जिसके कारण वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वको भूला हुआ है। अपनी इस आध्यात्मिक कमजोरीवश उसने ऐहिक उन्नतिको ही अपनी उन्नति मान रखा है। विचारकर देखा जाय तो ऐहिक जीवनकी मर्यादा ही कितनी है। वह भौतिक आवरणोंसे आच्छादित है, इतना ही नहीं, जीवनके अन्तमें इस जीवको उसका त्याग ही करना पड़ता है। प्रकृतमें विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वह इन सब भौतिक साधनोंका स्वयं स्वामी है? यदि हाँ तो उसके जीवनकालमें ही वे उससे अलग क्यों हो जाते हैं और यदि नहीं तो वह उनके पीछे पड़कर अपने स्वत्वको क्यों गँवा बैठता है। प्रश्न मार्मिक है। तीर्थङ्करोंने अपने जीवनको आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रयोगशाला बनाकर इस तथ्यको हृदयङ्गम किया था। परिणामस्वरूप उन्होंने धर्मका जो स्वरूप स्थिर किया उसपर चलकर प्रत्येक प्राणी ऐहिक उन्नतिके साथ पारलौकिक उन्नति करनेमें सफल होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि ऐहिक उन्नति भौतिक साधनोंकी विपुलता न होकर सुखी जीवन है और सुखी जीवनका मूल आधार आध्यात्मिक सन्तोष है। प्रायः हम देखते हैं कि इस गुणके अभावमें साधनसम्पन्न और विविध कलाओंमें निपुण व्यक्ति भी दुखी देखे जाते हैं, इसलिए वर्तमान जीवनमें भौतिक साधनोंकी उतनी महत्ता नहीं है जितनी इस प्राणीने समझ रखी है। महत्ता है पारलौकिक उन्नतिको लक्ष्यमें रखकर सन्तोषपूर्वक सुखी जीवन बनानेकी। तीर्थङ्करों और सन्तोंने सुखी जीवनको प्राप्त करनेका जो मार्ग बतलाया उसीको धर्म कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र धर्मकथनकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके दो गुणोंका मुख्यरूपसे उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि धर्मका प्रथम गुण राग-द्वेष आदि अन्तर्मलको धोनेकी क्षमता है और दूसरा गुण प्राणीमात्रको दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुखको प्राप्त कराना है। उनके कथनानुसार जिसमें ये दो विशेषताएँ हों धर्म वही हो सकता है। अन्य सब लौकिक व्यवहार है। इसी अभिप्रायको उन्होंने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

साधारणतः लोकमें धर्मके नाम पर अनेक प्रकारके व्यवहार प्रचलित हैं और वे धर्म माने जाते हैं। हमारे मकानके सामने एक नीमका वृक्ष है और वहीं देवीका मन्दिर है। प्रातःकाल कुछ मनुष्य देवीका दर्शन करने और जल चढ़ानेके लिए आते हैं। लौटते समय उनमेंसे कुछ आदमी नीमके ऊपर भी जल छोड़ते जाते हैं। एक दिन किसी भाईसे ऐसा करनेका कारण पूछने पर उसने बताया कि हमारे धर्मशास्त्रमें वृक्ष की पूजा करना धर्म बतलाया गया है, इसलिए हम ऐसा करते हैं। एक दूसरी प्रथा हमें अपने प्रदेशकी याद आती है। कहा जाता है कि न्यूनाधिकरूपमें यह प्रथा भारतवर्षके अन्य भागोंमें भी प्रचलित है। हमारी जातिमें यह प्रथा विशेष रूपसे प्रचलित है। इसे सपटोनी कहते हैं। विवाहके समय वरके घरसे विदा होकर कन्याके गाँव जाते समय यह विधि की जाती है। सर्व प्रथम वरके मकानके मुख्य दरवाजेके आगे बाहर चौक पूर कर उसमें वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित कर और दरवाजेकी ओर मुख कराकर वरको खड़ा किया जाता है। बादमें चार मनुष्य एक लाल वस्त्र लेकर उसके ऊपर चंदोवा तानते हैं। और वरकी माता देहलीके भीतरसे दूसरी ओर खड़े हुए एक मनुष्यको मूसल और मथानीको सातबार चंदोवाके नीचेसे वरके दाहिनो ओरसे देकर चंदोवाके ऊपरसे बांई ओरसे लेती जाती है। यह जातिधर्म है। हमारी जातिमें विवाहके समय इसका किया जाना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। इसके करनेमें रहस्य क्या है इसपर मैंने बहुत विचार किया। अन्तमें मेरा ध्यान 'सपटोनी' शब्द पर जानेसे इसका रहस्य खुल सका। 'सपटोनी' सात टोना शब्दसे बिगड़कर बना है। मालूम पड़ता है कि जब टोना-टोटकाकी बहुलता थी तब यह प्रथा किसी कारणवश हमारी जातिमें प्रविष्ट हो गई और आज तक चली आ रही है। वैदिकधर्ममें गङ्गास्नान, पीपल और बरगद आदि वृक्षोंकी पूजा,

देवी देवताओं की मान्यता, मकरसंक्रान्ति, चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय नदी स्नान तथा पितरोंका तर्पण आदि अनेक लोकरूढ़ियाँ प्रचलित हैं। जैनधर्ममें किसी किसी क्षेत्रमें क्षेत्रपाल, धरणेन्द्र और पद्मावतीकी पूजा की जाती है। और भी ऐसी अनेक लोकरूढ़ियाँ हैं जिन्होंने धर्मका रूप ले लिया है। किन्तु ये लोकरूढ़ियाँ समीचीन धर्म संज्ञाको नहीं प्राप्त हो सकतीं, क्योंकि न तो इनसे किसी भी जीवधारीका अन्तर्मल धुलता है और न ही ये उत्तम सुखके प्राप्त करानेमें हेतु हैं। तभी तो इनको जैनधर्ममें लोकमूढ़ता शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है। इनको लक्ष्यकर स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्डमें कहते हैं—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

अर्थात् नदीमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, बालू और पत्थरों का ढेर करना, पहाड़से गिरकर प्राणोत्सर्ग करना और अग्निमें कूदकर प्राण दे देना ये सब लोकमूढ़ताएं हैं। इन्हें या इसी प्रकारकी प्रचलित अन्य क्रियाओंको धर्म माननेवाला अज्ञानी है।

यहाँ हमारा किसी एक धर्मकी निन्दा करना और दूसरे धर्मकी प्रशंसा करना प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरणको इस दृष्टिकोणसे देखना भी नहीं चाहिए। धर्मकी मीमांसा करते हुए वह क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, इतना बतलाना मात्र इसका प्रयोजन है। अज्ञान मनुष्यकी दासता है और सम्यग्ज्ञान उसकी स्वतन्त्रता इस तथ्यको हृदयङ्गम करनेके बाद ही यहाँ पर धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जा रहा है उसकी महत्ता समझमें आ सकती है। लोकमें अज्ञानमूलक अनेक मान्यताएँ और क्रियाकाण्ड धर्मके नाम पर प्रचलित हैं, परन्तु वे सब मनुष्यकी दासता की ही निसानी हैं। वास्तवमें उन्हें धर्म मानना धर्मका उपहास करनेके समान है। धर्म यदि लोकोत्तर पदार्थ है और प्रत्येक प्राणीका

हित करनेवाला है तो वह किसीको अज्ञानी बनाये रखनेमें सहायक नहीं हो सकता।

जैनधर्मकी व्याख्या—

द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें पाँच द्रव्य जड़ होकर भी स्वयं प्रकाशमान और स्वप्रतिष्ठ हैं। इनका अन्य द्रव्योंके साथ संयोग होनेपर भी वे अपने स्वरूपमें ही निमग्न रहते हैं। किन्तु चेतन होकर भी जीव द्रव्यकी स्थिति इससे कुछ भिन्न है। यद्यपि अन्य द्रव्योंके समान जीव द्रव्य भी स्वयं प्रकाशमान और स्वप्रतिष्ठ है। तथा अन्य द्रव्यका संयोग होने पर वह भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता। एक द्रव्य फिर चाहे वह जड़ हो या चेतन अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य द्रव्यरूप कभी नहीं होता[1]। जीव द्रव्य इसका अपवाद नहीं हो सकता। न्यायका सिद्धान्त है कि सतका विनाश और असतका उत्पाद नहीं होता,[2] इस कथनका भी यही आशय है। यदि विवक्षित द्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य द्रव्यरूप परिणमन करने लगे तो वह सतका विनाश और असतका उत्पाद ही माना जायगा। किन्तु ऐसा होना त्रिकालमें सम्भव नहीं है, इसलिए जीवद्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर कभी भी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता यह तो स्पष्ट है। तथापि इसका अनादिकालसे पुद्गल द्रव्य (कर्म और नोकर्म) के साथ संयोग होनेसे इसने उस संयुक्त अवस्थाको ही अपना स्वरूप मान लिया है। जो इसका ज्ञान और दर्शन स्वरूप आन्तर जीवन है उसको तो यह भूला हुआ है और संसारमें संयुक्त अवस्था होनेके कारण अज्ञानवश उसमें ही इसकी स्वरूपबुद्धि हो रही

---

१ भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।'

पञ्चास्तिकाय गा० १५।

२ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

भगवद्गीता अ० २ श्लोक १५।

है। इस कारण यह लोकमें विरुद्धताको लिए हुए अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता रहता है। कभी शरीर और धनादिके हानि-लाभमें अपना हानि-लाभ मानता है। कभी लोकमान्य कुलमें उत्पन्न होने पर अपनेको कुलीन और कभी लोकनिन्दित कुलमें उत्पन्न होकर अपनेको अकुलीन अनुभव करता है। कभी मनुष्यादि पर्यायका अन्त होनेपर अपना मरण मानता है और कभी नूतन पर्याय मिलने पर अपनी उत्पत्ति मानता है। तात्पर्य यह है कि कर्मके संयोगसे जितने भी खेल होते हैं उन सबको यह अपना स्वरूप ही समझता है। जीव और पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुई इन विविध अवस्थाओंमें यह इतना भूला हुआ है जिससे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी पहिचान कर उसे प्राप्त करनेकी ओर इसका एक क्षण के लिए भी ध्यान नहीं जाता। किन्तु जीवकी इस शोचनीय अवस्थासे उसीकी विडम्बना हो रही है। इससे निस्तार पानेका यदि कोई उपाय है तो वह यही हो सकता है कि यह जीव सर्व प्रथम योग्य परीक्षा द्वारा अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी पहिचान करे। इसके बाद बाधक कारणोंको दूर कर उसे प्राप्त करनेके उद्यममें लग जाय। जीवका यह कर्तव्य ही उसका धर्म है। धर्म और अधर्मकी व्याख्या करते हुए स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्डमें कहते हैं—

> सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
> यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अर्थात् धर्मके ईश्वर तीर्थङ्करोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है। तथा इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्या-ज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण हैं।

जो श्रद्धा, ज्ञान और आचार जीवकी स्वतन्त्रता प्राप्तिमें प्रयोजक हैं वे सम्यक् हैं और जो श्रद्धा, ज्ञान और आचार जीवकी परतन्त्रतामें प्रयोजक हैं वे मिथ्या हैं। इनके सम्यक् और मिथ्या होनेका यही विवेक है। तथा इसी आधार पर धर्म और अधर्मकी पहिचान की जाती

है। धर्मके इस स्वरूपको आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनासारमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

इस गाथामें मुख्य रूपसे तीन शब्द आये हैं चारित्र, धर्म और सम। संसारी जीवकी स्वातिरिक्त शरीर आदिमें और शरीर आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले भावोंमें 'अहम्' बुद्धि हो रही है। इसके क्षुभित होनेका यही कारण है। जितनी मात्रामें इसके क्षोभ पाया जाता है यह अपने सम परिणामसे च्युत होकर उतनी मात्रामें दुखी होता है। बाह्य धन-विभवादि और स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि सुखके कारण हैं और इनका अभाव दुखका कारण है ऐसा मानना भ्रम है, क्योंकि अन्तरङ्गमें मोह और क्षोभके होने पर ही इनके सद्भावको उपचारसे सुख और दुखका कारण कहा जाता है। वास्तवमें दुखका कारण तो आत्माका मोह और क्षोभरूप आत्मपरिणाम है और सुखका कारण इनके त्यागरूप सम परिणाम है, इसलिए आत्माका एकमात्र सम परिणाम ही धर्म है और धर्म होनेसे वही उपादेय तथा आचरणीय है। यहाँ पर हमने क्षोभका कारण मोहको बतलाया है। पर उसका आशय इतना ही है कि मोह और क्षोभ इन दोनोंमें मोहकी मुख्यता है। मोहका अभाव होने पर क्षोभका अभाव होनेमें देर नहीं लगती। मोहभावके सद्भावमें अपनेसे सर्वथा भिन्न पदार्थोंमें अभेद—अद्वैत बुद्धि होती है और क्षोभभावके सद्भावमें ममकार बुद्धि होती है। चाहे 'अहम्' बुद्धि हो या 'ममकार' बुद्धि, हैं ये दोनों संसारको बढ़ानेवाली ही। वे महापुरुष धन्य हैं जिन्होंने इन पर विजय प्राप्त कर संसारके सामने धर्मका आदर्श उपस्थित किया है। जैनधर्म एकमात्र इसी धर्मका प्रतिनिधित्व करता है। उसे आत्मधर्म कहनेका यही कारण है। 'जिन' उस आत्माका नाम है जिसने मोह और क्षोभ पर विजय प्राप्त कर ली है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित धर्मको जैनधर्म या आत्मधर्म कहना उचित

ही है। जैनधर्मकी यह सामान्य व्याख्या है। इसके अन्तर्गत वे सब व्याख्याएँ आ जाती हैं जो जैनसाहित्यमें यत्र-तत्र प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर की गई हैं।

सम्यग्दर्शन धर्म और उसका अधिकारी—

यहाँ तक हमने जैनधर्मके मूल स्वरूपका विचार किया। यहाँ उसके एक अङ्ग सम्यग्दर्शनका विचार करना है और यह देखना है कि जैनधर्मका यह अंश किस गतिमें किस मर्यादा तक हो सकता है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि धर्मके अवयव तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। आत्माकी स्वतन्त्रता और मोक्ष इन दोनोंका अर्थ एक है, इसलिए इन तीनोंको मोक्षमार्ग भी कहते हैं,[1] क्योंकि इन तीनोंका आश्रय करनेसे आत्माको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करनेमें पूरी सहायता मिलती है। यदि यह कहा जाय कि आत्मस्वरूप इन तीनोंकी प्राप्ति ही परिपूर्ण मोक्ष है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इनमेंसे सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान उसका अविनाभावी है। सच्चे देव, गुरु और शास्त्र तथा जीवादि सात तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धा होना यह सम्यग्दर्शनका बाह्य रूप है। तथा स्व और परका भेदविज्ञान होकर मिथ्या श्रद्धाका अन्त होना यह उसका आभ्यन्तर रूप है। वह किसके उत्पन्न होता है इस प्रश्न का उत्तर देते हुए षट्खण्डागममें कहा है कि वह पञ्चेन्द्रिय संज्ञी और पर्याप्त जीवके ही उत्पन्न हो सकता है, अन्यके नहीं। षट्खण्डागमका वह वचन इस प्रकार है—

सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो[2]।

यहाँ पर हमने सूत्रमें आये हुए 'मिच्छाइट्ठी' पदका अर्थ छोड़ दिया

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू० १।

२. जीवट्ठाण सम्मत्तुपत्तिचूलिया सूत्र ४।

है, क्योंकि यह प्रकरण प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिका है। इसको उत्पन्न करनेवाले जीवका सूत्रोक्त अन्य विशेषताओंके साथ मिथ्यादृष्टि होना आवश्यक है। किन्तु अन्य किसी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेवाले जीवका मिथ्यादृष्टि होना आवश्यक नहीं है। इन विशेषताओंसे युक्त किस जीवके यह सम्यग्दर्शन होता है इस प्रश्नका उत्तर देते हुए इसी सूत्रकी टीकामें कहा है कि वह देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्य इनमेंसे किसी भी जीवके हो सकता है। टीका वचन इस प्रकार है—

सो देवो वा णेरइओ वा तिरिक्खो वा मणुसो वा।

इस प्रकार इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यसे सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिके जीवके उत्पन्न हो सकता है। यह नहीं है कि नरककी अपेक्षा प्रथम नरकका नारकी ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकता है और द्वितीयादि नरकोंका नारकी नहीं उत्पन्न कर सकता। तिर्यञ्चोंमें भी कोई बन्धन नहीं है। जो गधा अपनी सेवावृत्ति और सहनशीलताके कारण भारतीय समाजमें अछूत माना जाता है वह भी इसे उत्पन्न कर सकता है और जो सिंह दूसरेका वध करके अपनी उदरपूर्ति करता है वह भी इसे उत्पन्न कर सकता है। चूहा प्रतिदिन जिनमन्दिरमें वेदीके ऊपर चढ़कर अपने कारनामोंसे वेदी और जिनबिम्बको अपवित्र करता रहता है। तथा बिल्ली उसी मन्दिरमें प्रवेशकर चूहेका वध करनेसे नहीं चूकती। इस प्रकार जो निकृष्ट योनिमें उत्पन्न होकर भी ऐसे जघन्य कर्मोंमें लगे रहते हैं वे भी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर सकते हैं। धर्मके माहात्म्यको दिखलाते हुए स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्डकमें कहते हैं—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९॥

अर्थात् धर्मके माहात्म्यसे कुत्ता भी मरकर देव हो जाता है और पापके कारण देव भी मरकर कुत्ता हो जाता है। धर्मके माहात्म्यसे जीव-

धारियोंको कोई ऐसी अनिवर्चनीय सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसकी कल्पना करना शक्तिके बाहर है।

सब देव तो सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर ही सकते हैं। किन्तु इस अपेक्षासे मनुष्योंकी स्थिति तिर्यञ्चोंसे भिन्न नहीं है। जिसको भारतवर्षमें उच्चकुली कहते हैं वह तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अधिकारी है ही। किन्तु जो चाण्डाल जैसे निकृष्ट कर्मसे अपनी आजीविका कर रहा है वह भी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर सकता है। उसका तथाकथित अछूतपन इसमें बाधा नहीं डाल सकता। स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्डमें कहते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थात् जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है वह चाण्डालके शरीरसे उत्पन्न होकर भी देव अर्थात् ब्राह्मण या उत्कृष्ट है ऐसा जिनदेव कहते हैं। उसकी दशा उस अंगारेके समान है जो भस्मसे आच्छादित होकर भी भीतरी तेजसे प्रकाशमान है।

धर्ममें जाति और कुलको स्थान नहीं—

मनुष्य जातिमें चाण्डालसे निकृष्ट कर्म अन्य किसी जातिका नहीं होता। इस कर्मको करनेवाला व्यक्ति भी जब सम्यग्दर्शन जैसे लोकोत्तर धर्मका अधिकारी हो सकता है तब अन्यको इसके अधिकारी न माननेकी चरचा करना कैसे सम्भव हो सकता है। वास्तवमें जैनधर्ममें ज्ञानकी विपुलता, लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा, इक्ष्वाकु आदि कुल, ब्राह्मण आदि जाति, शारीरिक बल, धनादि सम्पत्ति, तप और शरीर इनका महत्व नहीं है। इस धर्ममें दीक्षित होनेवाला तो ज्ञानादिजन्य आठ मदोंको त्याग कर ही उसकी दीक्षाका अधिकारी होता है। इतना सब होते हुए भी जो जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहङ्कार कर दूसरे धर्मात्माओं का

अनादर करता है वह अपने धर्मका ही अनादर करता है।[1] उसके नीच गोत्रकर्मका बन्ध होता है।[2] जाति और कुलका तो अहङ्कार इसलिए भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये काल्पनिक है।[3] लोकमें जन्मके बाद प्रत्येक व्यक्तिके नाम रखनेकी परिपाटी है। इससे विवक्षित अर्थका बोध होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। चार निक्षेपोंमें नामनिक्षेप माननेका यही कारण है। किन्तु इतने मात्रसे नामको वास्तविक नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार माताके उदरसे शरीरकी उत्पत्ति होती है उस प्रकार उसके उदरसे नामकी उत्पत्ति नहीं होती। यह तो उसके पृथक् अस्तित्वका बोध करानेके लिए माता पिता आदि बन्धु वर्गके द्वारा रखा गया संकेतमात्र है। जाति और कुलके अस्तित्वकी लगभग यही स्थिति है। ब्राह्मण आदि जाति और इक्ष्वाकु आदि कुल न तो जीवरूप हैं, न शरीररूप ही और न दोनों रूप ही। वास्तवमें ये तो प्रयोजन विशेषसे रखे गये संकेतमात्र हैं, अतः धर्मके धारण करनेमें न तो ये बाधक हैं और न साधक ही। हाँ यदि इनका अहङ्कार किया जाता है तो अवश्य ही इनका अहङ्कार करनेवाला मनुष्य धर्मधारण करनेका पात्र नहीं होता, क्योंकि जातिका सम्बन्ध आत्मासे न होकर शरीर (आजीविका) से है और शरीर भवका मूल कारण है, इसलिए जो धर्माचरण करते हुए जातिका आग्रह करते हैं वे संसारसे मुक्त नहीं होते[4]। धर्म आत्माका स्वभाव है। उसका सम्बन्ध जाति और कुलसे नहीं है। आर्य हो या म्लेच्छ, ब्राह्मण हो या शूद्र, भारतवासी हो या भारतवर्षसे बाहरका रहनेवाला, वह हूण, शक और यवन ही क्यों न हो, धर्मको स्वीकार

---

१. रत्नकरण्ड० श्लोक० २६।

२. अनगारधर्मामृत अ०। श्लोक ८८ की टीकामें उद्धृत।

३. धवला टीका कर्मप्रकृति अनुयोगद्वार।

४. समाधितन्त्र श्लो० ८८।

करना और उसपर अमल कर आत्मोन्नति करना [illegible] अपनी आन्तरिक तैयारी (योग्यता) और अधिकारकी बात है। स्वयं तीर्थङ्कर जिन्होंने जैनधर्मका उपदेश देकर समय समय पर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चलाई वे भी किसी मनुष्यके इस प्राकृतिक अधिकारको छीननेकी सामर्थ्य नहीं रखते।

गतिके अनुसार धर्मधारण करनेकी योग्यता—

जैनधर्ममें किस गतिका जीव कितनी मात्रामें धर्मको धारण कर सकता है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। वह ऊपरसे लादा गया बन्धन नहीं है। वस्तुतः उस गतिमें उत्पन्न हुए जीवोंकी गतिसम्बन्धी योग्यता और प्राकृतिक नियमोंको (मनुष्य निर्मित नियमोंको नहीं) जानकर ही जिस गतिमें जितनी मात्रामें धर्मका प्रकाश संभव है उस गतिमें वह उतनी मात्रामें कहा गया है। उदाहरणार्थ—देवगतिमें सब देवोंमें अपने अपने क्षेत्र और आयुके अनुसार भोजन, श्वासोच्छ्वास और कामोपभोगका कालनियम है। कोई देव अनाहार व्रतसे प्रतिज्ञात होकर एकादि बारके आहारका त्याग करना चाहे या प्राणायामके नियमानुसार विवक्षित समयमें श्वासोच्छ्वास न लेना चाहे या ब्रह्मचर्यव्रतसे प्रतिज्ञात होकर कामोपभोगका वर्जन करना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता। अधिक मात्रामें आहार लेकर शरीरको पुष्ट कर ले या कुछ काल तक आहारका त्याग कर उसे कृश कर डाले यह भी वहाँ पर सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भोगोपभोगके जो साधन वहाँ पर उपलब्ध हैं उनमें घटाबढ़ी करना भी उसके बसकी बात नहीं है। वह विक्रिया द्वारा छोटे-बड़े उत्तरशरीरको बना सकता है और आमोद-प्रमोदके या भयोत्पादक नानाप्रकारके साधन भी उत्पन्न कर सकता है पर यह सब खेल विक्रियामें ही होता है। वहाँ प्राप्त हुए मूल शरीर और प्राकृतिक जीवनमें नहीं। वहाँ प्राप्त हुए प्राकृतिक साधनोंमें भी घटाबढ़ी नहीं होती। यही कारण है कि देवोंमें आन्तरिक आचारधर्मके प्राप्त करनेकी

योग्यता न होनेसे वहाँ उसका निषेध किया है। भोगभूमि और नरकगतिकी स्थिति देवगतिके ही समान है।

तिर्यञ्चगतिमें आहार पानीका यथेच्छ ग्रहण और त्याग दोनों सम्भव है किन्तु वे हिंसादि विकारोंके त्यागकी जीवनमें स्थूल रेखा ही खींच सकते हैं। तिर्यञ्च पर्यायमें इससे आगे जाना उन्हें भी सम्भव नहीं है, इसलिए उनमें सम्यग्दर्शनके साथ आंशिक आचारधर्मके प्राप्त कर सकनेकी योग्यताका विधान किया है।

किन्तु मनुष्यगतिमें मनुष्योंकी स्थिति अन्य गतियोंसे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि न्यूनाधिक मात्रामें अन्यत्र जो बाधा दिखलाई देती है वह इनमें नहीं देखी जाती। मनुष्यका मार्ग चारों ओरसे खुला हुआ है। उसमें क्षेत्र, शरीर, जाति और कुल ये बाधक नहीं हो सकते। म्लेच्छक्षेत्र, जाति और कुलका ही मनुष्य क्यों न हो, न तो उसमें किसी प्रकारकी शारीरिक कमी दिखलाई देती है और न आध्यात्मिक कमी ही दिखलाई देती है। वह तीर्थङ्करोंके द्वारा दिये गये उपदेशको सुनकर सम्यग्दर्शनका अधिकारी हो सकता है, अहिंसादि देशव्रतों और महाव्रतोंको पूर्णरूपसे जीवनमें उतार सकता है, वस्त्रादिका त्याग कर नग्न रह सकता है, खड़े होकर दिनमें एक बार लिये हुए भोजन पर निर्वाह कर सकता है, स्वयं अपने हाथसे केशोंका उत्पाटन कर सकता है; वन, नदीतट, श्मसान और गिरिगुफामें निवास कर सकता है, अन्य प्राणियोंके द्वारा उपसर्ग किये जाने पर उनको सहन कर सकता है तथा ध्यानादि उपायों द्वारा आत्माकी साधना कर सकता है। इसके लिए न तो कर्मभूमिके किसी विवक्षित क्षेत्रमें उत्पन्न होना आवश्यक है और न किसी विवक्षित जाति और कुलमें ही उत्पन्न होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—किसी तथाकथित शूद्रको सद्गुरुका समागम मिलने पर उपदेश सुनकर उसका भाव यदि वीतराग जिन मुद्राको धारण करनेका होता है तो उसके शरीर और जीवनमें ऐसी कोई प्राकृतिक बाधा दिखलाई नहीं देती जो उसे ऐसा करनेसे रोकती

हो। वस्तुतः जैनधर्ममें वही प्राणी धर्म धारण करनेके लिए अपात्र माना गया है जिसके जीवनमें उसे धारण करनेकी योग्यता नहीं होती। यथा—असंज्ञी जीव धर्म धारण नहीं कर सकते, क्योंकि मन न होनेसे उनमें आत्मासम्बन्धी हिताहितके विचार करनेकी योग्यता नहीं होती। संज्ञियोंमें जो अपर्याप्त हैं, अर्थात् जिनके शरीर, इन्द्रियाँ और मनके निर्माण करने लायक पूरी योग्यता नहीं आई है वे भी इसी कोटिके माने गये हैं। पर्याप्तकोंमें भी शरीर, इन्द्रियाँ और मनका पूरा विकाश होकर जब तक उनमें अपने आत्माके अस्तित्वको स्वतन्त्ररूपसे जानने और समझने की योग्यता नहीं आती तबतक वे भी धर्मको धारण करनेके लिए पात्र नहीं माने गये हैं। इनके सिवा शेष सब संसारी जीव अपनी-अपनी गति और कालके अनुसार धर्म धारण करनेके लिए पात्र हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जैन धर्ममें किसीके साथ पक्षपात नहीं किया गया है। यह इसीसे स्पष्ट है कि सम्मूर्च्छन तिर्यञ्चोंमें यह योग्यता जन्मसे अन्तर्मुहूर्त बाद ही[1] और गर्भज तिर्यञ्चोंमें गर्भके दो महीनोंके बाद ही स्वीकार कर ली गई है[2] जब कि मनुष्योंमें ऐसी योग्यता आनेके लिए लगभग आठ वर्ष स्वीकार किये गये हैं।[3] क्यों? यह इसलिए नहीं कि तिर्यञ्च मनुष्योंसे बड़े हैं, बल्कि इसलिए कि तिर्यञ्चको इस प्रकारकी योग्यताको जन्म देनेके लिए उतना समय नहीं लगता जितना मनुष्यको लगता है।

एक बात और है जिसका सम्बन्ध चारित्रसे है। जैनधर्ममें चारित्र स्वावलम्बनका पर्यायवाची माना गया है। यहाँ स्वावलम्बनसे हमारा तात्पर्य मात्र आत्माके अवलम्बनसे है। इस प्रकारका पूर्ण स्वावलम्बन तो साधु जीवनमें ध्यान अवस्थाके होनेपर ही होता है। इसके

---

१. जीवस्थान कालानुयोगद्वार सूत्र ५६ धवला टीका। २. जीवस्थान कालानुयोगद्वार सूत्र ६४ धवला टीका। ३. जीवस्थान कालानुयोगद्वार सूत्र ८२ धवला टीका।

पूर्व वह बुद्धिपूर्वक स्वीकार किये गये सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करता है। शरीर भी एक परिग्रह है। इतना ही क्यों? जो कर्म आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हुए हैं और उनके निमित्तसे जो रागादि भाव उत्पन्न होते रहते हैं वे भी परिग्रह हैं। किन्तु ये शरीरादि परिग्रह ऐसे हैं जिनका त्याग केवल संकल्प करनेसे नहीं हो सकता। साधु जीवनकी चरितार्थता ही इसीमें है कि वह रागादि भावोंके परवश न होकर उत्तरोत्तर ऐसा अभ्यास करता रहे जिससे उसका अन्तरङ्ग परिग्रह भी कम होनेकी दिशामें प्रगति करता हुआ अन्तमें निःशेष हो जाय। इसलिए साधु जीवनकी प्रारम्भिक मर्यादाका निर्देश करते हुए आगममें यह कहा गया है कि जिस परिग्रहको वह जीव बुद्धिपूर्वक त्याग सकता है और जिसका साधुजीवनमें रञ्चमात्र भी उपयोग नहीं है उसका त्याग करनेपर ही साधु जीवन प्रारम्भ होता है। जो नहीं त्याग सकता वह गृहस्थ अवस्थामें रहता हुआ भी मोक्षमार्गका अभ्यास कर सकता है। किन्तु जबतक यह जीव बुद्धिपूर्वक स्वीकार किये गये परिग्रहका पूर्णरूपसे त्याग नहीं करता तब तक उसके अन्तरङ्ग परिग्रहका वियुक्त होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस गतिमें धर्मकी जो सीमा निश्चित की गई है वह उस उस गतिकी योग्यता और प्राकृतिक नियमोंके आधार पर ही की गई है, रागी जीवोंके द्वारा बनाये गये कृत्रिम नियमोंके आधार पर नहीं।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साधन—

सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन क्या हैं इनका जैन-साहित्यमें विस्तारके साथ विचार किया है। बाह्य-साधनोंका निर्देश करते हुए वहाँ पर बतलाया है[1] कि नरकमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न

---

१. जीवस्थान गति-आगतिचूलिका सूत्र ६ से लेकर। सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ७।

करनेके मुख्य साधन तीन हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव। भवनत्रिक और कल्पोपपन्न देव प्रथमादि तीन नरक तक ही जाते हैं। कोई कुतूहलवश जाते हैं, कोई अपने पूर्व भवके वैरका बदला लेने जाते हैं और कोई अनुरागवश जाते हैं। उनमेंसे बहुतसे देव नरकोंके दारुण दुखको देख कर दयार्द्र हो उठते हैं और उन्हें धर्मका उपदेश देने लगते हैं। इसलिये तीसरे नरक तक सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेके ये तीनों साधन पाये जाते हैं। किन्तु चौथे आदि नरकोंमें देवोंका जाना सम्भव न होनेसे वहाँ जातिस्मरण और वेदनाभिभव मात्र ये दो साधन उपलब्ध होते हैं। यहाँ कृत्रिम या अकृत्रिम जिन चैत्यालय न होनेसे तथा तीर्थङ्करोंके गर्भादि कल्याणक न होनेसे जिन-बिम्बदर्शन या जिनमहिमदर्शन नामक साधन नहीं उपलब्ध होता।

तिर्यञ्चोंमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके ये तीन साधन हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन। यह तो स्पष्ट है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चोंका वास मध्यलोकमें है। उनमेंसे जो तिर्यञ्च ढाई द्वीपमें वास करते हैं उनमेंसे किन्हींको साक्षात् तीर्थङ्करोंके मुखारविन्दसे, किन्हींको गुरुओंके मुखसे और किन्हींको अन्य मनुष्यों या देवों के मुखसे धर्मोपदेश मिलना सम्भव है। जैन-साहित्यमें ऐसे अनेक कथानक आये हैं जिनमें अनेक तिर्यञ्चोंके धर्मोपदेश सुन कर सम्यक्त्व लाभकी घटनाओंका उल्लेख है। ढाई द्वीपके बाहर ऋद्धिसम्पन्न मनुष्योंका भी गमन नहीं होता, इसलिए वहाँ पर निवास करनेवाले तिर्यञ्चोंको एकमात्र देवोंके निमित्तसे ही धर्मोपदेश मिल सकता है। इस प्रकार इन तिर्यञ्चोंमेंसे किन्हींको जातिस्मरणसे और किन्हींको धर्मश्रवणसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है। साथ ही ऐसे भी बहुतसे तिर्यञ्च हैं जिन्हें जिनबिम्बदर्शनसे भी इसकी उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है, क्योंकि जिन तिर्यञ्चोंको पूर्वभवका संस्कार बना हुआ है या वर्तमान समयमें धर्मोपदेशका लाभ हुआ है उनके कृत्रिम या अकृत्रिम जिन चैत्यालयमें प्रवेश कर जिन प्रतिमाके

दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना सम्भव है, अन्यथा जिनबिम्ब-दर्शन तिर्यञ्चोंमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता।

तिर्यञ्चोंके समान मनुष्योंमें भी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके ये ही तीन साधन पाये जाते हैं। यद्यपि विद्याधर आदि बहुतसे मनुष्य जिनमहिमाको देखकर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न करते हैं, इसलिए इनमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके चार कारण कहे जा सकते हैं परन्तु इस साधनका जिनबिम्ब-दर्शनमें अन्तर्भाव हो जानेसे इसका अलगसे निर्देश नहीं किया है। इसी प्रकार लब्धिसम्पन्न ऋषिदर्शन नामक साधनको भी जिनबिम्बदर्शनमें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिए।

देवोंमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके चार साधन होते हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमदर्शन और देवर्धिदर्शन। सहस्रारकल्प तक ये चारों ही साधन होते हैं। किन्तु आगे देवर्धिदर्शन साधन नहीं होता और नौ ग्रैवेयकके देवोंका मध्यलोक आदिमें गमन सम्भव न होनेसे जिन-महिमदर्शन नामका साधन भी नहीं होता। यह स्मरण रहे कि यहाँ पर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके जो साधन बतलाये गये हैं उनमें जिनबिम्बदर्शन भी एक है और इस साधनके आलम्बनसे तिर्यञ्चों तकके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती हुई बतलाई गई है। इससे स्पष्ट है कि यह साधन उन मनुष्योंके लिए भी सुलभ है जिन्हें वैदिक कालसे लेकर अबतक सामाजिक दृष्टिसे हीन माना गया है। फिर भी यह प्रश्न विशेष विचारके योग्य होनेसे अगले प्रकरणमें इस पर स्वतन्त्ररूपसे विचार किया जाता है।

इन साधनोंका अधिकारी मनुष्यमात्र—

जैनसाहित्यमें बतलाया है कि तीर्थङ्कर जिनको केवलज्ञान होने पर उनकी धर्मसभा जिसे समवसरण कहते हैं बारह भागों (कोष्ठों) में विभाजित की जाती है। उनमें क्रमसे मुनि, कल्पवासियोंकी देवाङ्गनाएँ,

मनुष्य स्त्रियाँ, ज्योतिषियोंकी देवियाँ, व्यन्तरोंकी देवाङ्गनाएँ, भवनवासियोंकी देवाङ्गनाएँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु बैठकर धर्मोपदेश सुनते हैं।[1] समवसरणमें कौन जानेका अधिकारी है और कौन जानेका अधिकारी नहीं है इसका विचार योग्यताके आधारसे किया गया है। एकेन्द्रियोंसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक जितने जीवधारी प्राणी हैं वे मन रहित होनेसे धर्मोपदेश सुननेकी योग्यता ही नहीं रखते, अतएव एक तो ये नहीं जाते। अभव्य संज्ञी भी हों तो भी उनमें स्वभावसे धर्मको ग्रहण करनेकी पात्रता नहीं होती, अतएव एक ये नहीं जाते। यद्यपि जैनसाहित्यमें ऐसे अभव्योंका भी उल्लेख है जो मुनिव्रत धारण कर जीवन भर उसका पालन करते हुए मरकर नौग्रैवयक तकके देवोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि धर्मोपदेश तो अभव्य जीव भी सुनते हैं अतएव उनकी समवसरणमें अनुपस्थितिका निर्देश करना ठीक नहीं है। परन्तु जब हम इसके भीतर निहित तत्त्व पर विचार करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अभव्य जीव भले ही मुनिव्रत अङ्गीकार करते हों। परन्तु ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि लौकिक ही रहती है पारमार्थिक नहीं। जिसकी पूर्ति अन्य साधुओंके बाह्य आचार और लोकमान्यता आदिको देखकर भी हो जाती है। अतएव सारांशरूपमें यही फलित होता है कि असंज्ञी जीवोंके समान अभव्य जीव भी समवसरणमें नहीं जाते। इसी प्रकार जो विपरीतमार्गी हैं, अस्थिरचित्तवाले हैं और लोक तथा परलोकके विषयमें संशयालु होनेसे धर्मकी जिज्ञासा रहित हैं एक वे नहीं जाते। इनके सिवा भवनत्रिक और कल्पोपपन्न देव तथा जिस प्रदेशमें धर्मसभा हो रही है, मुख्यरूपसे उस प्रदेशके आर्य-अनार्य सभी प्रकारके मनुष्य और पशु धर्मसभामें

---

१. महापुराण पर्व २३ श्लो० १९३।

उपस्थित होकर धर्मोपदेश सुनते हैं।[1] इस धर्मसभामें मनुष्योंमेंसे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही उपस्थित हो सकते हों अन्य मनुष्य नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्ममें जो योग्यता ब्राह्मणादि वर्णवालोंकी मानी गई है वही योग्यता अन्य गर्भज मनुष्योंमें भी होती है, अन्यथा नीचगोत्री मनुष्य भी केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें क्षायिकसम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हैं[2] और वे देशचारित्र तथा सकलचारित्रको भी धारण करते हैं इस आशयका आगम वचन नहीं बन सकता है। वास्तवमें समवसरण एक धर्मसभा है। वहाँ मात्र मोक्षमार्गका उपदेश दिया जाता है, क्योंकि यह इसीसे स्पष्ट है कि आदिनाथ जिनने सराग अवस्थामें ही समाजव्यवस्थाके साथ आजीविकाके उपाय बतलाये थे, केवलज्ञान होने पर नहीं।[3] इस अवस्थामें यही मानना उचित है कि अन्य वर्णवालों और म्लेच्छोंके समान शूद्र वर्णके मनुष्य भी समवसरण और जिन मन्दिरमें जाकर धर्मलाभ लेनेके अधिकारी हैं।

अब थोड़ा आचारधर्मकी दृष्टिसे विचार कीजिये। साधारणतः यह नियम है कि मुनिधर्मको वही मनुष्य स्वीकार करता है जिसके चित्तमें संसार, देह और भोगोंके प्रति भीतरसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस स्थितिमें वह अपने इस भावको अन्य कुटुम्बी इष्ट-मित्रोंके प्रति व्यक्त कर उनकी अनुज्ञापूर्वक वनका मार्ग स्वीकार करता है और वहाँ दीक्षकाचार्योंकी कुलपरम्परासे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, अनुभवी और प्रशममति किसी आचार्यके सानिध्यमें अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागके लिए उद्यत हो बाह्य परिग्रहके त्यागपूर्वक मुनिधर्मको अङ्गीकार करता है। किन्तु इतना सब

---

१. तिलोयपण्णत्ति श्लो० ९६२। २. जीवस्थान सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका सू० ११ गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ३२६। ३. महापुराण प० २४ श्लो० ७६।

कुछ करने पर भी उस समय उसके मुनिधर्मके अनुरूप अन्तरङ्ग परिणाम हो ही जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है। किसीके बाह्य परिग्रहके त्यागके साथ ही मुनिपदके योग्य परिणाम हो जाते हैं, किसीके कालान्तरमें होते हैं और किसीके जीवन पर्यन्त नहीं होते। चरणानुयोगकी पद्धतिसे वह उस समयसे मुनि माना जाता है, क्योंकि चरणानुयोगमें मुख्यतासे बाह्य आचारका विचार किया गया है। पर करणानुयोगकी पद्धतिसे भावमुनि होना केवल दीक्षाके अधीन नहीं है। मुनिपदके योग्य परिणाम बाह्य परिग्रहका त्याग किये बिना नहीं होते यह तो है पर बाह्य परिग्रहका त्याग करने पर वे हो ही जाते हैं ऐसा नहीं है। मुनिधर्मको अङ्गीकार करनेका यह उत्सर्ग मार्ग है।[1] इसके अपवाद अनेक हैं।

किन्तु गृहस्थधर्मको अङ्गीकार करनेकी पद्धति इससे कुछ भिन्न है, क्योंकि इसे केवल मनुष्य ही स्वीकार नहीं करते, तिर्यञ्च भी स्वीकार करते हैं और व्रतोंको स्वीकार करनेवाले सब तिर्यञ्चोंका किसी गुरुके समक्ष उपस्थित होकर दीक्षा लेना सम्भव नहीं है। मनुष्योंमें भी देशविरत गृहस्थके जीवनसे अन्य गृहस्थके जीवनमें ऊपरी बहुत ही कम अन्तर होता है। सांसारिक प्रपञ्चमें दोनों ही उलझे हुए होते हैं। केवल देशविरत गृहस्थका जीवन सब कार्योंमें मर्यादित होने लगता है और अन्य गृहस्थोंका जीवन मर्यादित नहीं होता। ऊपरसे देखनेमें यह अन्तर बहुत ही कम दिखलाई देता है पर आन्तरिक परिणामोंमें इसका प्रभाव सीमातीत होता है। देशविरत गृहस्थको अन्य प्राणियोंके साथ व्यवहार करनेमें सीमा होती है, वचन बोलनेमें सीमा होती है, द्रव्यके स्वीकार करनेमें सीमा होती है, स्त्रीके स्वीकार करनेमें सीमा होती है और धनादिके सञ्चय करने तथा भोगोपभोगमें सीमा होती है। किन्तु अन्य गृहस्थके जीवनमें ऐसी सीमा

---

१. प्रवचनसार चारित्र अधिकार गाथा २-३।

परिलक्षित नहीं होती। ऐसी सीमा बाँधनेके लिए उसे अन्य किसीके पास जाकर प्रतिज्ञात होनेकी आवश्यकता नहीं है। मनमें संकल्प करके उसका निर्वाह करते रहनेसे भी काम चल सकता है। यदि कोई गृहस्थ किसी गुरुके पास जाकर प्रतिज्ञात होता है तो भी कोई हानि नहीं है। उससे लाभ ही है। पर एकमात्र वही मार्ग है ऐसा मानना उचित नहीं है, अन्यथा तिर्यञ्चोंमें देशविरतका स्वीकार करना नहीं बन सकेगा। यह गृहस्थधर्म और मुनिधर्मको स्वीकार करनेकी व्यवस्था है। इसपर दृष्टि डालनेसे भी विदित होता है कि इसमें वर्ण-व्यवस्थाके लिए कोई स्थान नहीं है। जिस धर्ममें सांसारिक प्रपञ्चमात्र हेय माना गया है उसमें आजीविकाके आधारसे धर्मको स्वीकार करने और न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वर्णव्यवस्था आजीविकाका मार्ग है और धर्म मोक्षका मार्ग है। इन दोनोंका क्षेत्र ही जब अलग-अलग है तब एकके आधारसे दूसरेका विचार करना उचित कैसे कहा जा सकता है।

माना कि आचार्य जिनसेनने गर्भान्वय आदि क्रियाओं और दीक्षान्वय आदि क्रियाओंका निर्देश करते हुए उनका उपदेश मुख्यतया ब्राह्मणोंके लिए दिया है। उन्होंने तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और इन्द्रपद की प्राप्ति भी इन्हीं क्रियाओं द्वारा कराई है। वहाँ इन क्रियाओंको एक पर्याय तक सीमित न रख कर तीन पर्यायों तक इनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जो साधारण गृहस्थ है उसके योग्य ये सब क्रियाएँ नहीं हैं। किन्तु जिसमें सब गृहस्थोंके स्वामी होनेकी क्षमता है, जो जिनदीक्षाके बाद मुनिपदमें प्रतिष्ठित होकर तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेका अधिकारी है, जो मर कर नियमसे देव होता है और वहाँ भी जो इन्द्रपदका भोक्ता होता है और जो पुनः मनुष्य होने पर चक्रवर्तीके पदके साथ तीर्थङ्कर होकर निर्वाण प्राप्त करता है उसके लिए ये सब क्रियाएँ कही गई हैं। इनमें एक लिपि-संख्यान क्रिया है। इस द्वारा तीन वर्णके मनुष्योंको ही लिपिज्ञानका अधिकार दिया गया है। शूद्र क्रियामन्त्र विधिसे अक्षरज्ञानका अधिकारी

नहीं है। वह स्वयं किसी प्रकार अक्षरज्ञान कर ले यह बात अलग है। एक उपनीति क्रिया है। इस द्वारा भी तीन वर्णके मनुष्योंको उपनयन दीक्षाका अधिकारी माना गया है। इसी प्रकार आगे व्रतचर्या आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब द्विजोंके लिए ही कही गई हैं। तात्पर्य यह है कि इन क्रियाओं द्वारा यह दिखलाया गया है कि क्रियामन्त्रोंका आश्रय लेकर व्रत धारण करना, जिनदीक्षा लेना, तीर्थङ्करपदके योग्य सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करना आदि सब कार्य द्विजोंके लिए ही सुरक्षित हैं। यदि शूद्रवर्णके मनुष्योंके लिए वहाँ कोई बात कही गई है तो वह केवल इतनी ही कि जो दीक्षाके योग्य कुल (तीन वर्ण)में उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो विद्या और शिल्पकर्मसे अपनी आजीविका करते हैं उनके उपनयन आदि संस्कार करना सम्मत नहीं है। वे यदि उचित व्रतोंको धारण करते हैं तो उन्हें उचित है कि वे सन्यासपूर्वक मरणके समय तक एक शाटकव्रतको धारण करके रहें। यह महापुराणके क्रियामन्त्रगर्भ[1] उपदेशका सार है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि महापुराणके उक्त उपदेशके अनुसार शूद्रवर्णके मनुष्य पूजा आदि सब धार्मिक कर्तव्योंसे वञ्चित हो जाते हैं। वे न तो यज्ञोपवीत पहिन सकते हैं, न गुरुके पास जाकर लिपिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, न जिनमन्दिरमें जाकर या बाहरसे ही जिनदेवकी अर्चा वन्दना कर सकते हैं और न अतिथि-सत्कारपूर्वक दान ही दे सकते हैं।

किन्तु शूद्रोंके सम्बन्धमें इन तथ्योंको स्वीकार करनेके पहले हमें महापुराणके क्रियामन्त्रगर्भ इस उपदेशकी समीक्षा करनी होगी। हमें देखना होगा कि आचार्य जिनसेनने इस उपदेशके भीतर जिन तथ्योंका निर्देश किया है वे वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणीके कहाँ तक अनुरूप हैं। इसके लिए सर्व प्रथम हम श्रावकाचारको ही लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द

---

१. देखो महापुराण पर्व ३८-३९।

और स्वामी समन्तभद्रने बतलाया है कि जो अहिंसादि पाँच अणुव्रतों और सात शीलव्रतोंको धारण करता है वह श्रावक होता है। श्रावकका यह धर्म दार्शनिक आदि प्रतिमाओंके भेदसे ग्यारह भागोंमें बटा हुआ है जो उक्त बारह व्रतोंका विस्तारमात्र है। इस श्रावकधर्मको धारण करनेका अधिकारी कौन है इसका निर्देश करते हुए वहाँ पर जो बतलाया है उसका सार यह है कि जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो गई है और जो संसार, देह और भोगोंकी निःसारताको जानकर भी वर्तमानमें मुनिधर्मको स्वीकार करनेमें असमर्थ है वह श्रावकधर्मके धारण करनेका अधिकारी है। जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि श्रावकके इस धर्मको मनुष्योंकी तो बात छोड़िए स्त्रियाँ और तिर्यञ्च तक धारण कर सकते हैं और इसे धारण करनेके लिए उन्हें न तो यज्ञोपवीत लेनेकी आवश्यकता है और न अन्य कोई मन्त्र-गर्भ क्रिया करनेकी। स्पष्ट है कि मुनि और श्रावकाचारका उपदेश और क्रियामन्त्रगर्भ धर्मका उपदेश इन दोनोंका परस्परमें कोई मेल नहीं है।

आगमकी अन्य मान्यताओंकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी हमें इसमें अनेक विरोध दिखलाई देते हैं। उनमेंसे यहाँ पर हम एक ही विरोधका निर्देश करेंगे। आगममें तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका प्रारम्भ मात्र मनुष्य करता है यह तो कहा है पर यह नहीं कहा कि मुनिपद पर आरूढ़ होनेके बाद ही वह उसका बन्ध कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध सब सम्यग्दृष्टि नहीं करते। जिनके मनमें आत्मकल्याणके साथ संसारके अन्य प्राणियोंके उद्धारकी तीव्र भावना होती है वे ही इसका बन्ध करते हैं। इसके बन्धका प्रारम्भ करनेवाले मनुष्य श्रावक या मुनि होने ही चाहिये, वह भी क्रियामन्त्रगर्भ धर्मकी विधिसे, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु इसके विपरीत जो मात्र अविरतसम्यग्दृष्टि हैं वे भी इसके बन्धका प्रारम्भ कर सकते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है और जो अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मिथ्यादृष्टि होकर नरकमें उत्पन्न होनेवाले हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी इसके बन्धका प्रारम्भ

कर सकते हैं। राजा श्रेणिक नरकायुका बन्ध करनेके बाद क्षायिक-सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करते हैं यह क्या है ? उनके मुनि होनेकी बात तो छोड़िए, उन्होंने क्रियामन्त्रगर्भ धर्मको अङ्गीकार कर यज्ञो-पवीत तक धारण नहीं किया था। फिर भी वे तीर्थङ्कर प्रकृति जैसे लोकोत्तर पुण्यका सञ्चय कर सके क्या यह इस क्रियामन्त्रगर्भ धर्मकी निःसारताको सूचित नहीं करता है ? पद्मपुराणमें ऐसे धर्मकी निःसारताका निर्देश करते हुए आचार्य रविषेण कहते हैं—

> चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकम् ।
> ज्ञानं देहविशेषस्य न च श्लोकाग्निसम्भवात् ॥११-१९४॥

इसमें ब्राह्मणादि चार जातियोंकी निःसारताका निर्देश करते हुए कहा गया है कि हेतुके विना चार जातियोंकी मान्यता ठीक नहीं है। कदाचित् जातियोंकी पुष्टिमें यह हेतु दिया जाय कि ब्राह्मण आदिका शरीर मन्त्रों और अग्निके द्वारा संस्कारित होकर उत्पन्न होता है, इसलिए उसमें विशेषता आ जाती है सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शूद्रके शरीरसे ब्राह्मण आदिके शरीरमें कोई विशेषता नहीं देखी जाती।

पद्मपुराणके इस कथनसे स्पष्ट है कि महापुराणमें जिस क्रियामन्त्रगर्भ धर्मका उपदेश दिया गया है उसे जैनधर्ममें रञ्चमात्र भी स्थान नहीं है। माना कि पद्मपुराणमें यह श्लोक वेदविहित जातिधर्मका निरा-करण करनेके लिए आया है। पर वह प्रकृतमें शत प्रतिशत लागू होता है, क्योंकि महापुराणमें भी गर्भान्वय आदि क्रियाओंके आश्रयसे उसी वेदविहित धर्म द्वारा जैनधर्मको जातिधर्म बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए इसकी मनुस्मृतिके साथ तुलना कर लेना आवश्यक है। इससे विदित होगा कि जिस प्रकार मनुस्मृतिमें उपनयन आदि संस्कार, यज्ञादिकी दीक्षा तथा इज्या आदिका अधिकारी तीन वर्णके

मनुष्योंको माना गया है[1] उसी प्रकार यहाँ पर भी उपनयन आदि संस्कार श्रावक-मुनिदीक्षा तथा इज्या आदिका अधिकारी तीन वर्णके मनुष्योंको ही माना गया है।[2] वहाँ पर जिस प्रकार प्रत्येक वर्णका मनुष्य अपने-अपने धर्मका ठीक तरहसे पालन करता है इस पर नियन्त्रण रखनेका अधिकार राजाको दिया गया है[3] उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रत्येक वर्णका मनुष्य अपने-अपने धर्मका ठीक तरहसे पालन करता है इस पर नियन्त्रण रखनेका अधिकार राजाको ही दिया गया है।[4] और भी ऐसी अनेक बातें हैं जो यह माननेके लिए बाध्य करती हैं कि महापुराणमें प्रतिपादित इस क्रिया-मन्त्रगर्भ धर्मका सम्बन्ध जैनधर्मके साथ न होकर, मनुस्मृतिके आधारसे ही इसका महापुराणमें उल्लेख हुआ है।

प्रकृतमें यह बात ज्ञातव्य है कि महापुराणमें यह उपदेश भरत चक्रवर्तीके मुखसे दिलाया गया है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य जिनसेनके पूर्ववर्ती आचार्योंने इसका उल्लेख तक नहीं किया है। यदि हम महापुराणको ही बारीकीसे देखते हैं तो हमें यह भी स्पष्ट रूपसे विदित होता है कि आचार्य जिनसेन स्वयं भगवान् आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट मोक्ष-मार्गकी धर्मपरम्पराको इसमें गर्भित करनेका तो प्रयत्न करते हैं परन्तु वे इसे वीतराग वाणीका अङ्ग बनानेके लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनके सामने परिस्थिति जो भी रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनके इस प्रयत्नसे उत्तरकालीन कुछ जैन साहित्यमें जैनधर्मके प्रतिपादन करनेकी न केवल दिशा बदल गई है अपि तु उसने अपने सर्वोपकारी व्यक्तिवादी गुणको छोड़कर संकुचित वर्गवादी जातिधर्मका रूप ले लिया है।

---

१. मनुस्मृति अ० १० श्लो० १२६। २. महापुराण प० ३९ श्लो० १५८, प० ४० श्लो० १६५ से। ३. मनुस्मृति अ० ७ श्लो० १७–१८। ४. महापुराण पर्व ४० श्लोक १६८।

कहाँ तो जैनधर्मकी यह मान्यता कि आर्य और म्लेच्छ सभी मनुष्य मुनिधर्मके अधिकारी हैं और कहाँ महापुराणकी यह व्यवस्था कि द्विजवर्णके मनुष्य ही श्रावक और मुनिदीक्षाके अधिकारी हैं। कहाँ तो जैनधर्मका यह उपदेश कि जो नीचगोत्री मनुष्य मुनिधर्म स्वीकार करते हैं उनका उसे स्वीकार करते समय ही नीचगोत्र बदलकर उच्च गोत्र हो जाता है और कहाँ महापुराणकी यह व्यवस्था कि प्रत्येक वर्ण जन्मसे होता है और शूद्र न तो अपना कर्म ही बदल सकते हैं और न धर्ममें उच्चपदके अधिकारी ही हो सकते हैं। कहाँ तो जैनधर्मका यह उपदेश कि दान और पूजा यह प्रत्येक गृहस्थका दैनिक कर्तव्य है और कहाँ महापुराणकी यह व्यवस्था कि पूजा और दान आदि कर्मोंका अधिकारी एकमात्र द्विज है। कहाँ तो जैन-धर्मकी यह सारगर्भित देशना कि चाण्डाल भी व्रतोंको स्वीकार कर ब्राह्मण हो जाता है और कहाँ महापुराणकी यह व्यवस्था कि उपनयन संस्कार करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही द्विज संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

विचार करनेसे विदित होता है कि महापुणकी पूर्वोक्त व्यवस्थाओंके कारण ही जैनधर्ममें शूद्रोंको उनके दैनन्दिनके पूजा आदि वैयक्तिक धार्मिक कर्तव्योंसे वञ्चित किया जाने लगा है। किन्तु जैसा कि हम पूर्वमें बतला आये हैं कि जिनबिम्बदर्शन भी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका एक निमित्त है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति चाण्डाल आदि शूद्रोंको भी होती है, क्योंकि वे गर्भज है, संज्ञी हैं और पर्याप्त हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए जो जन्मसे आठ वर्ष काल होना चाहिए वह भी पूरा कर लिया है तथा अन्य वर्णवालोंके समान उनकी भी काललब्धि आ गई हो सकती है,[1] इसलिए वे गृहस्थोंके पूजा आदि सब कर्तव्योंके अधिकारी तो हैं ही। साथ ही यदि उन्हें संसार, देह और भोगोंसे वैराग्य हो जाय तो वे मुनिपदके भी अधिकारी हैं। लौकिक कर्म जो उनकी

---

१. सागारधर्मामृत अ० २ श्लो० २२।

आजीविकाके साधन हैं वे इसमें बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते। इतना अवश्य है कि जिस क्रमसे उनकी आत्मोन्नति होने लगती है उसी क्रमसे उनकी आजीविका भी अपने-अपने पदके अनुरूप होती जाती है। अतः अन्य मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके समान शूद्र भी समवसरणमें पहुँचकर धर्मोपदेश सुनते हैं और जिनदेवके दर्शन करते हैं यह मानना उचित ही है।

जिनमन्दिर समवसरणकी प्रतिकृति है। इस विषयको स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजी सागारधर्मामृतमें कहते हैं—

> सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः।
> चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥६-१०॥

जहाँ साक्षात् जिनदेव विराजमान होते हैं वह समवसरण यही है जो जिनमन्दिरके रूपमें हमारे सामने उपस्थित है। जो जिनदेव गन्धकुटीमें विराजमान होते हैं वे जिनदेव यही हैं जो जिन मन्दिरमें वेदीके ऊपर सुशोभित हो रहे हैं। तथा जो सभासद समवसरणमें बारह कोठोंमें बैठकर धर्मोपदेश सुनते है वे सभासद यही तो हैं जो जिनमन्दिरमें बैठे हुए हैं। इस प्रकार विचार करता हुआ यह भव्य वहाँ पर प्रतिकर्ममें लगे हुए सब धर्मात्माओंकी बार-बार अनुमोदना करे।

सागारधर्मामृतका उक्त उल्लेख समवसरण और जिनमन्दिरमें एकरूपता स्थापित करता है। यदि इनमें कोई अन्तर है तो इतना ही कि समवसरण साक्षात् धर्मसभा है और जिन मन्दिर उसकी स्थापना है। इससे स्पष्ट है कि जो शूद्रादि मनुष्य समवसरणमें जाकर जिनदर्शन और धर्मश्रवणके अधिकारी हैं वे उसके स्थापनारूप जिनमन्दिरमें भी जाकर जिनदर्शन और धर्मश्रवणके अधिकारी हैं, क्योंकि धर्मसाधनकी दृष्टिसे साक्षात् जिन और स्थापना जिनमें कोई अन्तर नहीं है। जो आसन्न भव्य समवसरणमें जिनदेवका दर्शनकर और धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व लाभ

कर सकते हैं वे जिनमन्दिरमें भी जिनबिम्बका दर्शनकर और धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व लाभ कर सकते हैं, क्योंकि आसन्नभव्यता और कर्महानि आदि गुण अमुक जातिके मनुष्योंमें ही पाये जाते हैं शूद्रोंमें नहीं पाये जाते ऐसा कोई नियम नहीं है। जिनेन्द्रदेवने उनका प्रकाश चारों गतिके संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें बतलाया है। इतना अवश्य है कि क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्थापना जिन आदिके सन्निकट न होकर तीर्थङ्कर केवली, इतर केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही होती है।

सम्यक्चारित्र धर्म और उसका अधिकारी—

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके समान सम्यक्चारित्र भी धर्मका अङ्ग है यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। प्रकृतमें उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग स्वरूपका विचारकर उसे धारण करनेका अधिकारी कौन है इसका निर्णय करना है। धर्ममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका समान स्थान होनेपर भी सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है—दंसणमूलो धम्मो। कारणका निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनप्राभृतमें कहते हैं—

> **दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।**
> **सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥३॥**

अर्थात् जो सम्यदर्शनसे च्युत हैं वे धर्मसे ही भ्रष्ट हैं। उन्हें निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। चारित्रभ्रष्ट प्राणी कालान्तरमें सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं पर सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट प्राणी सिद्धि प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं होते।

इस स्थितिके होते हुए भी जीवनमें चारित्रकी बड़ी उपयोगिता है। मोक्षप्राप्तिका वह अन्तिम साधन है। लक्ष्यका बोध होने पर उसमें निष्ठा सम्यग्दर्शनसे आती है और उसकी प्राप्ति सम्यक्चारित्रसे होती है। तात्पर्य यह है कि जो चारित्र आत्माको लक्ष्यकी ओर ले जाता है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे वह दो प्रकारका है। राग और

द्वेषकी निवृत्ति होकर अपनी आत्मामें स्थित होना आभ्यन्तर चारित्र है[1] और उसके सद्भावमें बाह्य प्रवृत्तिरूप बाह्य चारित्र है।[2] बाह्य प्रवृत्तिकी सार्थकता आभ्यन्तर चारित्रकी उन्मुखतामें[3] है अन्यथा नहीं, इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए। अधिकारी भेदसे वह दो प्रकारका है—देशचारित्र और सकलचारित्र। देशचारित्र गृहस्थोंके होता है और सकलचारित्र साधुओंके।[4] सकलचारित्र उत्सर्ग मार्ग है, क्योंकि मोक्षप्राप्तिका वह साक्षात् साधन है और देशचारित्र अपवाद मार्ग है, क्योंकि इसमें संसारके कारण परिग्रह आदिकी बहुलता बनी रहती है।[5] इनमेंसे देशचारित्रको धारण करनेके अधिकारी तिर्यञ्च और मनुष्य होते हैं और सकलचारित्रको धारण करनेके अधिकारी मात्र मनुष्य ही होते हैं। यह दोनों प्रकारका धर्म मोक्षकी प्राप्तिमें साधक है, इसलिए इसमें जातिवादका प्रवेश नहीं है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य रविषेण पद्मचरितमें कहते हैं—

> न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
> व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०३॥ पर्व ११।

अर्थात् यह शूद्र और चाण्डाल है इसलिए गर्हित है और यह ब्राह्मण है इसलिए पूज्य है ऐसा नहीं है। वास्तवमें गुण कल्याणके कारण होते हैं, क्योंकि कर्मसे कोई चाण्डाल ही क्यों न हो यदि वह व्रती है तो वह ब्राह्मण माना गया है।

तात्पर्य यह है कि जैनधर्ममें धर्मरूपसे प्रतिपादित चारित्रधर्म वर्णाश्रम धर्म नहीं है। किन्तु मोक्षकी इच्छासे आर्य या म्लेच्छ जो भी इसे स्वीकार

---

१. रत्नकरण्ड० श्लो० ४७। २. रत्नकरण्ड श्लो० ४६। ३. रत्नकरण्ड श्लो ५०। ४. रत्नकरण्ड श्लो० ५०। ५. सागारधर्मामृत अ० ७ श्लो० ६०।

करते हैं वे इसके अधिकारी होते हैं। और यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है, क्योंकि जैनधर्म तो इसे स्वीकार करता ही है, मनुस्मृति भी इस तथ्यको स्वीकार करती है। वहाँ सामसिक अर्थात् चारों वर्णोंके समान धर्मका निर्देश करते हुए बतलाया है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह यह चारों वर्णोंके मनुष्यों द्वारा पालने योग्य सामान्य धर्म मनुने कहा है। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥१०–६३॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यह सामान्य धर्म नौ भेदोंमें विभक्त किया गया है। पाँच धर्म तो पूर्वोक्त ही हैं। चार ये हैं—दान, दम, दया और क्षान्ति। प्रमाण इस प्रकार है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्। ॥५–१२२॥

इस श्लोकमें आये हुए 'सर्वेषां' पदकी व्याख्या करते हुए वहाँ टीकामें कहा है—

एते सर्वेषां पुरुषाणां ब्राह्मणाद्याचण्डालं धर्मसाधनम्।

अर्थात् ये अहिंसा आदि नौ धर्म ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक सब पुरुषोंके धर्मके साधन हैं।

जैनधर्ममें गृहस्थधर्मके बारह और मुनिधर्मके अट्ठाईस भेद किये गये हैं। उन सबका समावेश इन अहिंसादिक उक्त धर्मोंमें हो जाता है। विचार कर देखा जाय तो अहिंसा ही एक धर्म है। अन्य सब मात्र उसका विस्तार है, अतएव यह माननेके लिए पर्याप्त आधार है कि मनुस्मृतिके ये वचन एकमात्र जैनधर्मकी ओर ही संकेत करते हैं। अर्थात् मनुस्मृतिकार भी इन वचनों द्वारा यह स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म

प्राणीमात्रका धर्म है और वह वर्णाश्रम धर्मसे भिन्न है। इसी भावको व्यक्त करते हुए आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्रमें कहते हैं—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एव आत्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥
जाति-लिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

जाति देहके आश्रयसे देखी जाती है और आत्माका संसार एकमात्र यह देह है, इसलिए जो जातिकृत आग्रहसे युक्त हैं वे संसारसे मुक्त नहीं होते ॥८८॥ ब्राह्मण आदि जाति और जटाधारण आदि लिङ्गके विकल्पसे जिनका धर्ममें आग्रह है वे भी आत्माके परम पदको प्राप्त नहीं होते ॥८९॥

जैनधर्म किसी जातिविशेषका धर्म नहीं है। उसका दरवाजा सबके लिए समानरूपसे खुला हुआ है। श्रावकधर्म दोहाके कर्ताने श्रावकधर्मका उपसंहार करते हुए इस सत्यको बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥

ब्राह्मण हो चाहे शूद्र, जो कोई इस धर्मका आचरण करता है वही श्रावक है। और क्या श्रावकके सिरपर कोई मणि रहता है।

समाजधर्म

व्यक्तिधर्म और समाजधर्ममें अन्तर—

पिछले प्रकरणमें हम व्यक्तिगत धर्म पर बहुत कुछ लिख आये हैं। इस प्रकरणमें हमें समाजधर्म पर विचार करना है। साथ ही यह भी

देखना है कि समाजमें वर्ग-भेद मानकर अलग-अलग वर्गका क्या व्यक्तिगत धर्म भी पृथक्-पृथक् हो सकता है। किसी जैन कविने जीवनकी आवश्यकताओं पर प्रकाश डालते हुए यह दोहा कहा है—

कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका एक जीव-उद्धार॥

अर्थात् सब कलाओंमें दो कलाएँ मुख्य हैं—एक जीविका और दूसरी आत्मोन्नति। जिसे इस दोहेमें 'जीव-उद्धार' शब्द द्वारा कहा गया है वही व्यक्तिगत धर्म है और जिसे 'जीविका' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है वही समाजधर्म है। यहाँ जीविका शब्द उपलक्षण है। उससे राज्य, विवाह आदि उन सब व्यवस्थाओं और नियमोंका बोध होता है जो लोकमें समाजको सुसंगठित बनानेके लिए आवश्यक माने गये हैं। यदि हम समाजधर्म और व्यक्तिधर्मको भेद करके समझना चाहें तो यही कह सकते हैं कि उन दोनोंके लिए क्रमशः लौकिकधर्म और आत्मधर्म ये दो शब्द उपयुक्त होंगे। समाजधर्म द्वारा मुख्यतया शरीरसम्बन्धी सब आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और व्यक्तिधर्म द्वारा आत्माको खुराक मिलती है। किन्तु शरीरसम्बन्धी सब आवश्यकताओंकी पूर्ति सङ्गठित सहयोगके बिना नहीं हो सकती, इसलिए उन विधि-विधानोंको, जो सबमें सहयोग बनाये रखते हैं, समाजधर्म कहते हैं और आत्मधर्ममें इस प्रकारके सहयोगकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं पड़ती। जो व्यक्ति जितनी आत्मोन्नति करना चाहे करे, समाजके स्वार्थका हनन न होनेसे वह उसमें बाधक नहीं होता। प्रत्युत आदर्श मानकर वह उसका पदानुसरण करनेका ही प्रयत्न करता है, इसलिए इसे व्यक्तिधर्म कहते हैं। ये दोनों प्रकारकी व्यवस्थाएँ परस्परमें बाधक न होकर समानताके आधारपर एक दूसरेको पूरक हैं।

जैनधर्म व्यक्तिधर्म है और वैदिकधर्म समाजधर्म है यह हम पहले ही लिख आये हैं। ऐसा लिखनेका कारण ही यह है कि जैनधर्मने मुख्यरूपसे आत्मोन्नतिके उपायों पर ही विचार किया है और वैदिकधर्ममें मुख्यरूपसे

समाजव्यवस्थासम्बन्धी नियमोंका विचार किया गया है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ पर हम दोनों धर्मोंके धार्मिक साहित्यकी प्रकृतिको खोलकर रख देना आवश्यक मानते हैं। आचार्य जिनसेन प्रणीत महापुराणमें 'असि' आदि षट्कर्मव्यवस्थाका उपदेश आदिब्रह्मा ऋषभदेवके मुखसे दिलाया गया है। पद्मपुराण और हरिवंशपुराणमें भी यह वर्णन लगभग इसी प्रकारसे उपलब्ध होता है। आदिनाथ जिनकी स्तुति करते हुए स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें उन्हें 'कृषि' आदि कर्मका भी उपदेष्टा कहा है। इससे इतना तो ज्ञात होता है कि यह मान्यता अपेक्षाकृत प्राचीन है। केवल आचार्य जिनसेनकी अपने मनकी कल्पना नहीं है। किन्तु भगवान् आदिनाथ 'असि' आदि षट्कर्मव्यवस्थाका उपदेश केवलज्ञान होनेपर नहीं देते। केवलज्ञान होनेपर वे एकमात्र मोक्षमार्गका ही उपदेश देते हैं। स्वयं आ० जिनसेन इस तथ्यको प्रकट करते हुए क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए। वे कहते हैं—

> असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
> कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१७९॥
>
> तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
> उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१८० पर्व १६॥

अर्थात् असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म प्रजाकी आजीविकाके हेतु हैं। भगवान् ऋषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाके लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा वृत्ति (आजीविका) का उपदेश दिया था। सो ठीक ही है, क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी थे।

यह कथन इतना स्पष्ट है जो हमें दर्पणके समान स्थितिको स्पष्ट करनेमें सहायता करता है। आजीविकाके उपाय सोचना और उनके अनुसार व्यवस्था बनाना इसका सम्बन्ध मोक्षमार्गसे नहीं है। मोक्षमार्गमें मात्र

आत्मशुद्धिके उपायों पर विचार किया जाता है। उन दोनोंकी व्यवस्थाएँ और उनके नियमोपनियम भिन्न भिन्न हैं और उनके उपदेष्टा अधिकारी व्यक्ति भी भिन्न भिन्न हैं। जहाँ समाजव्यवस्थाका उपदेशक सरागी और गृहस्थ होता है वहाँ मोक्षमार्गका उपदेशक वीतरागी होता है। जो अल्पज्ञ मुनि या गृहस्थ मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए उपलब्ध होते हैं वे वास्तवमें उसके उपदेशक न होकर अनुवादमात्र उपस्थित करते हैं। जैनसाहित्यमें जहाँ भी समाजव्यवस्थाका उल्लेख आया है या उसके कुछ नियमोपनियमोंका विधान किया है वहाँ उसे युद्धादिके वर्णनके समान किस कालमें किस व्यक्तिने समाजके सङ्गठनके लिए क्या प्रयत्न किया इस घटनाका चित्रणमात्र जानना चाहिए। इससे अधिक धर्मकी दृष्टिसे उसका वहाँ अन्य कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि उत्तरकालमें नीतिवाक्यामृत और त्रिवर्णाचार जैसा जैनसाहित्य लिखा गया है और गृहस्थाचारके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें समाजव्यवस्थाके अङ्गभूत खान-पान और विवाह आदिसम्बन्धी नियमोंका भी उल्लेख हुआ है पर इस प्रकारके साहित्य और उल्लेखोंका सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीके साथ यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है यह स्पष्ट ही है। प्राचीन साहित्यके साथ आधुनिक साहित्यकी तुलना करके भी यह बात समझी जा सकती है। खान-पानके नियमोंसे हमारा तात्पर्य भक्ष्याभक्ष्य-सम्बन्धी नियमोंसे नहीं है। भक्ष्याभक्ष्यका विचार कर अभक्ष्यभक्षण नहीं करना मूलतः जैनधर्मकी आत्मा है। यह तो जैन धार्मिक साहित्यकी प्रकृति है।

अब वैदिक साहित्यकी प्रकृतिपर विचार कीजिए। मनुस्मृतिकी रचना वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्रके आधारसे हुई है। यह वैदिकधर्मका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन करनेवाला धर्म ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भमें ही बतलाया है कि कुछ ऋषियोंने भगवान् मनुके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! हमें चार वर्ण और उनके अवान्तर भेदोंके धर्मका उपदेश दीजिए, क्योंकि अपौरुषेय वेदविहित धर्मका उपदेश

देनेके आप अधिकारी हैं। इस पर भगवान् मनुने धर्मशास्त्रका उपदेश दिया। इस प्रसङ्गको व्यक्त करनेवाले मनुस्मृतिके श्लोक इस प्रकार हैं—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥१॥
भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥३॥
स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीन् श्रूयतामिति ॥४॥

इसके बाद याज्ञवल्क्यस्मृतिका स्थान है। इसमें भी चार वर्णों और चार आश्रमोंके धर्मोंकी पृच्छा करा कर उत्तरस्वरूप वर्णाश्रमधर्मका विचार किया गया है। तात्पर्य यह है कि समस्त वैदिक साहित्यमें एकमात्र वर्णाश्रमधर्मका विचार करते हुए मनुष्यजातिके चार मूल भेद मान लिये गये हैं। लोकमें आजीविकाके आधारसे नामकरणकी परिपाटी देखी जाती है। अध्यापनका कार्य करनेवालेको अध्यापक कहते हैं और न्याय-विभागको सम्हालनेवाला न्यायाधीश कहलाता है। इसी प्रकार जो स्वयं सदाचारका पालन करते हुए अध्यापनका कार्य करते हैं वे ब्राह्मण कहे जावें, जो देश और समाजकी रक्षामें नियुक्त हैं वे क्षत्रिय कहे जावें, जो कृषि, वाणिज्य और पशुपालनके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं वे वैश्य कहे जावें तथा जो शिल्प आदिके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं वे शूद्र कहे जावें यह विशेष आपत्ति योग्य न होकर आजीविकाके आधारसे नामकरणमात्र है। ऐसा हमेशासे होता आया है और भविष्यमें भी होता रहेगा। मुख्य अड़चन तो इन ब्राह्मणादि वर्णोंको जन्मसे मानने की है। कुछ अपवादोंको छोड़कर समस्त वैदिक ग्रन्थोंका एकमात्र यही अभिप्राय है कि ब्राह्मणकी सन्तान ब्राह्मण ही होती है। वह चाहे सदाचारी

हो या दुराचारी, अध्यापन कार्य करता हो या न करता हो। यह ईश्वर का विधान है। उसमें परिवर्तन करना मनुष्यके बूतेके बाहर है। क्षत्रियादि अन्य वर्णोंके सम्बन्धमें भी वहाँ पर इसी प्रकारके नियम देखे जाते हैं। यही कारण है कि उस धर्ममें एकमात्र जन्मसे वर्णव्यवस्था मानी गई है कर्मसे नहीं।

उस धर्मके मूल ग्रन्थ वेद हैं। इन्हें धर्मका मूल कहा जाता है—वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। इनमें मुख्यरूपसे यागादि क्रियाकाण्डका ही विस्तार है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदोंका विस्तार होनेसे उनमें भी इसीका ऊहापोह किया गया है। उपनिषदोंको छोड़कर अन्य धार्मिक साहित्यकी स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं है। उपनिषदोंमें ज्ञानकाण्डपर जोर देकर भी उस विद्याको ब्राह्मणों तक ही सीमित रखनेका प्रयत्न हुआ है, क्यों कि मनुस्मृतिमें कर्मके प्रवृत्त कर्म और निवृत्तकर्म ये दो भेद करके निवृत्तकर्म (ज्ञानमार्ग) का अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है।[1] इन सब ग्रन्थोंकी प्रकृति ब्राह्मणोंकी प्रतिष्ठा स्थापित करना होनेसे इनमें पूरे समाजकी रचना एकमात्र उक्त तथ्यको केन्द्रमें रख कर की गई है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें सृष्टि उत्पत्तिके प्रसङ्गमें ये मन्त्र आये हैं—

> यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
> मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते॥
> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
> उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत[2]॥

---

१. एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः।
नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत॥
मनुस्मृति अ० १२ श्लो० ८२।

२. ऋ० स० १०-९०, ११-१२। य० सं० ३१, १०-११।

तैत्तिरीयारण्यकके तृतीय प्रपाठकके बारहवें अनुवाकमें भी ये मन्त्र आये हैं। इनकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—प्रजापतिके प्राणरूप देवोंने जब विराट् रूप पुरुषको रचा अर्थात् अपने संल्कपसे उत्पन्न किया तब कितने प्रकारसे उसे रचा ? उसका मुख कौन हुआ, उसके दोनों बाहु कौन हुए, उसके दोनों उरु (जंघाएँ) कौन हुए और उसके दोनों पग कौन हुए ? ब्राह्मणोंको उसके मुखरूपसे उत्पन्न किया, क्षत्रियोंको दोनों बाहुरूपसे उत्पन्न किया, वैश्योंको दोनों उरुरूपसे उत्पन्न किया और शूद्रों-को दोनों पगरूपसे उत्पन्न किया।

इस प्रसङ्गमें बहुतसे विद्वान् यह आपत्ति करते हैं कि यह रूपक है। वस्तुतः ब्राह्मणवर्णका पठन-पाठन आदि कार्य मुख्य है, इसलिए उसे मुखकी उपमा दी गई है, क्षत्रियवर्णका रक्षा कार्य मुख्य है, इसलिए उसे दोनों बाहुओंकी उपमा दी गई है, वैश्यका अन्नोत्पादन आदि कार्य मुख्य है, इसलिए उसे दोनों उरुओंकी उपमा दी गई है और शूद्रवर्णका सेवा कार्य मुख्य है, इसलिए उसे दोनों पगोंकी उपमा दी गई है। किन्तु उनकी यह आपत्ति हमें प्रकृतमें उपयोगी नहीं जान पड़ती, क्योंकि सृष्टिके उत्पत्ति क्रमके प्रसङ्गसे ये मन्त्र आये हैं, इसलिए इनका सायणाचार्यकृत अर्थ ही सङ्गत लगता है। वैदिकधर्ममें सृष्टिको सादि मानकर ईश्वरको उसके प्रमुख आरम्भक कारणरूपसे स्वीकार किया गया है। ऐसी अवस्थामें ब्राह्मणादि वर्णोंकी उत्पत्ति ईश्वरका कार्य ही ठहरती है। वह मनुष्योंको तो उत्पन्न करे और उनके पृथक्-पृथक् वर्ण और कार्य निश्चित न करे यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। हमें तो वैदिक धर्मग्रन्थोंकी यह प्रकृति ही माननी चाहिए, अन्यथा जिस हेतुसे यह उपक्रम किया गया उसकी पुष्टि नहीं होती। यह वैदिक धार्मिक साहित्यकी प्रकृति है। इस प्रकार इन दोनों धर्मोंके साहित्यका आलोढन करनेसे व्यक्तिधर्म और समाजधर्मके मध्य मौलिक भेद क्या है यह स्पष्ट हो जाता है।

चार वर्णोंका वर्णधर्म—

जैसा कि हम पूर्वमें कह आये हैं, मनुस्मृति एकमात्र इसी तथ्यका अनुसरण करती है। यही कारण है कि वेदविहित धर्मकी वह सर्वोत्कृष्ट व्याख्या मानी जाती है और सभी सामाजिक व्यवस्थाओंका उसके आधारसे विचार किया जाता है। यद्यपि स्मृतिग्रन्थ अनेक हैं परन्तु थोड़े बहुत मतभेदोंको छोड़कर मौलिक मान्यताकी दृष्टिसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। वैदिक परम्परामें जो दर्शन ईश्वरवादी नहीं हैं, समाजव्यवस्थामें वे भी उसे मान्य करते हैं, इसलिए यहाँ पर मुख्यतः मनुस्मृतिके आधारसे समाजधर्मका चित्र उपस्थित कर देना हम आवश्यक मानते हैं। मनुस्मृतिके प्रारम्भमें सृष्टिकी उत्पत्तिका निर्देश करनेके साथ चार वर्णोंकी उत्पत्ति और उनके पृथक्-पृथक् वर्णधर्मका निर्देश करते हुए बतलाया गया है कि ब्रह्माने ब्राह्मणोंके अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छह कर्म निश्चित किये। क्षत्रियोंके प्रजाकी रक्षा, दान, पूजा, अध्ययन और विषयोंके प्रति अनासक्ति ये कर्म निश्चित किये। वैश्योंके पशुओंकी रक्षा, दान, पूजा, अध्ययन, वाणिज्य और कुसीद ये कर्म निश्चित किये तथा शूद्रोंका डाहसे रहित होकर उक्त तीन वर्णोंकी शुश्रूषा करना एकमात्र यह कर्म निश्चित किया।[1] यहाँ पर जिन वर्णोंके जो कर्म बतलाये गये हैं उनका जीवनपर्यन्त पालन करना यही उनका स्वधर्म है। अपने-अपने धर्मका पालन करते हुए मरण होनेपर सद्गति मिलती है। कदाचित् भूलकर एक वर्णवाला अन्य वर्णके आचारको स्वीकार करता है तो उसे राजा और ईश्वरके कोपका भाजन होना पड़ता है। गीताका 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' यह वचन इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर कहा गया है।

---

१. मनुस्मृति अ० १ श्लोक ८८–९१।

विवाह और वर्णपरिवर्तनके नियम—

वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें मनुस्मृतिकी यह मौलिक मान्यता है। उसके अनुसार साधारणतः किसी व्यक्तिका वर्ण नहीं बदलता। जिस वर्णवालेका जो वर्णकर्तव्य है उसे छोड़कर यदि वह अन्य वर्णवालेका आचार स्वीकार करता है तो भी वर्णपरिवर्तन नहीं होता। मात्र विवाह इसका अपवाद है। विवाहके विषयमें सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक वर्णवालेको अपने वर्णकी कन्याके साथ ही विवाह करना चाहिए। यह धर्मविवाह है। कामविवाहके सम्बन्धमें यह नियम है कि शूद्रकी मात्र शूद्रा भार्या होती है। वह अन्य तीन वर्णकी स्त्रियोंको स्वीकार करनेका अधिकारी नहीं है। वैश्यकी शूद्र और वैश्य इन दो वर्णोंकी पत्नियाँ हो सकती हैं। वह ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रीको रखनेका अधिकारी नहीं है। क्षत्रियकी शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया ये तीन प्रकारकी पत्नियाँ हो सकती हैं। वह ब्राह्मण स्त्रीको पत्नी बनानेका अधिकारी नहीं है। तथा ब्राह्मणके चारों वर्णोंकी पत्नियाँ हो सकती हैं। इसे ऐसा करनेमें वर्णाश्रमधर्मसे कोई रुकावट नहीं आती। परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको आपत्कालमें भी शूद्रा स्त्रीको पत्नीरूपसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो द्विजाति मोहवश हीन जातिकी स्त्रीके साथ विवाह करता है वह सन्तानके साथ शूद्रवर्णका हो जाता है[1]। साथ ही मनुस्मृतिमें यह भी बतलाया है कि ब्राह्मणके योगसे शूद्रा स्त्रीके सन्तान उत्पन्न होने पर उस सन्तानका वर्ण पारशव हो जाता है। कदाचित् इस प्रकारके सम्बन्धसे कन्या उत्पन्न होती है और लगातार सात पीढ़ी तक प्रत्येक पीढ़ीमें कन्या ही उत्पन्न होती रहती है और उसका प्रत्येक बार ब्राह्मणके साथ ही विवाह होता है तो इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तानका अन्तमें पुनः ब्राह्मण वर्ण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस क्रमसे सातवीं पीढ़ीमें शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। क्षत्रिय और वैश्य

---

१. मनुस्मृति अ० ३ श्लो० १२ से १५ तक।

वर्णके सम्बन्धमें भी इस नियमकी व्यवस्था की गई है[1]। मनुस्मृतिके अनुसार नाना वर्ण और नाना जातियाँ बननेका एकमात्र कारण विवाह और जारकर्म ही है[2]। अन्य कर्मोंकी अपेक्षा इसमें सवर्ण विवाहके ऊपर अधिक बल दिया गया है। मात्र सगोत्र विवाह इसमें निषिद्ध है।

दानग्रहण आदिकी पात्रता—

पहले हम ब्राह्मणके छह कर्मोंका निर्देश कर आये हैं। वे ये है–अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह। इनमेंसे अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह ये तीन कर्म ब्राह्मणकी आजीविकाके साधन हैं। पढ़ानेका, यज्ञादि कर्म करानेका और दान लेनेका एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण है। शेष तीन वर्णवाले नहीं[3]। अध्ययन, यजन और दान इन तीन कर्मोंके अधिकारी शूद्रोंके सिवा शेष दो वर्णवाले भी हैं। शूद्र इन छह कर्मोंमेंसे किसी एक भी कर्मका अधिकारी नहीं है। इसका यह तात्पर्य है कि शूद्र न तो देवता की पूजा कर सकता है, न यज्ञादि कर्म कर सकता है, न वेदादिका अध्ययन कर सकता है और न ब्राह्मणको दान ही दे सकता है। अध्यापन और प्रतिग्रहकर्म का क्षत्रिय और वैश्य अधिकारी तो नहीं है पर कदाचित् ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित् हो कि ब्राह्मण अध्यापक न मिलने पर क्षत्रिय और वैश्यसे पढ़ना पड़े तो पढ़नेवाला शिष्य अध्ययन काल तक मात्र उसका अनुवर्तन करे परन्तु उसका पादप्रक्षालन आदि कार्य न करे। तथा मोक्षकी इच्छासे उसके पास निवास भी न करे[4]। एक तो ब्राह्मणके शेष तीन वर्णवाले अतिथि नहीं होते। यदा कदाचित् क्षत्रिय, उसके घर अतिथिरूपसे उपस्थित हो हो जाय तो पहले सब ब्राह्मणोंके भोजन कर लेने पर बादमें वह उसे

---

१. मनुस्मृति अ० १० श्लो० ६४, ६५। २. मनुस्मृति अ० ३ श्लो० १७४ तथा अ० १० श्लो० ८ से लेकर। ३. मनुस्मृति अ० १० श्लो० ७६ से ७८ तक। ४. मनुस्मृति अ० २ श्लो० २४१–२४२।

भोजन करावे और यदि वैश्य और शूद्र अतिथिरूपसे ब्राह्मणके घर आये हुए हों तो उन्हें अपने नौकर-चाकरोंके साथ भोजन करावे। इससे अधिक उनका आतिथ्य न करे[1]। शूद्र सेवाकर्मके सिवा अन्य कर्म करनेका अधिकारी नहीं है। उसे विप्रकी सेवासे ही संतुष्ट रहना चाहिए। उसीमें उसके जीवनकी सफलता है।[2]

संस्कार और व्रत ग्रहणकी पात्रता—

संस्कार और व्रत किसे दिये जाँय इस विषयमें मनुस्मृतिकी यह व्यवस्था है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनकी द्विज संज्ञा होनेसे[3] ये ही इनके अधिकारी हैं। वहाँ बतलाया है कि माताके उदरसे जन्म होना यह इनका प्रथम जन्म है, मौञ्जीबन्धन अर्थात् उपनयन संस्कार होना यह दूसरा जन्म है और ज्योतिष्टोमादि यज्ञके समय वेद श्रवण करना यह इनका तीसरा जन्म है। यहाँ पर तीसरा जन्म द्वितीय जन्मके अन्तर्गत है, इसलिए इन तीन वर्णवालोंको द्विज कहते हैं। जब इनका मौञ्जीबन्धनपूर्वक उपनयन-संस्काररूप ब्रह्मजन्म होता है तब इनकी सावित्री माता होती है और आचार्य पिता होता है, इसलिए इनका एक गर्भजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म होनेसे ये द्विजन्मा, द्विज या द्विजाति कहे जाते हैं यह उक्त कथनका अभिप्राय है।[4] किन्तु शूद्र उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं है, इसलिए न तो इसके उपनयन आदि संस्कार होते हैं और न यह अग्निहोत्रादि धर्ममें अधिकारी माना गया है।[5] इसे धर्म और व्रतका उपदेश न दे यह भी मनुस्मृतिकी आज्ञा है।[6] वहाँ बतलाया है कि जो इसे धर्म और व्रतका उपदेश देता है वह उस शूद्रके साथ ही असंवृत नामके गहन नरकमें

---

१. मनुस्मृति अ० ३ श्लो० ११० से ११२ तक। २. मनुस्मृति अ० १० श्लो० १२२। ३. मनुस्मृति अ० १० श्लो० ४। ४. मनुस्मृति अ० २ श्लो० १६६ से १७१ तक। ५. मनुस्मृति अ० १० श्लो० १२६। ६. मनुस्मृतिअ० ४ श्लो० ८०।

पड़ता है। वहाँ शूद्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं। इनके सिवा एक चौथी जाति है जिसे शूद्र कहते हैं। इन चार वर्णोंके सिवा अन्य कोई पाँचवां वर्ण नहीं है।[1] इतना अवश्य है कि किन्हीं वैदिक शास्त्रोंमें चाण्डालको पाँचवें वर्णका कहा है।

उपसंहार—यहाँ तक हमने धर्म और उसके अवान्तर भेदोंकी सामान्य व्याख्या करके व्यक्तिधर्म और समाजधर्मका साङ्गोपाङ्ग विचार किया। साथ ही हमने यह भी बतलाया कि व्यक्तिधर्मका पूर्ण प्रतिनिधित्व जैनधर्म करता है और समाजधर्मका पूर्ण प्रतिनिधित्व वैदिकधर्म करता है। हम यह तो मानते हैं कि उत्तर-कालीन साहित्यमें कुछ ऐसी सामग्री सञ्चित हो गई है जो जैनधर्मके व्यक्तिवादी स्वरूपको उसी प्रकार आच्छादित करनेमें समर्थ है जिसप्रकार राहु चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है। उदाहरणस्वरूप यहाँ पर हम महापुराणमें प्रतिपादित कुछ मान्यताओंका उल्लेख कर देना आवश्यक मानते हैं। महापुराणमें ये सब मान्यताएँ ब्राह्मणवर्णकी स्थापनाके प्रसङ्गसे भरत महाराजके मुखसे कहलाई गई हैं। भरत महाराजको अनेक राजाओंके साथ भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमें दिग्विजयसे लौटने पर यह चिन्ता सताती है कि मैं अपनी इस विपुल सम्पत्तिका उपयोग किस कार्यमें करूँ। वे विचार करते हैं कि परम निस्पृही मुनिजन तो हम लोगोंसे धन लेते नहीं हैं। परन्तु ऐसे गृहस्थ भी कौन हैं जो धन-धान्य आदि सम्पदा द्वारा पूजा करने योग्य हैं। इसी विचारके परिणाम-स्वरूप वे व्रती श्रावकोंके आश्रयसे ब्राह्मणवर्णकी स्थापना कर व उनका यज्ञोपवीत और धन्य-धान्यादि सम्पदासे सत्कार कर उन्हें क्रियामन्त्रगर्भ धर्मका उपदेश देते हुए कहते हैं—इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप यह द्विजोंका कुलधर्म

---

१. मनुस्मृति अ० १० श्लो० ४।

है।[1] इसका उन्हें उत्तम प्रकारसे पालन करना चाहिए। जो द्विज इस विशुद्ध वृत्तिका सम्यक् प्रकारसे पालन नहीं करता वह मूर्ख नाममात्रका द्विज है। तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है। इनकी आजीविका उत्तम होनेसे यह उत्तमजाति मानी गई है। तथा दान,पूजा आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे यह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत बनी रहती है।[2] द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे होता है। किन्तु जो तपश्चरण और शास्त्राभ्यास नहीं करता वह जातिमात्रसे द्विज है। जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इसप्रकार दो बार उत्पन्न हुआ है उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते हैं। परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनोंसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है[3]। कुल क्रियाएँ गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वयके भेदसे तीन प्रकारकी हैं। इनमेंसे गर्भान्वय क्रियाओंके ५३, दीक्षान्वयके ४८ और कर्त्रन्वय क्रियाओंके ८ भेद हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको इनका पालन अवश्य करना चाहिए[4]। इन क्रियाओंका विवेचन करते हुए वहाँ भरतमहाराजके मुखसे यह भी कहलाया गया है कि उपनीतिसंस्कार केवल द्विजोंका करना चाहिए। विद्या और शिल्पसे आजीविका करनेवाले मनुष्य दीक्षाके योग्य नहीं हैं। शूद्र अधिकसे अधिक मरणपर्यन्त एक शाटक व्रत धारण कर सकते हैं। इज्या आदि छह आर्य कर्मोंके अधिकारी भी द्विज ही हो सकते हैं। द्विजों और शूद्रोंको विवाह आदि कर्म भी अपनी जातियोंमें ही करने चाहिए। इसप्रकार द्विज जो विवाह करते हैं वह उनका धर्मविवाह कहलाता है। उच्चजातिका मनुष्य नीच जातिकी कन्यासे विवाह

---

१. महापुराण पर्व ३८ श्लोक ४ से २५ तक। २. महापुराण पर्व ३८ श्लोक ४२ से ४४ तक। ३. महापुराणपर्व ३८ श्लोक ४७–४८। ४. महापुराणपर्व ३८ श्लोक ५१ से ५२ तक।

कर सकता है। पर इसप्रकार जो विवाह होता है उसे धर्मविवाह नहीं कह सकते।[1]

यह तो महापुराणसे ही प्रकट है कि जब भरत महाराजने सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको उक्त उपदेश दिया था तब तक भगवान् ऋषभदेवको मोक्षमार्गका प्रचार करते हुए साठ हजार वर्ष हो गये थे। किन्तु उन्होंने उस समय तक और उसके बाद भी अपनी दिव्यध्वनि द्वारा न तो यह ही उपदेश दिया कि तीन वर्णके मनुष्य द्विज कहलाते हैं। यज्ञोपवीत धारण करने और संस्कारपूर्वक श्रावक व मुनिदीक्षा लेनेका अधिकार मात्र उन्हींको है और न यह ही उपदेश दिया कि ब्राह्मण आदि प्रत्येक जातिवाले मनुष्यको अपनी-अपनी जातिमें ही विवाह करना चाहिए। अपनी जातिसे नीची जातिकी कन्या स्वीकार करने पर उसकी कामविवाह संज्ञा होती है। यद्यपि भगवान् ऋषभदेवने राज्यपदका भोग करते हुए क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंकी रचना की थी यह पद्मपुराण और महापुराणके आधारसे माना जा सकता है। परन्तु उन्होंने इन वर्णोंकी स्थापना कर्मके आधारसे ही की थी यह भी उन पुराणोंसे ज्ञात होता है।

हमारे सामने महापुराणके सिवा इसका पूर्ववर्ती जो अन्य पुराणसाहित्य उपस्थित है उससे भी यही जान पड़ता है कि क्रियामन्त्रगर्भ धर्मका जितना उपदेश महापुराणमें भरत महाराजके मुखसे दिलाया गया है वह सब एकमात्र महापुराणमें ही उपलब्ध होता है, महापुराणके सिवा अन्य सब पुराणोंमें न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको कहीं द्विज कहा गया है, न ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्यवर्णके मनुष्य यज्ञोपवीत चिह्नसे अंकित किये जायँ यह कहा गया है, न केवल तीन वर्णके मनुष्योंको दीक्षाके योग्य बतलाया गया है और न ही प्रत्येक वर्णके मनुष्यको अपने वर्णकी कन्याके साथ ही विवाह करना चाहिए यह कहा गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महा-

---

१. महापुराणपर्व ४० श्लोक १६६से १७२ तक।

पुराणमें भरत महाराजके मुखसे आचार्य जिनसेनने क्रियायन्त्रगर्भ धर्मका जितना भी उपदेश दिलाया है उसका जिनवाणी तथा मोक्षमार्गके साथ रञ्चमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यह लौकिकधर्म है जो उन्होंने समन्वय करनेके अभिप्रायसे वेदानुमोदित मनुस्मृतिसे लेकर महापुराणमें निबद्ध कर दिया है। लोकमें ब्राह्मणादि जातियोंके आधारसे जितना भी लौकिक धर्म प्रचलित है उसमें वेद और मनुस्मृति ही प्रमाण हैं इस सत्यको यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतमें सोमदेवसूरिने बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है।[1] इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। इसलिए हमें प्रकृतमें यही मानना उचित है कि जैनधर्म और वर्णाश्रमधर्ममें पूर्व और पश्चिमका अन्तर है। जैसा कि जैनधर्मका स्वरूप और प्रकृति उसके मूल आगम साहित्यमें तथा वर्णाश्रमधर्मका स्वरूप और प्रकृति उसके वैदिक साहित्यमें बतलाई है उसके अनुसार ये दोनों धर्म न कभी एक हो सकते हैं और न कभी इनका एक होना वांछनीय ही है। यह दूसरी बात है कि यदि वैदिकधर्म अपने जातिवादी कार्यक्रमको तिलाञ्जलि देकर समानताके आधार पर गुणकर्मानुसार समाज व्यवस्थाको स्वीकार कर लेता है तो उसके इस उपक्रमका जैनधर्म स्वागत ही करेगा, क्योंकि यह उसकी मूल मान्यताके अनुकूल है। इससे सब जीवधारियोंको अपनी-अपनी योग्यतानुसार आत्मोन्नति और सामाजिक उन्नति करनेका मार्ग खुल जाता है।

नोआगमभाव मनुष्योंमें धर्माधर्ममीमांसा

आवश्यक स्पष्टीकरण—

पिछले अध्यायोंमें हम धर्मके स्वरूप और उसके अवान्तर भेदोंकी मीमांसा कर आये हैं। वहाँ एक उपप्रकरणमें यह भी बतला आये हैं कि

---

१. यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ३७३। नीतिवाक्यामृत पृ० ८१।

जैनधर्मके अधिकारी मनुष्यमात्र होते हैं। अर्थात् कर्मभूमिमें आर्य और म्लेच्छ तथा इनकी जाति और उपजातिके भेदसे जितने प्रकारके मनुष्य माने गये हैं वे सब समग्ररूपसे जैनधर्मको धारण करनेके पात्र हैं। वहाँ पर इस तथ्यको फलित करनेके लिए जो युक्तियाँ दी गई हैं वे सब आगम साहित्यके मन्तव्योंको ध्यानमें रखकर ही दी गई हैं। फिर भी इस विषयके विवादग्रस्त बन जानेके कारण इसके विधि-निषेधपरक पूरे जैनसाहित्यके आलोढनकी महती आवश्यकता है। यहाँ हमें कई दृष्टियोंसे विचार करना है। सर्व प्रथम तो यह देखना है कि षट्खण्डागम आदि मूल आगम साहित्यमें अध्यात्मदृष्टिसे इसका किस रूपमें प्रतिपादन हुआ है। वहाँ हमें इस बातका भी विचार करना है कि मूल आगम साहित्यके बाद उत्तरकालमें जो साहित्य लिखा गया है उसमें मूल आगम साहित्यका ही अनुसरण हुआ है या उसमें कहीं कुछ फरक भी आया है। इसके बाद मनुष्य जगतमें मुख्यरूपसे भारतवर्षमें प्रचलित वर्ण, जाति, कुल और गोत्र आदिकी दृष्टिसे भी इस विषयको स्पर्शकर विचार करना है। ऐसा करते हुए जहाँ विचार क्षेत्रमें व्यापकता आती है वहाँ हमारी जबाबदारी भी बढ़ जाती है। मनुष्य-जातिका कोई एक समुदाय यदि वास्तवमें जैनधर्मको आंशिकरूपसे या समग्ररूपसे धारण करनेकी योग्यता नहीं रखता तो हमारा यह आग्रह नहीं है कि उसमें बलात् इस प्रकारकी योग्यता मानी ही जाय। साथमें हम यह भी नहीं चाहते कि किन्हीं बाहरी कारणोंसे कोई एक समुदाय यदि किसी समय धर्मके अयोग्य घोषित किया गया है तो तीर्थङ्करोंकी वाणी कहकर समाजके भयवश या अन्य किसी काल्पनिक भयवश उसे वैसे ही चलने दिया जाय। जहाँ तक हमने जैनधर्मका अध्ययन, मनन और निदिध्यासन किया है उससे हमारी यही धारणा पुष्ट होती है कि हमें सर्वत्र वस्तुमर्यादाको हृदयंगम करते समय विवेकसे काम लेना चाहिए। तीर्थङ्करोंकी वाणीका स्वरूप ही वस्तुमर्यादाकी अभिव्यक्तिमात्र है। उसमें सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को विवेकमूलक सूत्रानुसारी बनानेके लिए यह स्पष्टरूपसे घोषित किया गया है—

सम्माइट्ठी जीवो सद्दहदि पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥१०७॥ क०पा०
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतो जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो प्पहुडि ॥२८॥ गो० जी०

अर्थात् आगममें आप्त, आगम और पदार्थके विषयमें जो उपदेश दिया गया है, सम्यग्दृष्टि जीव उसका उसी रूपमें श्रद्धान करता है। किन्तु गुरुके निमित्तसे उसे आप्त, आगम और पदार्थके विषयमें यदि अन्यथा ज्ञान मिलता है तो स्वयं जानकार न होनेसे गुरुकी श्रद्धावश वह असद्भावका भी श्रद्धान करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार विपरीत श्रद्धा होने पर भी उसके सम्यग्दर्शनमें हानि नहीं आती ॥२७॥ किन्तु उसका यह सम्यग्दर्शन तभी तक समीचीन माना जा सकता है जब तक उसे सूत्रसे समीचीन अर्थका बोध नहीं होता। सूत्रसे समीचीन अर्थका बोध कराने पर यदि वह अपनी विपरीत श्रद्धाको छोड़कर सूत्रके अनुसार अर्थकी श्रद्धा नहीं करता है तो वह जीव उस समयसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

साधारणतः यह कहा जाता है कि अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य या पण्डितने जो कुछ भी लिखा है उसे प्रमाण मानकर चलना चाहिए। किसी हद तक यह उचित भी है। किन्तु इसमें एक ही आपत्ति है। वह यह कि सब आचार्य न तो गणधर होते हैं, न प्रत्येकबुद्ध होते हैं, न श्रुतकेवली होते हैं और न अभिन्नदशपूर्वी होते हैं, इसलिए कदाचित् अपनी अल्पज्ञता और देश, काल परिस्थितिके कारण वे अन्यथा प्रतिपादन कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टिको इसका बोध होने पर सूत्रानुसारी होनेसे वह ऐसे वचनको आगमबाह्य मान कर त्याग देता है और पूर्व पूर्व प्रमाणताके आधारसे वह तत्त्वका निर्णय करता है, अन्यथा गुरुके व्यामोह वश वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। पूर्वोक्त दो गाथाओंमें इसी भावको व्यक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनसाहित्यमें भिन्न भिन्न कालमें

जो कुछ भी लिखा गया है उसकी पूर्व पूर्व आगमके आधारसे सम्यक् परीक्षा करके ही हमें प्रमाणता स्थापित करनी चाहिए। केवल अमुक स्थान पर यह लिखा है इस आधारसे उसे ही प्रमाण मान बैठना उचित नहीं है।

प्रकृतमें हम जिन विषयों पर ऊहापोह करना चाहते हैं वहाँ पर हम भी विवेकमूलक सूत्रानुसारी बुद्धिसे ही काम लेनेका प्रयत्न करेंगे, क्योंकि जो लौकिक मान्यताएँ परिस्थितिवश जैनधर्मका अङ्ग बन गई हैं उनको आगम और युक्तिके बलसे जैनधर्म बाह्य माननेमें ही जैनधर्मका सम्यक् प्रकाश हो सकेगा ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

नोआगमभाव मनुष्यकी व्याख्या—

वर्तमान समयमें जैनधर्मका जो भी आगम साहित्य उपलब्ध है उसमें षट्खण्डागम और कषायप्राभृत प्रमुख है, क्योंकि उत्तरकालीन धार्मिक साहित्यका वह मूल आधार है। उसमें सब जीव राशि पाँच भागोंमें विभक्त की गई है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति। यह तो स्पष्ट है कि संसारी जीव सिद्धोंके समान सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। उनका जीवन-व्यवहार जीव और पुद्गल इन दोके मेलसे चालू है। इसीको संसार कहते हैं। जिन संसारी जीवोंका मोक्षके लिए उद्यम है उनका वह उद्यम एकमात्र पुद्गलके स्वीकृत संयोगसे छुटकारा पानेके लिए ही है। समस्त जैनसाहित्यमें धर्मको मोक्षमार्ग इसी अभिप्रायसे कहा गया है, इसलिए यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जीवके साथ पुद्गलका वह संयोग किस प्रकारका है? इसीके उत्तर स्वरूप आगममें यह बतलाया गया है कि जिन पुद्गलोंके साथ इस जीवका अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता आ रहा है उनकी कर्म संज्ञा है, क्योंकि जीवके राग-द्वेष आदि भावोंका निमित्त पाकर वे निर्मित होते हैं, इसलिए जीवका कार्य होनेसे उन्हें कर्म कहते हैं। ये सब कर्म कर्मसामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके होकर भी अपने उत्तर भेदोंकी अपेक्षा आठ प्रकारके और अवान्तर भेदोंकी

अपेक्षा एक सौ अड़तालीस प्रकारके हैं। ये सब कर्म जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी इन चार भागोंमें विभक्त किये गये हैं। उनमेंसे क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी ये संज्ञाएँ प्रयोजन विशेषसे स्थापित की गई हैं। कर्मोंके मुख्य भेद दो ही हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जीवका संसार पुद्गलके संयोगसे निर्मित होता है। इससे स्पष्ट है कि जीवकी नर-नारक आदि और काम-क्रोध आदि जो विविध अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं वे भी कर्मके निमित्तसे होती हैं और जीवके लिए भवधारण करनेके लिए छोटे बड़े जो विविध प्रकारके शरीर तथा मन, वचन और श्वासोच्छ्वासकी प्राप्ति होती है वह भी कर्मके निमित्तसे होती है। फलस्वरूप जिन कर्मोंके निमित्तसे जीवकी ही विविध अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें जीवविपाकी कर्म कहते हैं, क्योंकि इन कर्मोंका विपाक जीवकी नर-नारक आदि और काम-क्रोध आदि विविध अवस्थाओंके सृजन करनेमें होता है और जिन कर्मोंके निमित्तसे जीवके लिए शरीर आदि मिलते हैं उन्हें पुद्गलविपाकी कर्म कहते हैं, क्योंकि इन कर्मोंका विपाक जीवको संसारमें रखनेमें प्रयोजनभूत शरीर आदिके निर्माण करनेमें होता है।

ऐसा नियम है कि एक भवको छोड़कर दूसरे भवको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे उस भवसम्बन्धी जीवविपाकी कर्म अपना कार्य करने लगते हैं और जब यह जीव पूर्वके भवसम्बन्धी क्षेत्रसे नवीन भवसम्बन्धी क्षेत्रतककी दूरीको पार करके उत्पत्तिस्थान या योनिस्थानमें प्रवेश करता है तब अपने अपने नारक और तिर्यञ्च आदि गतिकर्मों तथा एकेन्द्रिय आदि जातिकर्मोंके अविनाभावी पुद्गलविपाकी कर्म उस क्षेत्रमें प्राप्त हुए अपने योग्य बीजका आलम्बन लेकर विविध प्रकारके शरीर, तथा उनके आङ्गोपाङ्ग, आकार और संगठन आदि रूपसे अपना कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार यह जीव प्रत्येक भवमें अपने आत्मासे सम्बन्ध

रखनेवालीं और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवालीं विविध अवस्थाओंको प्राप्तकर जीवन यापन करता है। संसारका यही क्रम है जो अनादिकालसे चला आ रहा है और तबतक चलता रहेगा जब तक इसने अपने मूल स्वभावकी पहिचान द्वारा उसका आश्रय लेकर पुद्गल और उसके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे मुक्ति प्राप्त नहीं करली है। इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी कर्म हैं वे मुख्यरूपसे जीवविपाकी और पुद्गल-विपाकी इन दो भागोंमें विभाजित हैं। उनमें जो जीवविपाकी कर्म हैं उनके निमित्तसे जीवकी विविध अवस्थाओंका निर्माण होता है और जो पुद्गलविपाकी कर्म हैं उनके निमित्तसे संसारी जीवके आधारभूत शरीर, मन, वाणी और स्वासोच्छ्वासका निर्माण होता है। मुख्यरूपसे ये दो ही प्रकारके कार्य हैं जिन्हें संसारी जीव कर्मोंकी सहायतासे करते रहते हैं। इनके सिवा अन्य जितनी स्त्री, पुत्र, मकान और धनादि भोगसामग्री मिलती है वह सब जीवकी लेश्या और कषायसे ही प्राप्त होती है। उसे किसी स्वतन्त्र कर्मका कार्य मानना उचित नहीं है। इतना अवश्य है कि विविध प्रकारके गति आदि कर्मोंके भोगका क्षेत्र सुनिश्चित होनेसे उपचार से उसे भी कर्मका कार्य कहा जाता है। किन्तु जिस प्रकार औदारिकशरीर की प्राप्तिके लिए औदारिक शरीर नामकर्म है उस प्रकार भोगोपभोगकी सामग्रीकी प्राप्तिके लिए कोई कर्म नहीं है। कर्मका कार्य वह कहलाता है जो प्राप्त होता है स्वीकार नहीं किया जाता। किन्तु भोगोपभोगकी सामग्री स्वीकार की जाती है प्राप्त नहीं होती, इसलिए जिन भावोंसे इसे स्वीकार किया जाता है वे भाव ही उसकी प्राप्ति अर्थात् स्वीकार करनेमें कारण हैं।

इस प्रकार सामान्यरूपसे कर्मोंके कार्यका निर्णय हो जानेपर प्रकृतमें मनुष्यगतिकी अपेक्षासे विचार करना है। मूल कर्म आठ और उनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। उनमेंसे नामकर्मके तेरानवे भेद हैं, जिनमें चार गतिकर्म हैं। 'गम्यते

सामान्यसे सब जीव एक प्रकारके हैं। स्वयं उनकी नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप कोई अवस्था नहीं है। इनमेंसे विवक्षित अवस्थाको प्राप्त कराना यह गति नामक नामकर्मका कार्य है, इसलिए इसके नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार भेद किये गये हैं। ये चारों प्रकारके गतिनामकर्म जीवविपाकी हैं। जीवविपाकी कर्म किन्हें कहते हैं इसका स्पष्टतः निर्देश हम पहले कर ही आये हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यगति नामक नामकर्मके उदयसे जीव मनुष्य होता है, इसलिए इससे एकमात्र मनुष्य पर्यायविशिष्ट जीवका बोध होता है, शरीरका नहीं और न जीव और शरीर मिलकर दोनोंका ही।

चौदह मार्गणाओंमें नोआगमभावरूप जीवपर्याय ही ली गई है। इनका पूरे विवरणके साथ स्पष्टीकरण क्षुल्लकबन्धमें किया गया है। वहाँ पर मनुष्यगतिमें मनुष्य कैसे होता है यह प्रश्न करके आगेके सूत्र द्वारा उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि मनुष्यगति नामक नामकर्मके उदयसे यह जीव मनुष्य होता है (सामित्त सू० ८–९)।

वर्गणाखण्डमें भी जीवभावके तीन भेद करके विपाकप्रत्ययिक जीवभाव दिखलानेके लिए स्वतन्त्ररूपसे एक सूत्र आया है। उसमें देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि ये सब विपाकप्रत्ययिक जीवभाव कहे गये हैं (निबंधन सू० १५)।

ये दोनों उल्लेख षट्खण्डागम नामक मूल आगम साहित्यके हैं जो इस बातका समर्थन करनेके लिए पर्याप्त हैं कि आगममें जहाँ भी मनुष्य या मनुष्यिनी आदि शब्दोंका व्यवहार हुआ है वहाँ उनसे जीवकी अवस्था विशेषको ही ग्रहण किया गया है। इतना ही नहीं, तत्त्वार्थसूत्र आदि उत्तरकालीन साहित्यसे भी इसका समर्थन होता है, अन्यथा वहाँ जीवके इक्कीस औदयिक भावोंमें चार गतियोंका ग्रहण करना नहीं बन सकता है (त० सू० अ० २, ६)।

इसपर कोई ऐसी शंका कर सकता है कि जिस जीवके मनुष्यगति नामक कर्मका उदय है उसे मनुष्य कहा जाय इसमें आपत्ति नहीं है। परन्तु ऐसे जीवको शरीर प्राप्त होनेपर उसमें भी मनुष्य शब्दका व्यवहार करनेमें बाधा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य पर्याय विशिष्ट जीवको ही इसकी प्राप्ति होती है। समाधान यह है कि नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये सब भेद जीवोंके ही हैं, शरीरोंके नहीं। ये भेद शरीरोंके नहीं हैं यह इसीसे स्पष्ट है कि जब ये जीव एक शरीरको छोड़कर न्यूतन शरीरकी प्राप्तिके पूर्व विग्रहगतिमें रहते हैं तब भी इन संज्ञाओंका व्यवहार होता है और जब ये अपने-अपने योग्य शरीरोंको प्राप्त हो जाते हैं तब भी इन संज्ञाओंका व्यवहार होता है। हैं ये संज्ञाएँ जीवोंकी ही, शरीरोंकी नहीं इतना स्पष्ट है।

यहाँपर हमने इन नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य आदि पर्यायोंको नोआगमभाव संज्ञा दी है, इसलिए प्रकृतमें इस शब्दके अर्थका स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है। नोआगमभावका सामान्य लक्षण तो यह है कि जिस द्रव्यकी जो वर्तमान पर्याय होती है वह उसकी नोआगमभाव पर्याय कहलाती है। उदाहरणार्थ वर्तमानमें जो आम मीठा है उसका वह मीठापन नोआगमभाव कहा जायगा। इसी प्रकार जो जीव वर्तमानमें मनुष्य है उस समय वह नोआगमभाव मनुष्य कहलायगा। ऐसा नियम है कि पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे जीवको नोआगमभावरूप पर्यायका निर्माण नहीं होता, क्योंकि पुद्गलविपाकी कर्मोंका फल जीवमें न होकर जीवसे एक क्षेत्रावगाही सम्बन्धको प्राप्त हुए शरीर आदिमें होता है। इसी भावको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कहा भी है—

णोआगमभावो पुण सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो।
पोग्गलविवाइयाणं णत्थि खु णोआगमो भावो ॥८६॥

इस गाथामें दो बातें स्पष्ट की गई हैं। पूर्वार्धमें तो यह बतलाया गया है कि अपने-अपने कर्मफलसे युक्त जीव नोआगमभाव कहा जाता है।

इसपर यह शंका हो सकती है कि पुद्गलविपाकी कर्मोंके फलसे युक्त भी तो जीव होता है, इसलिए जिस मनुष्य जीवको औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे औदारिकशरीरकी प्राप्ति हुई है उसके उस शरीरको भी नोआगम भाव मनुष्य कहा जाना चाहिए। इस प्रकार इस शंकाको मनमें करके उक्त गाथाके उत्तरार्ध द्वारा उसका समाधान किया गया है। आशय है कि पुद्गलविपाकी कर्मका फल जीवमें नहीं होता, अतः पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे होनेवाला कार्य जीवके नोआगमभाव संज्ञाको नहीं प्राप्त हो सकता। यह नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका ही अभिप्राय हो ऐसी बात नहीं है। वर्गणाखण्डमें विपाकप्रत्ययिक अजीवभावोंका निर्देश करते हुए स्वयं भगवान् पुष्पदन्त भूतबलीने विपाकजन्य रूप-रसादिकी ही ऐसे भावोंमें परिगणना की है (बन्धन सू० २१)। इससे भी स्पष्ट है कि आगम साहित्यमें मनुष्य शब्दका अर्थ मनुष्य पर्याय विशिष्ट जीव ही लिया है अन्य नहीं। उसे नोआगमभाव कहनेका भी यही अभिप्राय है।

यद्यपि निक्षेप व्यवस्थामें द्रव्यनिक्षेपरूपसे भी मनुष्यादि शब्दोंका व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। जैसे द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री, द्रव्यनपुंसक, द्रव्यमनुष्य, द्रव्यगोत्र, द्रव्यलेश्या, द्रव्यसंयम और द्रव्यमन आदि। इसलिए इस आधारसे कोई यह भी कह सकता है कि मनुष्य शब्दका व्यवहार केवल नोआगमभावरूप अर्थमें ही न होकर तद्व्यतिरिक्त नोकर्म द्रव्य अर्थमें भी होता है और प्रकृतमें तद्व्यरिक्त नोकर्मद्रव्यसे एक मात्र शरीरका ही ग्रहण किया जाता है। लोकमें भी कहा जाता है कि अमुक स्थानपर मनुष्य मरा पड़ा है वास्तवमें वहाँपर मनुष्य तो नहीं मरा पड़ा है। वह तो कभीका चल बसा है। इतना अवश्य है कि वहाँपर इसके निर्जीव शरीरको देखकर उसमें भी मनुष्य शब्दका व्यवहार किया गया है, इसलिए इस आधारसे यह कहना कि आगम साहित्यमें केवल नोआगमभाव मनुष्यका ही ग्रहण किया गया है तद्व्यतिरिक्त नोकर्मद्रव्यका नहीं उचित नहीं है? समाधान यह है कि यह हम मानते हैं कि लोकमें ऐसा व्यवहार होता है इसमें सन्देह

नहीं और अधिकतर मनुष्य इसी कारणसे भ्रममें भी पड़ जाते हैं। परन्तु आगममें गुणस्थान और मार्गणास्थानके लिए आई हुई जितनी भी संज्ञाएँ हैं वे नोआगमभावरूप ही ली गई हैं यह इसीसे स्पष्ट है कि वर्गणाखण्डमें चौदह मार्गणाएँ और उनके जितने भी अवान्तर भेद हैं उन सबकी व्याख्या तद्व्यतिरिक्त नोकर्मद्रव्यपरक न करके नोआगमभावपरक ही की गई है। क्षुल्लकबन्धका यह निर्देश अपनेमें मौलिक है और उससे आगमपरम्परामें क्या अभिप्रेत है इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। स्पष्ट है कि जहाँपर आगममें मनुष्य या मनुष्यिनी शब्द आया है उससे नोआगमभाव मनुष्य या मनुष्यिनीका ही ग्रहण करना चाहिए।

नोआगमभाव मनुष्योंके अवान्तर भेद—

इस प्रकार मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यजाति (सब मनुष्य) एक प्रकारकी होकर भी स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीन वेदनोकषायमोहनीय कर्म तथा पर्याप्त और अपर्याप्त नामककर्मके उदयकी अपेक्षा वह चार भागोंमें विभक्त हो जाती है। यथा—सामान्य मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यनी और मनुष्य अपर्याप्त। यहाँ पर ये जितने कर्म गिनाये हैं वे सब जीवविपाकी हैं, क्योंकि उनके उदयसे जीवकी अवस्थाओंका ही निर्माण होता है, पुद्गलकी अवस्थाओंका नहीं। मनुष्यजातिके उक्त अवान्तर भेद भी इन्हीं कर्मोंके उदयसे निर्मित होते हैं, अतः इन भेदोंको जीवके नोआगमभावरूप ही जानने चाहिए, मनुष्य शरीरके अवान्तर भेदरूप नहीं।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जिस जीवकी वर्तमान पर्याय जिन कर्मोंके उदयसे होती है उनका वर्तमान भवग्रहणके प्रथम समयमें ही उदय हो जाता है और जिन कर्मोंके उदयसे शरीररचना आदि होती है उनका उदय शरीरग्रहणके प्रथम समयमें होता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीनों वेदनोकषायकर्म तथा पर्याप्त और अपर्याप्त

नामकर्म इनके निमित्तसे वर्तमान पर्यायका निर्माण होता है, क्योंकि जीवको स्त्री, पुरुष या नपुंसक संज्ञा तथा पर्याप्त या अपर्याप्त संज्ञा भवके प्रथम समयमें ही मिल जाती है। इस दृष्टिसे किसी मनुष्यके शरीरमें दाढ़ी, मूछ या द्रव्यपुरुषके अन्य चिह्न हैं, इसलिए वह नोआगमभाव पुरुष है ऐसा नहीं कहा जा सकता है तथा किसी मनुष्यके शरीरमें कुच आदि द्रव्यस्त्रीके चिह्न हैं, इसलिए वह नोआगमभाव मनुष्यिनी है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये सब विशेषताएँ शरीरकी हैं जीवकी नहीं। इसी प्रकार कोई जीव अपने अङ्गोंसे परिपूर्ण है, इसलिए वह पर्याप्त है यह नहीं है तथा कोई मनुष्य विकलाङ्ग है, इसलिए वह अपर्याप्त है यह भी नहीं है, क्योंकि ये विशेषताएँ शरीरकी हैं जीवकी नहीं। किन्तु यहाँपर स्त्रीवेद आदि कर्मोंके उदयसे होनेवाले जीवभावोंका ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि ये सब कर्म जीवविपाकी हैं। इसलिए सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और मनुष्य अपर्याप्त ये चारों भेद मनुष्यगतिनामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य पर्याय विशिष्ट जीवोंके ही जानने चाहिए। इन्हीं सब विशेषताओंको ध्यानमें रखकर गोम्मटसार कर्मकाण्डके उदय प्रकरणमें इनके इस प्रकारसे लक्षण किये गये हैं—जिनके मनुष्यगतिका नियमसे तथा तीनों वेदोंमेंसे किसी एकका और पर्याप्त तथा अपर्याप्तमेंसे किसी एकका उदय होता है वे सब सामान्य मनुष्य हैं, जिनके मनुष्यगतिके साथ पुरुषवेद और नपुंसकवेदमेंसे किसी एकका तथा पर्याप्त नामकर्मका उदय होता है वे मनुष्य पर्याप्त हैं, जिनके मनुष्यगति, स्त्रीवेद और पर्याप्त नामकर्मका उदय होता है वे मनुष्यिनी हैं और जिनके मनुष्यगति, नपुंसकवेद तथा अपर्याप्त नामकर्मका उदय होता है वे मनुष्य अपर्याप्त है। इस प्रकार मनुष्योंके ये अवान्तर भेद भी नोआगमभावरूप हैं यह सिद्ध हो जाता है।

इस स्थितिके रहते हुए भी किन्हींके द्वारा मनुष्यनी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री किया जाना सम्भव है। इस बातको ध्यानमें रखकर वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें दो स्थलोंपर 'मनुष्यिनी' शब्दके अर्थपर विस्तारके

साथ विचार किया है। प्रथम स्थल जीवस्थान सत्प्ररूपणाके ९३ वे सूत्रकी टीका है। इस स्थलपर शंकाकारके द्वारा दो शंकाएँ उठवाई गई हैं। प्रथम शंका सम्यग्दर्शनसे सम्बन्ध रहती है और दूसरी शंकाका सम्बन्ध मुक्तिसे है। सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें शंका करते हुए शंकाकार कर्मसाहित्यके इस नियमसे तो परिचित है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव मरकर मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवोंमें उत्पन्न होता है वह पुरुषवेदी ही होता है, स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी नहीं होता। फिर भी वह यह स्वीकार कराना चाहता है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव मरकर हुण्डावसर्पिणी कालके दोषसे यदि स्त्रियोंमें उत्पन्न हो जाय तो क्या हानि है? इससे पूर्वोक्त नियम भो बना रहता है और अपवादरूपमें सम्यग्दृष्टियोंका मरकर स्त्रियोंमें उत्पन्न होना भी बन जाता है। वीरसेन स्वामीने इस शंकाका जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि इसी ९३ वें सूत्रमें निरपवाद रूपसे जब यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्यिनियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान नहीं होता। ऐसी अवस्थामें हुण्डावसर्पिणी काल दोषसे भी सम्यग्दृष्टि जीवोंका मरकर स्त्रियोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अतः यही मानना उचित है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियोंमें नहीं उत्पन्न होते।

शंकाकारने दूसरी शंका मनुष्यिनीशब्दका अर्थ मुख्यरूपसे द्रव्यस्त्री करके उठाई है। उसका कहना है कि जब इसी ९३ वे सूत्रके आधारसे मनुष्यिनीके चौदह गुणस्थान बन जाते हैं तब इस आगम वचनके अनुसार ही द्रव्यपुरुषके समान द्रव्यस्त्री भी मुक्तिकी पात्र है इसे स्वीकार कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वीरसेन स्वामीने इस शंकाका विस्तारके साथ समाधान किया है। उन्होंने प्रथम तो यह बतलाया है कि द्रव्यस्त्री अपने जीवनमें वस्त्रका त्याग नहीं कर सकती, अतः उसके भाव अधिकसे अधिक संयमासंयम गुणस्थान तकके ही हो सकते हैं। उसके आंशिकरूपमें द्रव्यसंयमके रहते हुए भी भावसंयम नहीं हो सकता, इसलिए द्रव्यस्त्रीका उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसपर यह शंका

होना स्वाभाविक है कि यदि द्रव्यस्त्रीको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तो उक्त सूत्रमें उसके चौदह गुणस्थान क्यों कहे गये हैं। वीरसेन स्वामीने इस शंकाका समाधान सब कार्मिक ग्रन्थोंमें स्वीकृत मार्गणाओंके स्वरूपको ध्यानमें रखकर किया है। क्षुल्लकबन्ध और अन्य प्रमाणोंका हवाला देकर यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि आगम परम्परामें सर्वत्र नोआगम भाव मार्गणाओंका आश्रय लेकर ही कथन हुआ है। प्रकृतमें वीरसेन स्वामीने भी इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर उत्तर दिया है। उत्तरका सार यह है कि यहाँपर मनुष्यिनी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री न होकर स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिका जीव है और ऐसे जीवके चौदह गुणस्थान बन सकते हैं। यही कारण है कि प्रकृत सूत्रमें मनुष्यिनीके चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव स्वीकार किया गया है।

इस उत्तरसे यद्यपि मूल प्रश्नका समाधान तो हो जाता है पर एक नई शंका उठ खड़ी होती है। वीरसेन स्वामीने उस शंकाको उठाकर उसका भी समाधान किया है। शंकाका सार यह है कि यहाँपर मनुष्यिनी शब्दका अर्थ स्त्रीवेदके उदयवाला मनुष्य जीव लेनेपर मनुष्यिनी शब्दका व्यवहार नौंवे गुणस्थान तक ही होना चाहिए। आगेके गुणस्थानोंमें किसी भी जीवको मनुष्यिनी कहना उचित नहीं है, क्योंकि आगे मनुष्यिनी शब्दके व्यवहारका कारण वेदनोकषायका उदय नहीं पाया जाता। शंका मार्मिक है और वीरसेन स्वामीने इसका जो उत्तर दिया है वह शंकाका समुचित उत्तर होकर भी सिद्धान्त ग्रन्थोंके और सभी कार्मिक ग्रन्थोंके आशयके अनुरूप है। इन ग्रन्थोंमें सर्वत्र चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके लिए उपयुक्त हुए शब्दोंके वाच्यार्थरूपसे जीवोंके भेद ही विवक्षित रहे हैं, शरीरके भेद नहीं, इसलिए प्रकृतमें मनुष्यिनी शब्दके वाच्यार्थ रूपसे स्त्रीवेदके उदयवाला मनुष्यगतिका जीव ही लिया गया है इसमें सन्देह नहीं। तथा इस दृष्टिसे इस शब्द का व्यवहार नौवें गुणस्थान तक ही होना चाहिए यह भी ठीक है। परन्तु आगे ऐसे

जीवका अन्य जीवसे पार्थक्य दिखलाना आवश्यक है, इसलिए नौवें गुणस्थानमें स्त्रीवेद गुणके नष्ट हो जानेपर भी आगे उस शब्दका गतिके आश्रयसे व्यवहार होता रहता है। लोकमें पुजारी और प्रोफेसर आदि जो संज्ञाएँ गुण या कर्मके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं उनमें भी इस प्रकारका व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् वह व्यक्ति पूजा आदि उस कर्मका त्याग भी कर देता है तो भी उस व्यक्तिके आश्रयसे पुजारी आदि शब्दकी प्रवृत्ति होती रहती है। नौवें गुणस्थानके आगे मनुष्यिनी शब्दके प्रयोगमें भी यही दृष्टि सामने रही है। यही कारण है कि यहाँपर मनुष्यिनीके चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव बतलाया गया है।

दूसरा स्थल वेदनाकालविधानके १२ वें सूत्रकी टीका है। यहाँ पर सिद्धान्त ग्रन्थोंमें स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ भाववेद है, द्रव्य स्त्रीवेद नहीं है इस अभिप्रायको दो प्रमाण देकर स्पष्ट किया गया है। यहाँ वेदनाकाल विधानके इस सूत्रमें अन्य वेदवालोंके साथ स्त्रीवेदी जीव भी नारकियों और देवोंसम्बन्धी तेतीस सागर आयुका बन्ध करते हैं यह कहा गया है। इस पर यह जिज्ञासा हुई कि यहाँ पर स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ क्या लिया गया है—भावस्त्रीवेद या द्रव्यस्त्रीवेद। वीरसेनस्वामीने एक अन्य प्रमाण देकर इस जिज्ञासाका समाधान किया है। अन्य प्रमाणमें स्त्रियों (द्रव्यस्त्रियों) का छटी पृथिवीतक मरकर जाना बतलाया है। किन्तु इस सूत्रमें स्त्रीवेदीके तेतीस सागरआयुके बन्धका विधान किया है। इस परसे वीरसेन स्वामीने यह फलित किया है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ भावस्त्रीवेद ही विवक्षित है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ पर इस सूत्रमें सूत्रकार अधिकसे अधिक बाईस सागर आयुके बन्धका ही विधान करते, क्योंकि द्रव्यस्त्री छटे नरकसे आगे नहीं जाती और छटे नरकमें उत्कृष्ट आयु बाईस सागर होती है। कदाचित् यह कहा जाय कि देवोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धकी अपेक्षा यहाँ पर स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ द्रव्यस्त्रीवेद लिया जावे तो क्या हानि है। परन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि देवों सम्बन्धी उत्कृष्ट आयुका

वन्ध निर्ग्रन्थके ही होता है और द्रव्यस्त्री निर्ग्रन्थ हो नहीं सकती, क्योंकि द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक वस्त्रादिका त्यागकर निर्ग्रन्थ नहीं हो सकते ऐसा छेदसूत्रका वचन है। इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें स्त्रीवेदसे भावस्त्रीका ही ग्रहण हुआ है।

इस प्रकार सब प्रकारसे विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें चौदह मार्गणाओंका विचार नोआगमभावरूप पर्यायकी दृष्टिसे ही किया गया है। उनमें मनुष्यजातिके अवान्तर भेद तो गर्भित हैं ही।

धर्माधर्म विचार—

नोआगमभाव मनुष्योंके ये अवान्तर भेद हैं। इनमें धर्माधर्मका विचार करते हुए षट्खण्डागममें बतलाया है कि सामान्यसे मनुष्य चौदह गुणस्थानोंमें विभक्त हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशामक और क्षपक, अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवर्ती उपशामक और क्षपक, सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती उपशामक और क्षपक, उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनी इनमें ये चौदह ही गुणस्थान होते हैं। किन्तु मनुष्य अपर्याप्तकोंमें एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। ये सब मनुष्य ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें पाये जाते हैं। किन्तु भोगभूमिके मनुष्य इसके अपवाद हैं, क्योंकि उनमें संयमासंयम और संयमकी प्राप्ति सम्भव न होनेसे केवल प्रारम्भके चार गुणस्थान ही होते हैं। कारणका निर्देश हम पिछले एक प्रकरणमें कर आये हैं।

षट्खण्डागममें प्रतिपादित इन चौदह गुणस्थानोंको मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन छह भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। प्रारम्भके दो गुणस्थान

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप होते हैं। तीसरा गुणस्थान मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इनके मिश्ररूप होता है तथा चारित्रकी अपेक्षा वहाँ एक असंयमभाव होता है। आगेके सब गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो सर्वत्र होता है। परन्तु चारित्रकी अपेक्षा चौथेमें असंयमभाव, पाँचवें गुणस्थानमें संयमासंयमभाव (श्रावकधर्म) और छटे आदि गुणस्थानोंमें संयमभाव (मुनिधर्म) होता है। पहले मनुष्योंके जिन तीन भेदोंमें चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्तिका निर्देश किया है उन सबमें पूर्ण मुनिधर्म तककी प्राप्ति सम्भव है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मात्र भोगभूमिके उक्त तीन प्रकारके मनुष्य इसके अपवाद हैं, क्योंकि उनमें गृहस्थधर्म और मुनिधर्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

कषायप्राभृत भी मूल आगमसाहित्य है। इस दृष्टिसे षट्खण्डागम और कषायप्राभृतके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों ग्रन्थोंमें बतलाया है कि दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्वका घात करनेवाला) कर्मका उपशम होकर चारों गतियोंमें पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त जीवके उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति सम्भव है। यह सब नरकोंमें, सब भवनवासी देवोंमें, सब द्वीप और सब समुद्रोंमें अर्थात् मध्यलोकमें रहनेवाले तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें, व्यन्तर देवोंमें, भवनवासी देवोंमें, सौधर्म कल्पसे लेकर नौग्रैवेयक तकके सब विमानवासी देवोंमें, वाहन आदि कर्ममें नियुक्त आभियोग्य जातिके देवोंमें तथा किल्विषक देवोंमें इस प्रकार सर्वत्र उत्पन्न होता है। उत्पन्न होनेके बाद यह अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। उसके बाद यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तो यह जीव पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है। परिणामोंकी बड़ी विचित्रता है। जिस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए चिरकाल तक अभ्यास किया वह क्षणमात्रमें विलीन हो जाता है। वेदकसम्यक्त्वकी प्राप्ति भी चारों गतियोंमें होती है। इसका भी ठहरनेका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। इस सम्यक्त्ववाला भी अपने सम्यक्त्वरूप परिणामोंसे च्युत

होकर मिथ्यादृष्टि हो सकता है। किन्तु क्षायिकसम्यक्त्वके विषयमें ऐसी बात नहीं है। यह सम्यक्त्वके विरोधी कर्मोंका सर्वथा अभाव करके ही उत्पन्न होता है,इसलिए उत्पन्न होनेके बाद इसका नाश नहीं होता। ऐसा जीव या तो उसी भवमें या तीसरे या चौथे भवमें सब कर्मोंका नाश कर नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। इसकी प्राप्तिके विषयमें ऐसा नियम है कि क्षायिक-सम्यक्त्वका प्रस्थापक तो कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है परन्तु इसकी परिपूर्णता यथायोग्य चारों गतियोंमें हो सकती है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसका प्रारम्भ तीर्थङ्कर केवली, सामान्य केवली या श्रुतकेवलीके पाद-मूलमें ही होता है।

संयमासंयम, जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे श्रावकधर्म कहते हैं, तिर्यञ्च और मनुष्य दोनोंके होता है। मात्र सबसे जघन्य और सबसे उत्कृष्ट संयमासंयम भाव मनुष्यके ही होता है। परन्तु मध्यम भावके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह यथासम्भव तिर्यञ्चोंके भी होता है और मनुष्योंके भी होता है। इसकी प्राप्ति कई प्रकारसे होती है। किसीको सम्यक्त्वकी प्राप्तिके साथ ही इसकी प्राप्ति होती है, किसीको पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और उसके बाद इसकी प्राप्ति होती है। तथा किसी मनुष्यको संयमभाव (मुनिधर्म) छूटकर इसकी प्राप्ति होती है। संयमा-संयम प्राप्त होनेपर वह जीवन पर्यन्त ही बना रहे ऐसा भी कोई नियम नहीं है। किसीके वह जीवन पर्यन्त बना रहता है और किसीके अन्तर्मुहूर्तमें छूटकर अन्य भाव हो जाता है। या तो उसके छूटनेके बाद असंयमभाव (अविरत दशा) हो जाता है या परिणामोंकी विशुद्धतावश मनुष्यके संयम-भाव (मुनिधर्म) हो जाता है। तात्पर्य यह है कि केवल बाह्य आचारसे इसका सम्बन्ध नहीं है। बाहरसे श्रावकधर्मका पालन करनेवाला भी असंयमी होता है और बाहरसे मुनिधर्मका पालन करनेवाला भी संयमा-संयमी या असंयमी हो सकता है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकमें कहा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥२३॥

अर्थात् निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गी है परन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है, अतः मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ।

परिणामोंकी बड़ी विचित्रता है, क्योंकि अन्तरङ्ग कार्यकी सम्हाल परिणामोंसे ही होती है । केवल बाह्य कारणकूट सहायक नहीं होते । सिद्धान्त ग्रन्थोंमें योग्यताका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है । कहाँ तो मनुष्य पर्याय और कहाँ तिर्यञ्च पर्याय । उसमें भी सम्मूर्छन तिर्यञ्च पर्याय तो उससे भी निकृष्ट होती है । फिर भी सम्मूर्छन तिर्यञ्च पर्याप्त होनेके बाद ही संयमासंयम भावको प्राप्त कर सकता है । किन्तु मनुष्यमें ऐसी योग्यता नहीं कि वह पर्याप्त होनेके बाद तत्काल इसे प्राप्त कर सके । मनुष्यको गर्भसे लेकर आठ वर्ष लगते हैं तब कहीं वह संयमासंयम या संयमभावको ग्रहण करनेका पात्र होता है ।

संयमभाव (मुनिधर्म) की प्राप्ति आदिके विषयमें भी वही सब व्यवस्था है जिसका उल्लेख संयमासंयमभावकी प्राप्ति आदिके प्रसङ्गसे कर आये हैं । किन्तु इसकी प्राप्ति तिर्यञ्च पर्यायमें न होकर मात्र मनुष्य पर्यायमें होती है । इसके लिए उसे कर्मभूमिज ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इसे कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज दोनों प्राप्त कर सकते हैं । इतना अवश्य है कि जो कर्मभूमिज मनुष्य संयमभावको प्राप्त करते हैं उनके यथासम्भव जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीनों प्रकारका संयमभाव होता है । किन्तु अकर्मभूमिजके वह मध्यम ही होता है । साधारण नियम यह है कि जो मनुष्य आगामी भवसम्बन्धी नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका बन्ध कर लेता है उसके संयमासंयमभाव और संयमभाव नहीं हो सकता । ऐसा मनुष्य यदि बाहरसे गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका पालन करता है तो भले ही करे । किन्तु अन्तरङ्गमें उसके गृहस्थधर्म और मुनिधर्मके भाव नहीं होते । मात्र आगामी भवसम्बन्धी देवायुका बन्ध करनेवालेके लिए

ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। देवायुका बन्ध होनेके बाद भी संयमासंयम और संयमभावकी प्राप्ति हो सकती है। इतना अवश्य है कि ऐसा मनुष्य क्षपकश्रेणिपर आरोहण नहीं कर सकता। उपशमश्रेणिकी प्राप्तिमें उसे कोई बाधा नहीं है। आगामी भवसम्बन्धी किस आयुका बन्ध होनेके बाद किस मनुष्यकी क्या योग्यता होती है इसके सम्बन्धमें यह व्यवस्था है। किन्तु जिसने आगामी भवसम्बन्धी किसी भी आयुकर्मका बन्ध नहीं किया उसे संयमासंयम और संयमभावको प्राप्त करनेमें कोई बाधा नहीं है। वह यदि चरमशरीरी है तो उसी भवमें आयुकर्मका बन्ध किये बिना क्षपकश्रेणिपर आरोहरकर मोक्षका पात्र होता है और यदि चरमशरीरी नहीं है तो जिसकी जैसी आन्तरिक योग्यता है उसके अनुसार उसे संयमासंयम या संयमभावकी प्राप्ति होती है। ऐसा मनुष्य इन परिणामोंके रहते हुए मात्र देवायुका बन्ध करता है। कदाचित् देवायुकर्मका बन्ध हुए बिना ये परिणाम छूटकर वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो वह नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका बन्धकर नरक और निगोद आदि दुर्गतियोंमें तथा मनुष्यगतिमें मरकर उत्पन्न हो सकता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसे संयमासंयम या संयमभावकी प्राप्ति हुई है वह नियमसे उत्तम गतिमें ही जाता है और ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि जो जीवन भर मिथ्यादृष्टि बना हुआ है वह नियमसे दुर्गतिका ही पात्र होता है। इतना अवश्य है कि संयमासंयमभावके साथ मरनेवाला तिर्यञ्च और मनुष्य तथा संयमभावके साथ मरनेवाला केवल मनुष्य नियमसे देव होता है। जो जीव अतिशीघ्र प्रथम बार सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है वह कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक संसारमें नियमसे परिभ्रमण करता है। ऐसा करते हुए उसे केवल उत्तमोत्तम गति और भोग ही मिलते हों ऐसा भी नहीं है। अन्य संसारी जीवोंके समान वह भी विविध प्रकारके सुख-दुःख और संयोग-वियोगका पात्र होता है। इस कालके भीतर यह जीव अधिकसे अधिक असंख्यात बार सम्यक्त्व और संयमासंयमको तथा इकतीस बार संयमको प्राप्त करके

भी छोड़ देता है और संसारमें परिभ्रमण करने लगता है। आगममें बतलाया है कि जिस नित्यनिगोदिया जीवने कभी भी निगोद पर्यायको छोड़कर अन्य पर्याय धारण नहीं की वह भी वहाँसे निकलकर त्रस-स्थावरसम्बन्धी कुछ पर्यायोंको धारण करनेके बाद मनुष्य हो सम्यक्त्व और संयमका पालन कर मोक्षका अधिकारी होता है और वहाँ यह भी बतलाया है कि यह जीव मनुष्य पर्यायमें सम्यक्त्व, संयम और उपशमश्रेणिको प्राप्त करनेके बाद भी वहाँसे च्युत हो परम निकृष्ट निगोदशाका पात्र होता है। तात्पर्य यह है कि धर्मको अमुक प्रकारके मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु अपनी अपनी योग्यतानुसार उसकी प्राप्ति चारों गतियोंमें होती है। नारकी, देव और भोगभूमिज जीव असंयमभावके साथ सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकते हैं, तिर्यञ्च सम्यक्त्वके साथ संयमासंयमभावको प्राप्त कर सकते हैं और कर्मभूमिज गर्भज सब प्रकारके मनुष्य सम्यक्त्वके साथ संयमासंयम और संयम दोनोंको प्राप्त कर सकते हैं। इस सम्बन्धमें शरीरकी दृष्टिसे जो अपवाद हैं उनका निर्देश धवला टीका व उसमें उल्लिखित प्राचीन प्रमाणोंके आधारसे हम कर ही आये हैं। यद्यपि हम कषायप्राभृतचूर्णिके आधारसे पहले यह बतला आये हैं कि अकर्मभूमिज मनुष्य भी कर्मभूमिज मनुष्योंके समान संयमासंयम और संयमधर्मको प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। परन्तु यह कथन विवक्षाभेदसे ही जानना चाहिए। विशेष खुलासा हम आगे करनेवाले हैं ही।

मनुष्योंके क्षेत्रकी अपेक्षासे दो भेद—

पिछले प्रकरणमें नोआगमभाव मनुष्योंके चार भेद करके उनमें धर्माधर्मका विचार कर आये हैं। यहाँ क्षेत्रकी अपेक्षा उनकी क्या संज्ञाएं हैं और उनमें कहाँ किस प्रमाणमें धर्मकी प्राप्ति होती है इसका विचार किया गया है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृतके अनुसार क्षेत्रकी अपेक्षा मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। कर्मभूमिजका अर्थ है कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले और अकर्मभूमिजका अर्थ है कर्मभूमियों

और उनसे प्रतिबद्ध तत्सम व्यवस्थावाले क्षेत्रसे बाहर उत्पन्न होनेवाले। षट्खण्डागमके अनुसार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंके मध्य पन्द्रह कर्मभूमियोंमें तथा कषायप्राभृतके अनुसार कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको क्षायिक सम्यग्दर्शनका प्रस्थापक कहा गया है। इससे विदित होता है कि ढाई द्वीप और दो समुद्रोंके अन्तर्गत पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे कर्मभूमिज मनुष्य कहलाते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि क्षेत्रकी दृष्टिसे लोक दो भागोंमें विभक्त है। देवलोक, नरकलोक और मध्यलोकका भोगभूमिसम्बन्धी क्षेत्र अकर्मभूमि है। तथा मध्यलोकका शेष प्रदेश कर्मभूमि है। कर्मभूमि और अकर्मभूमिकी व्याख्या यह है कि जहाँ पर आजीविकाके साधन जुटाने पड़ते हैं तथा सप्तम नरकके योग्य पापबन्ध या सर्वार्थसिद्धिके योग्य पुण्यबन्ध या दोनों सम्भव हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं और जहाँ पर आजीविकाके साधन नहीं जुटाने पड़ते तथा उनके निमित्तसे छीनाझपटी भी नहीं होती उसे अकर्मभूमि कहते हैं। षट्खण्डागम वेदना कालविधान अनुयोगद्वारके आठवें सूत्रमें कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय वेदनाका निर्देश करते हुए सूत्रकारने 'कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, और कर्मभूमिप्रतिभाग' शब्दोंका प्रयोग किया है। साथ ही उनकी व्याप्ति नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंके साथ बिठलाई है। इससे उक्त अर्थका ही बोध होता है। संक्षेपमें उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सात नरकभूमियोंमें उत्पन्न हुए नारकी, मध्यलोकके अकर्मभूमि (भोगभूमि) क्षेत्रमें उत्पन्न हुए सभी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य तथा चारों निकायोंके देव ये अकर्मभूमिज हैं। तथा मध्य लोकके शेष क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्च और मनुष्य कर्मभूमिज हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मनुष्य ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्योंका विचार इस क्षेत्रको ध्यानमें रखकर ही करना चाहिए। विवरण इसप्रकार है—

जम्बूद्वीपमें कुल क्षेत्र सात हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनमेंसे विदेहके तीन भाग हो जाते हैं। मेरुके दक्षिण और उत्तरका भाग क्रमसे देवकुरु और उत्तरकुरु कहलाता है। तथा पूर्व और पश्चिमके भागको विदेह कहते हैं। इसप्रकार जम्बूद्वीपमें कुल नौ क्षेत्र हैं। धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें इन क्षेत्रोंकी संख्या दूनी है। ये ढाई द्वीपके कुल पैंतालीस क्षेत्र होते हैं। इनमेंसे पाँच भरत, पाँच विदेह और पाँच ऐरावत ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं और शेष तीस क्षेत्र अकर्मभूमियाँ हैं। कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्य क्रमसे इन्हीं क्षेत्रोंमें उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका परिवर्तन होता रहता है। कभी वहाँ पर कर्मभूमिका प्रवर्तन होता है और कभी अकर्मभूमिका। वहाँ जिस समय जो काल प्रवर्तता है उसके अनुसार वहाँ पर कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्यों और तिर्यञ्चोंकी उत्पत्ति होती है। प्रसङ्गसे यहाँ पर इस बातका उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्रमें कुछ अन्तर्द्वीप हैं। उनमें भी मनुष्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अकर्मभूमिज ही होते हैं।

उत्तरकालीन अन्य जितना जैन साहित्य उपलब्ध होता है उसमें तिर्यञ्चों और मनुष्योंके इन भेदोंको इसी रूपमें स्वीकार किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ पर अकर्मभूमि शब्दके स्थानमें भोगभूमि शब्दका बहुलतासे प्रयोग हुआ है। इतना अवश्य है कि षट्खण्डागम कालविधान अनुयोगद्वारके उक्त उल्लेखके सिवा अन्यत्र नारकियों और देवोंको अकर्मभूमिज नहीं कहा गया है। इनमें कर्मभूमिज भेदका न पाया जाना ही इसका कारण है। कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और कर्मभूमिप्रतिभाग संज्ञा किनकी है इसका व्याख्यान धवलाकारने इन शब्दोंमें किया है—'पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। इनमेंसे अकर्मभूमिज जीव उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं करते।

किन्तु पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं यह जतानेके लिए सूत्रमें 'कम्मभूमियस्स पदका निर्देश किया है। भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके समान देवों और नारकियोंके तथा स्वयंप्रभपर्वतके बाह्य भागसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तकके इस कर्मभूमिप्रतिभागमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्चोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रतिषेध प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करनेके लिए 'अकम्मभूमियस्स' तथा 'कम्मभूमिपडिभागस्स' पदोंका निर्देश किया है। सूत्रमें 'अकम्मभूमियस्स' ऐसा कहने पर उससे देवों और नारकियोंका ग्रहण करना चाहिए। तथा 'कम्मभूमिपडिभागस्स' ऐसा कहने पर उससे स्वयंप्रभ नगेन्द्रके बाह्य भागमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्चोंका ग्रहण करना चाहिए।'

यहाँ पर हमने सभी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवराशिको दो भागोंमें विभाजित कर विचार किया है। साथ ही मनुष्योंके दो भेदोंका अलगसे निर्देश कर दिया है। यहाँ पर भी यद्यपि मनुष्य क्षेत्रकी प्रधानतासे कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज या कर्मभूमिज और भोगभूमिज कहे गये हैं। परन्तु इससे भी मनुष्यशरीरोंका ग्रहण न कर नोआगमभावरूप मनुष्योंका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आगममें मनुष्य शब्दका व्यवहार मनुष्य पर्याय विशिष्ट जीवोंके लिए ही किया गया है।

मनुष्योंके अन्य प्रकारसे दो भेद—

जैन साहित्यमें मनुष्योंके कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) इन भेदोंके सिवा आर्य म्लेच्छ ये दो भेद और दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु इन नामोंका उल्लेख न तो षट्खण्डागममें है, न कषायप्राभृतमें है और न कषायप्राभृतचूर्णिमें ही है। सर्वप्रथम इनका आभास हमें आचार्य कुन्दकुन्दके समयप्राभृतकी एक गाथासे होता हुआ जान पड़ता है, क्योंकि उस गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने 'अनार्य' शब्दका उल्लेख किया है जो मनुष्योंके आर्य और अनार्य या आर्य और म्लेच्छ इन भेदोंको सूचित करता है। उन्होंने उस गाथामें अनार्य शब्दका उल्लेख भाषाकी दृष्टिसे

किया है, इसलिए यह भी सम्भव है कि जो सुसंस्कृत भाषाको न जानता है उसके लिए यह शब्द आया हो। जो कुछ भी हो। इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि उस कालमें जैन साहित्यमें आर्य और अनार्य इन शब्दोंका व्यवहार होने लगा था। आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यके बाद जैन साहित्यमें तत्त्वार्थसूत्रका स्थान है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ इनके शिष्योंमेंसे अन्यतम थे। इसके तीसरे अध्यायमें एक सूत्र आया है जिसमें मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद किये गये हैं। इसकी उपलब्ध टीकाओंमें सर्वार्थसिद्धि प्रथम है। उसमें इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि 'जो गुणों या गुणवालोंके द्वारा माने जाते हैं वे आर्य हैं। उनके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धि-रहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकारके हैं—बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्य, विक्रिया ऋद्धि प्राप्त आर्य, तपऋद्धि प्राप्त आर्य, बलऋद्धि प्राप्त आर्य, औषध ऋद्धि प्राप्त आर्य, रसऋद्धि प्राप्त आर्य और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त आर्य। म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रके भीतर स्थित द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। ये सब म्लेच्छ होकर भी भोगभूमिज ही होते हैं। तथा शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।' सर्वार्थसिद्धिके बाद तत्त्वार्थसूत्रकी अन्य जितनी टीकायें उपलब्ध होती हैं वे सब प्रमुखतासे सर्वार्थसिद्धिमें की गई व्याख्याका ही अनुसरण करती हैं। मात्र तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंकी व्याख्या इन शब्दोंमें की गई है—'जिनके उच्चगोत्रका उदय आदि है वे आर्य कहलाते हैं और जिनके नीचगोत्रका उदय आदि है वे म्लेच्छ कहलाते हैं।' लगभग इसी कालमें लिखी गई धवला टीकामें यद्यपि आर्य और म्लेच्छ मनुष्यके स्पष्ट रूपसे उक्त लक्षण तो दृष्टिगोचर नहीं होते, परन्तु वहाँ पर म्लेच्छ होनेके कारण पृथुक राजाके नीचगोत्रके उदय होनेका निर्देश अवश्य किया है।

उसका आशय यही प्रतीत होता है कि जितने म्लेच्छ मनुष्य होते हैं उन सबके नीचगोत्रका उदय होता है। साथ ही उच्चगोत्रके लक्षणके प्रसङ्गसे कुछ विशेषणोंके साथ आर्योंकी सन्तान (परम्परा) को उच्चगोत्र कहा है। विदित होता है कि वीरसेन आचार्यको भी आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंके वे लक्षण मान्य रहे हैं जिनका निर्देश तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें आचार्य विद्यानन्दने किया है।

आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंका विशेष विचार त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि लोकानुयोगके ग्रन्थोंमें भी किया गया है। किन्तु वहाँ पर इन भेदोंको मुख्यरूपसे भूखण्डोंके आधारसे विभाजित किया गया है। वहाँ बतलाया है कि भरतक्षेत्र विजयार्ध पर्वतके कारण मुख्यरूपसे दो भागोंमें विभक्त है—उत्तर भरत और दक्षिण भरत। उसमें भी ये दोनों भाग गङ्गा और सिन्धु महानदियोंके कारण तीन-तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं। विजयार्धके दक्षिणमें स्थित मध्यका भाग आर्यखण्ड है और शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डोंका यह विभाग विदेह क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रमें भी उपलब्ध होता है। स्पष्ट है कि इन सब क्षेत्रोंके आर्यखण्डोंमें आर्य मनुष्य निवास करते हैं और म्लेच्छ खण्डोंमें म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। यहाँ जिन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंको म्लेच्छ मनुष्य कहा गया है उनके म्लेच्छ होनेके कारणका निर्देश करते हुए आचार्य जिनसेन महापुराणमें कहते हैं कि 'ये लोग धर्म-कर्मसे रहित हैं, इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं। यदि धर्म-कर्मको छोड़कर अन्य आचारकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो ये आर्यावर्तके मनुष्योंके ही समान होते हैं।' इस कथनका तात्पर्य यह है कि आर्यावर्तके मनुष्योंमें अन्य जो विशेषताएँ होती हैं वे सब विशेषताएँ इनमें भी उपलब्ध होती हैं। मात्र ये धर्म-कर्मसे रहित होते हैं, इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं।

यहाँ पर प्रसङ्गसे इस बातका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धिमें आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंका जिस रूपमें विचार

किया गया है, त्रिलोकप्रज्ञप्तिका विचार उससे कुछ भिन्न है। म्लेच्छोंके विचारके प्रसङ्गसे आचार्य पूज्यपाद यह नहीं कहते कि भरतादि क्षेत्रोंमें पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं और उनमें रहनेवाले मनुष्य ही म्लेच्छ हैं। वे तो कर्मभूमिज म्लेच्छोंमें मात्र शक, यवन, शवर और पुलिन्द आदिको ही गिनते हैं, इनके सिवा उनकी दृष्टिमें और भी कोई कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं ऐसा सर्वार्थसिद्धिसे ज्ञात नहीं होता। इतना अवश्य है कि वहाँ पर आचार्य पूज्यपादने ऋद्धि रहित आर्योंके पाँच भेदोंमें एक भेद क्षेत्रार्यका भी उल्लेख किया है और इस परसे कई महानुभाव उनके मतसे म्लेच्छोंका भी एक भेद इसप्रकारका मानते हैं। परन्तु आचार्य पूज्यपाद ऐसा मानते थे ऐसा उनकी टीकासे ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उन्होंने जिसप्रकार आर्योंके पाँच भेदोंका उल्लेख किया है उस प्रकार म्लेच्छोंके भेद नहीं किये हैं।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है। उसमें बतलाया है कि 'विजयार्ध' के दक्षिणमें और कैलाशके उत्तरमें बहुतसे देश हैं। उनमें एक अर्धबर्बर नामका भी देश है। जहाँ पर संयमकी प्रवृत्ति नहीं है और वहाँके रहनेवाले घोर म्लेच्छ और निपट अज्ञानी हैं।···उन्होंने आर्य देशोंपर आक्रमण कर समस्त जगतको म्लेच्छमय बना डाला है। वे समस्त प्रजाको वर्णहीन बनाना चाहते हैं।···उन्हें साधुओं, गायों और श्रावकोंकी जरा भी चिंता नहीं है। आदि।' पद्मपुराणका यह उल्लेख इस बातका साक्षी है कि इस भारतवर्षमें ही प्रारम्भसे कुछ ऐसी जातियाँ रही हैं जो आचार-विचारसे और कर्मसे हीन होनेके कारण म्लेच्छ कही जाती थीं। आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकामें कर्मभूमिज म्लेच्छरूपसे जिन शक, यवनादिका उल्लेख किया है वे यही हों यह बहुत सम्भव है। इस प्रकार मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ भेदोंके विषयमें जैन साहित्यमें जो उल्लेख मिलते हैं उन्हें संक्षेपमें इन शब्दोंमें व्यक्त करना ठीक होगा—बहुतसे मनुष्य आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके कारण आर्य कहलाते हैं। परन्तु इनसे गुणार्य श्रेष्ठ हैं। जो मनुष्य प्रायः धर्म-कर्महीन म्लेच्छ क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु योग्य सम्पर्क

मिलने पर धर्ममें रुचि रखते हैं और उसका पालन करते हैं वे आर्य ही हैं। तथा जो मनुष्य आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु धर्म-कर्मसे हीन हैं वे म्लेच्छ ही हैं। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य म्लेच्छ क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके कारण म्लेच्छ कहे जाते हैं। परन्तु वे उस क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके कारण ही म्लेच्छ नहीं हो सकते। यदि उनके कर्म म्लेच्छोंके समान हों तो ही वे म्लेच्छ माने जा सकते हैं। यदि म्लेच्छ क्षेत्रमें उत्पन्न होकर भी किसीका कर्म आर्योंके समान हो तो वह आर्य ही है। इसी प्रकार जो आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होकर भी कर्मसे म्लेच्छ है वह क्षेत्रसे आर्य होकर भी म्लेच्छ ही है। वास्तवमें जैनधर्म एक तो मनुष्योंमें आर्य और म्लेच्छ ये भेद स्वीकार ही नहीं करता। षट्खण्डागम आदि प्राचीन जैन साहित्यमें इस प्रकारके भेदोंके दृष्टिगोचर न होनेका यही कारण है। यदि मनुष्योंमें आर्य और म्लेच्छ रूपसे कोई भेदक रेखा खींची ही जाती है तो वह गुणकृत ही हो सकती है, क्षेत्रकृत नहीं यह उक्त कथनका सार है।

एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख—

कषायप्राभृत चूर्णिमें संयम (भाव मुनिधर्म) के प्रसङ्गसे एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख आता है। वहाँ बतलाया है कि संयमको धारण करनेवाले मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। जो कर्मभूमिज मनुष्य होते हैं उनमें संयमभावके प्रतिपद्यमान स्थानोंके जघन्य स्थानसे लेकर उत्कृष्ट स्थान तकके संयमके जितने विकल्प होते हैं वे सब पाये जाते हैं। किन्तु जो अकर्मभूमिज मनुष्य होते हैं उनमें इन स्थानोंके मध्यम विकल्प ही उपलब्ध होते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि षट्खण्डागम, कषायप्राभृत और कषायप्राभृतचूर्णि इस सब मूल आगम साहित्यमें संयमभावका उत्कृष्ट काल कुछ कम (आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तकम) एक पूर्वकोटि बतलाया है, क्योंकि अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटिकी आयुवाला मनुष्य गर्भसे लेकर आठ वर्षका होने पर यदि संयमको धारण करता है तो संयमका उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटिसे अधिक नहीं

उपलब्ध होता। साथ ही वहाँ पर कर्मभूमिजकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि तथा अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) की जघन्य आयु एक समय अधिक एक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यप्रमाण बतलाई है, इसलिए यह प्रश्न उठता है कि कषायप्राभृतके चूर्णिकारने संयमभावसे युक्त कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्योंसे किनको स्वीकार किया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि षट्खण्डागमके अभिप्रानुसार पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य एकमात्र कर्मभूमिज ही माने गये हैं। षट्खण्डागममें मनुष्योंके कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज ये भेद अवश्य स्वीकार किये गये हैं पर वहाँ पर वे भेद उस अर्थमें नहीं आये हैं जो अर्थ यहाँ पर कषायप्राभृतचूर्णिके आधारसे आचार्य जिनसेनने किया है। स्पष्ट है कि कषायप्राभृतचूर्णिमें इन शब्दोंका कोई दूसरा अर्थ होना चाहिए। प्रकृतमें यही विचारणीय है कि वह अर्थ क्या हो सकता है? प्रश्न महत्त्वका है। इससे जिस महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश पड़ना संभव है उसका निर्देश हम आगे करनेवाले हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम उस अर्थका विचार करना है।

कषायप्राभृतचूर्णिकी मुख्य टीका जयधवला है। धवलामें भी दो स्थलोंपर चारित्रकथनके प्रसङ्गसे यह विषय आया है। एक स्थल पर तो अनुमानतः वही शब्द दुहराये गये हैं जो चूर्णिसूत्रमें उपलब्ध होते हैं। मात्र दूसरे स्थल (जीवस्थान चूलिका पृ० २८५) पर प्रतिपादनशैलीमें कुछ अन्तर है। किन्तु दोनों स्थलोंका मध्यका महत्त्वपूर्ण अंश त्रुटित होनेके कारण उस परसे ठीक निष्कर्ष निकालना कठिन है। विचारको चालना देनेमें इन स्थलोंका उपयोग हो सकता है इतना अवश्य है। फिर भी इन स्थलोंको छोड़कर यहाँ पर हम जयधवलाके आधारसे ही विचार करते हैं। जयधवलामें कषायप्राभृतचूर्णिके उक्त अंशकी व्याख्या करते हुए 'कर्मभूमिज' शब्दका अर्थ पन्द्रह कर्मभूमियोंके मध्यके विनीत संज्ञावाले खण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्य किया है और 'अकर्मभूमिज' शब्दका

अर्थ पन्द्रह कर्मभूमियोंके इस मध्यके खण्डको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य किया है। ये पाँच खण्ड कर्मभूमिके अन्तर्गत हैं, इसलिए इन्हें यहाँ अकर्मभूमिज क्यों कहा है इसका समाधान करते हुए वहाँ पर कहा गया है कि इन खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए इन्हें अकर्मभूमिज कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। इस पर यह शंका हुई कि यदि इन खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं है तो यहाँके निवासी संयमको कैसे धारण कर सकते हैं ? इसका वहाँ पर दो प्रकारसे समाधान किया गया है। प्रथम तो यह कि दिशाविजयके समय चक्रवर्तीके स्कन्धावारके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यके खण्डमें आकर चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं उन्हें संयमको धारण करनेमें कोई बाधा नहीं आती। अथवा कहकर दूसरा अर्थ यह किया गया है कि जो म्लेच्छ राजाओंकी कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही जाती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न हुए बालक मातृपक्षकी अपेक्षा यहाँ पर अकर्मभूमिज कहे गये हैं, इसलिए भी अकर्मभूमिजोंमें संयमको धारण करनेकी पात्रता बन जाती है। लब्धिसार क्षपणासारमें कर्मभूमिजका अर्थ आर्य और अकर्मभूमिजका अर्थ म्लेच्छ करनेका यही कारण है। तथा इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर केशववर्णीने भी अपनी लब्धिसार क्षपणासारकी टीकामें यह अर्थ स्वीकार किया है।

यह बात तो स्पष्ट है कि जो अकर्मभूमि अर्थात् भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं वे संयमासंयम और संयमको धारण नहीं कर सकते, इसलिए कषायप्राभृतचूर्णिमें आये हुए अकर्मभूमिजका अर्थ भोगभूमिज तो होना नहीं चाहिए। बहुत सम्भव है कि इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आचार्य जिनसेनने कर्मभूमिजका अर्थ आर्य और अकर्मभूमिजका अर्थ म्लेच्छ किया है। किन्तु इस कथनसे जो विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है उसका निर्वाह कैसे हो, सर्व प्रथममें यह बात यहाँ पर विचारणीय है। बात यह है कि पाँच भरत, पाँच विदेह और पाँच ऐरावत ये पन्द्रह

कर्मभूमियाँ हैं, इसलिए यह मानना तो युक्त नहीं कि यहाँ जिन्हें म्लेच्छ खण्ड कहा गया है उन क्षेत्रोंमें कर्मकी प्रवृत्ति नहीं है। 'कर्म' शब्दके हम पहले दो अर्थ कर आये हैं। एक तो कृषि आदि साधनोंसे आजीविका करना और दूसरा सप्तम नरकमें जाने योग्य पाप या सर्वार्थसिद्धिमें जाने योग्य पुण्यके बन्धकी योग्यताका होना। म्लेच्छ खण्डोंमें भोगभूमिकी रचना नहीं है, इसलिए वहाँके निवासी मनुष्य कृषि आदिसे ही अपनी आजीविका करते हैं यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। यह हो सकता है कि वहाँ धर्मका प्रचार अधिक मात्रामें न होनेके कारण हिंसादि कर्मोंकी बहुलता हो। पर इतने मात्रसे वहाँ कृषि आदि कर्मोंका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँके मनुष्य अन्न खाते ही नहीं होंगे यह कैसे माना जा सकता है? तथा वहाँके मनुष्य हिंसाबहुल होते हैं, इसलिए उनमेंसे कुछ सप्तम नरककी आयुका बन्ध करते हों यह भी सम्भव है। जैसा कि भोगभूमिका नियम है कि वहाँ उत्पन्न होनेवाले प्राणी मरकर नियमसे देव होते हैं ऐसा पाँच म्लेच्छ खण्डोंके लिए कोई नियम नहीं है। यहाँ पर उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके लिए चारों गतियोंका प्रवेशद्वार सदासे खुला हुआ है, इसलिए यहाँ पर सब प्रकारके कर्मकी प्रवृत्ति होती है यह माननेमें आगमसे रञ्चमात्र भी बाधा नहीं आती। अब रही धर्मप्रवृत्तिकी बात सो इस विषयमें आगमका अभिप्राय यह है कि कर्मभूमि सम्बन्धी जो भी क्षेत्र है, चाहे वह स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें स्थित कर्मभूमिसम्बन्धी क्षेत्र हो और चाहे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें स्थित कर्मभूमिसम्बन्धी क्षेत्र हो, उस सबमें आचारधर्मकी प्रवृत्ति न्यूनाधिकमात्रामें नियमसे पाई जाती है। अन्यथा स्वयंप्रभपर्वतके पर भागमें स्थित स्वयंभूरमण द्वीपमें और स्वयंभरमण समुद्रमें तिर्यञ्चोंके संयमासंयमका सद्भाव नहीं बन सकता। कर्मभूमिसम्बन्धी सब म्लेच्छ खण्डोंमें तथा लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रमें तिर्यञ्च तो सम्यक्त्व और संयमासंयमके धारी हों और पन्द्रह कर्मभूमिसम्बन्धी सब म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्य

किसी भी प्रकारके आचार धर्मसे सर्वथा शून्य हों ऐसी न तो आगमकी आज्ञा ही है और न यह बात बुद्धिग्राह्य ही हो सकती है। इसलिए इन खण्डोंमें धर्मकी प्रवृत्ति नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृतके अभिप्रायानुसार पन्द्रह कर्मभूमियोंमें क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निर्देश हम पहले कर आये हैं। इस प्रसङ्गसे आये हुए सूत्रका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने यह स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है कि एक तो ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें स्थित सब जीव दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ नहीं करते। दूसरे भोगभूमिके जीव दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ नहीं करते, केवल पन्द्रह कर्मभूमिके मनुष्य ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ करते हैं यह दिखलानेके लिए सूत्रमें 'पन्द्रह कर्मभूमियोंमें' पदका निर्देश किया है। इन पन्द्रह कर्मभूमियोंमें आर्य और म्लेच्छ सभी खण्ड गर्भित हैं। यहाँ केवल आर्यखण्ड ही नहीं लिए गये हैं उसका परिज्ञान षट्खण्डागमके मूल सूत्रसे तो होता ही है। धवला टीकाके उक्त उल्लेखसे भी उसका समर्थन होता है। सोचनेकी बात है कि देव नरकोंमें तथा मध्य लोकके अन्य द्वीप-समुद्रोंमें जाकर धर्मोपदेश करें और उसे सुनकर नारकी सम्यक्त्वको स्वीकार करें तथा तिर्यञ्च सम्यक्त्व सहित संयमासंयमको धारण करें यह तो सम्भव माना जाय पर म्लेच्छ खण्डोंमें जाकर किसीका वहाँके मनुष्यों-को धर्मोपदेश देना और उसे सुनकर उनका सम्यक्त्वको या सम्यक्त्व सहित संयमासंयम और संयमको धारण करना सम्भव न माना जाय, भला यह कैसे सम्भव हो सकता है? वहाँके रहनेवाले मनुष्योंके मनुष्यगति नाम-कर्मका उदय है, वे संज्ञी हैं, पञ्चेद्रिय हैं और पर्याप्त हैं। वह क्षेत्र भी कर्मभूमि है। ऐसी अवस्थामें वहाँसे आर्यखण्डमें आकर वे सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमको धारण कर सकें और वहाँ न कर सकें ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। आगममें सिद्ध होनेवाले जीवोंके अल्पबहुत्वका निर्देश करते हुए स्फुट कहा है कि 'लवणसमुद्र सिद्ध सबसे

स्तोक होते हैं, उनसे कालोदधि समुद्र सिद्ध संख्यातगुणे होते हैं, उनसे जम्बूद्वीप सिद्ध संख्यातगुणे होते हैं, उनसे धातकीखण्ड सिद्ध संख्यातगुणे होते हैं और उनसे पुष्करार्ध द्वीप सिद्ध संख्यातगुणे होते हैं। क्या यहाँ यह मान लिया जाय कि जो जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करार्धद्वीपसे सिद्ध होते हैं वे केवल आर्यखण्डोंसे ही मोक्षलाभ करते हैं, म्लेच्छखण्डोंसे नहीं। और यदि उक्त प्रमाणके बलसे यह मान लिया जाता है जिसे माननेके लिए पर्याप्त आधार है कि वहाँसे भी बहुतसे मनुष्य सिद्ध होते हैं तो उनका वहाँ पर विहार करना और धर्मोपदेश देना भी बन जाता है। मूल आगम-से इसका निषेध न होकर समर्थन ही होता है।

जैन साहित्यमें यह भी बतलाया है कि चारण ऋद्धिधारी मुनि ढाई द्वीपके भीतर सर्वत्र संचार करते हैं। वे मेरु पर्वत और अन्य स्थानोंमें स्थित जिन चैत्यालयोंकी वन्दनाके लिए जाते हैं। साधारणतः ढाई द्वीपमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जो उनके लिए अगम्य हो। महापुराणमें आचार्य जिनसेनने श्री ऋषभ जिनके पूर्वभवसम्बन्धी कथा प्रसङ्गसे बतलाया है कि जब भगवान् आदिनाथका जीव महाबल राजा थे तब उनका स्वयंबुद्ध मन्त्री मेरु पर्वतके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना करनेके लिए गये और वहाँके सौमनसवनसम्बन्धी चैत्यालयमें उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनिकी वन्दना कर महाबल राजाके सम्बन्धमें प्रश्न पूछा। इसी आशयको व्यक्त करनेवाली वहाँ एक दूसरी कथा आती है। उसमें बतलाया है कि जब भगवान् आदिनाथका जीव जम्बूद्वीपके उत्तरकुरुमें उत्तम भोगभूमिके सुख भोग रहे थे तब वहाँ पर आकर दो चारणऋद्धिधारी मुनियोंने उन्हें सम्बोधा। इससे स्पष्ट है कि चारणऋद्धिधारी मुनि ढाई द्वीपमें जिन चैत्यालयोंकी वन्दना करनेके लिए तो जाते ही हैं। साथ ही वे आर्यक्षेत्रोंके सिवा अन्य क्षेत्रोंमें धर्मोपदेश देनेके लिए भी जाते हैं। इसी प्रकार विद्याधरों और देवोंका भी ढाईद्वीपके सभी क्षेत्रोंमें गमनागमन होता रहता है यह भी आगमसे सिद्ध है, इसलिए पन्द्रह कर्मभूमियोंके पाँच म्लेच्छ

खण्डोंमें केवली जिन, चारणऋद्धिधारी मुनि, विद्याधर और देव जाँय और धर्मोपदेश देकर धर्मकी प्रवृत्ति करें इसमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती।

इस प्रकार आगम और युक्तिसे यह सिद्ध हो जाने पर कि पन्द्रह कर्मभूमियोंके पाँच म्लेच्छ खण्डोंमें भी आर्य खण्डके समान धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति होती है, हमें इसके प्रकाशमें कषायप्राभृतचूर्णिमें संयमके प्रसङ्गसे आये हुए कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज शब्दोंके अर्थ पर विचार करना है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह संयम (मुनिधर्म) का प्रकरण है और संयमको कर्मभूमिज मनुष्य ही धारण कर सकते हैं, इसलिए प्रकृतमें 'कर्मभूमिज' शब्दका अर्थ होता है पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य। अब रहा अकर्मभूमिज शब्द सो उसका शब्दार्थ तो भोगभूमिज मनुष्य ही होता है। पर भोगभूमिज मनुष्यका प्राकृतिक जीवन सुनिश्चित है। इस कारण उनका संयमासंयम और संयमको धारण करना किसी भी अवस्थामें नहीं बनता, इसलिए प्रकृतमें 'अकर्मभूमिज' शब्दका कोई दूसरा अर्थ होना चाहिए। हमने इसपर पर्याप्त विचार किया है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि ढाईद्वीपके पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके अनुसार छह कालोंका परिवर्तन होता रहता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ पर कभी भोगभूमिकी और कभी कर्मभूमिकी प्रवृत्ति चालू रहती है। जब भोगभूमिकी प्रवृत्ति चालू रहती है तब वहाँके सब मनुष्योंका आहार-विहार, आयु और काय भोगभूमिके अनुसार होता है और जब कर्मभूमिकी प्रवृत्ति चालू रहती है तब वहाँके सब मनुष्योंका आहार-विहार, आयु और काय कर्मभूमिके अनुसार होता है। परन्तु इन दोनोंके सन्धिकालमें स्थिति कुछ भिन्न होती है। अर्थात् भोगभूमिका काल शेष रहने पर भी कर्मभूमिकी प्रवृत्ति चालू हो जाती है या कर्मभूमिका काल शेष रहने पर भी भोग-भूमिके लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। इसके लिए वर्तमान अव सर्पिणीका तीसरा काल उदाहरणरूपमें उपस्थित करना अनुचित न होगा।

इसके अन्तिम भागमें जब लाखों करोड़ों वर्ष शेष थे तब आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव हुए थे। उन्होंने अपनी गृहस्थ अवस्थामें आजीविकाके छह कर्मोंका उपदेश दिया था और अन्तमें मुनिधर्म स्वीकार कर केवलज्ञान होने पर मोक्षमार्गका भी उपदेश दिया था। यदि कालकी दृष्टिसे विचार किया जाता है तो यह अकर्मभूमिसम्बन्धी ही काल ठहरता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी इसमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति चालू हो गई थी। बहुत सम्भव है कि ऐसे मनुष्योंको लक्ष्यमें रखकर ही आचार्य यतिवृषभने कषायप्राभृतचूर्णिमें अकर्मभूमिज मनुष्योंमें संयमके प्रतिपद्यमान स्थानोंका निर्देश किया है।

एक तो कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज शब्दोंका अर्थ आर्य और म्लेच्छ आचार्य जिनसेनने किया है। और कदाचित् यह मान भी लिया जाय कि इन शब्दोंका यह अर्थ आचार्य यतिवृषभको भी मान्य रहा है तो भी यह दिखलानेके लिए कि इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें संयम ग्रहण करनेकी पात्रता है उन्होंने कर्मभूमिज मनुष्योंके ही कर्मभूमिज (आर्य) और अकर्मभूमिज (म्लेच्छ) ये भेद करके उनमें संयमके प्रतिपद्यमान स्थानोंका निर्देश किया है। तथापि यदि यहाँपर दूसरे अर्थको ही प्रमुखरूपसे ग्राह्य माना जाता है तो भी उसके आधारसे आचार्य जिनसेनने जो यह अर्थ किया है कि 'जो पाँच खण्डके म्लेच्छ राजा दिशा दिग्विजयके समय चक्रवर्तीके स्कन्धावारके साथ मध्यके खण्डमें आकर चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं उन्हें संयम धारण करनेमें कोई बाधा नहीं आती। अथवा जो म्लेच्छ राजाओंकी कन्यायें चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही जाती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न हुए बालक मातृपक्षकी अपेक्षा अकर्मभूमिज होनेसे उन्हें संयम धारण करनेमें कोई बाधा नहीं आती।' वह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि म्लेच्छखण्डोंमें भी धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति माननेमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती है। इस पूरे प्रकरणका संक्षेपमें सार यह है कि—

(१) जो मनुष्य कर्मभूमिज हैं, पर्याप्त हैं और जो कर्मभूमिसम्बन्धी किसी भी क्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैं वे सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमधर्मके पूर्ण अधिकारी हैं।

(२) आर्यक्षेत्रमें जाकर आर्योंके साथ वैवाहिक (सामाजिक) सम्बन्ध स्थापित करने पर ही म्लेच्छ मनुष्य संयमधर्मके अधिकारी होते हैं आगममें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

(३) तथाकथित म्लेच्छ देशोंमें प्रवृत्तिधर्मकी न्यूनता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ पर प्रवृत्तिधर्म होता ही नहीं।

(४) आगमके अभिप्रायानुसार जो पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं वे कर्मभूमिज मनुष्य हैं और जो तीस अकर्मभूमियों तथा अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न होते हैं वे अकर्मभूमिज मनुष्य हैं, इसलिए प्रकृतमें कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज शब्दोंकी संगति इन लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर ही बिठलानी चाहिए।

(५) कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज शब्दोंका आर्य और म्लेच्छ अर्थ एक तो आगममें किया नहीं है। सबसे पहले उक्त शब्दोंका यह अर्थ आचार्य जिनसेनने किया है। इसके पूर्ववर्ती कोई भी आचार्य इस अर्थको स्वीकार नहीं करते। दूसरे इन शब्दोंका आर्य और म्लेच्छ अर्थ स्वीकार कर लेने पर भी उससे यह फलित नहीं होता कि म्लेच्छखण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्युत उससे यही सिद्ध होता है कि आर्यखण्डों के समान म्लेच्छखण्डोंमें भी धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति होती है। वहाँ संयमासंयम और संयमधर्मकी प्रवृत्ति न्यूनमात्रामें हो यह अलग बात है।

धर्माधर्मविचार—

पहले हम नोआगमभाव मनुष्योंके चार भेद करके तथा उनमेंसे लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योंको छोड़कर शेष तीन प्रकारके भेदोंमें चौदह गुण-स्थानोंका निर्देश कर आये हैं। वे तीन प्रकारके मनुष्य ही यद्यपि यहाँपर

कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज इन दो भागोंमें बटे हुए हैं, तथापि अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) मनुष्य संयमासंयम और संयमधर्मके अधिकारी नहीं होते। इसलिए उनमें प्रारम्भके चार गुणस्थानोंकी और कर्मभूमिज मनुष्योंमें चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्ति सम्भव है। इतना अवश्य है कि जो अकर्मभूमिज मनुष्य उसी भवमें अतिशीघ्र सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है वह गर्भसमयसे लेकर नौ मास और उनचास दिनका होने पर ही उसे उत्पन्न कर सकता है। तथा जो कर्मभूमिज मनुष्य उसी भवमें अतिशीघ्र सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है वह गर्भसे लेकर आठ वर्षका होनेपर ही उसे उत्पन्न करनेका पात्र होता है। कर्मभूमिज मनुष्योंमें संयमासंयम और संयमके उत्पन्न करनेके लिए भी यही नियम है। कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज ये भेद तिर्यञ्चोंमें भी सम्भव हैं, इसलिए वहाँ पर भी मनुष्योंके समान गुणस्थानोंका विचार कर लेना चाहिए। मात्र तिर्यञ्चोंमें संयमधर्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, इसलिए अकर्मभूमिज तिर्यञ्चोंमें चार और कर्मभूमिज तिर्यञ्चोंमें पाँच गुणस्थान ही जानने चाहिए। इतना अवश्य है कि जो तिर्यञ्च उसी भवमें अतिशीघ्र सम्यक्त्व और संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं वे गर्भसे लेकर दो माह और अन्तर्मुहूर्तके होनेपर ही उन्हें उत्पन्न करनेके पात्र होते हैं। मात्र सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन्हें उत्पन्न करनेके अधिकारी हैं। विशेष व्याख्यान जिस प्रकार पूर्वमें धर्माधर्मका विचार करते समय कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिए।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ये भेद मूल आगम साहित्यमें उपलब्ध नहीं होते। तथापि उत्तरकालीन जिनसेन प्रभृति आदि आचार्योंने इन भेदोंकी संगति आचार्य यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें निर्दिष्ट कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्योंके साथ बिठलाई है। उनके कथनका सार यह है कि आर्य कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) दोनों प्रकारके होते हैं। तथा म्लेच्छ भी कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज (अन्तर्द्वीपज) दोनों प्रकारके होते हैं। यहाँ इतना अवश्य

ही ध्यानमें रखना चाहिए कि आचार्य जिनसेन कर्मभूमिज म्लेच्छोंको भी अकर्मभूमिज ही कहते हैं। आर्य और म्लेच्छ भेदोंकी कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्योंके साथ जिस रूपमें भी सङ्गति बिठलाई जाय उसीको ध्यानमें रखकर इन भेदोंमें धर्माधर्मका विचार कर लेना चाहिए। इतना अवश्य ही ध्यानमें रहे कि आचार्य जिनसेनका वह कथन प्रकृतमें ग्राह्य नहीं हो सकता जिसके अनुसार उन्होंने म्लेच्छ खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका सर्वथा निषेध किया है। हाँ यदि उन्होंने यह कथन वहाँ धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति न्यून है इस अभिप्रायसे किया हो तो बात दूसरी है।

इस प्रकार आगमसाहित्यके आधारसे जो निष्कर्ष सामने आते हैं उन्हें इन शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है—

१—पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जितने भी आर्य और म्लेच्छ मनुष्य हैं उनमें सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप पूर्ण धर्मकी प्राप्ति सम्भव है। द्रव्य स्त्रियाँ और द्रव्य नपुंसक इसके अपवाद हैं। विशेष खुलासा पहले कर ही आये हैं।

२—तीस भोगभूमियों और अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुए जितने भी आर्य और म्लेच्छ मनुष्य हैं उनमें मात्र सम्यक्त्वधर्मकी प्राप्ति सम्भव है।

३—मनुष्योंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद आगम साहित्य और प्राचीन जैन साहित्यमें नहीं उपलब्ध होते। यहाँ तक कि मूलाचार, भगवतीआराधना, रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसे चरणानुयोगके ग्रन्थोंमें तथा सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसे सर्वविषयगर्भ टीका ग्रन्थोंमें भी इन भेदोंका उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी अवस्थामें कौन वर्णका मनुष्य कितने धर्मको धारण कर सकता है इसकी चरचा तो दूर ही है। इस परसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्णके आधारसे धर्माधर्मके विचारकी पद्धति बहुत ही अर्वाचीन है। जो आगमसम्मत नहीं है। स्पष्ट है कि परिस्थितिवश वैदिकधर्मके प्रभाववश इसे जैनसाहित्यमें स्थान दिया गया है। किन्तु उत्तरकालीन कतिपय आचार्यों और विद्वानोंने उसे स्वीकार

कर लिया है इतने मात्रसे उसे आगमानुमोदित जैनधर्मके अङ्गरूपसे स्वीकार कर उसे उसी रूपमें चलते रहने देना उचित नहीं प्रतीत होता।

गोत्रमीमांसा

अब तक हमने धर्मका स्वरूप और उसके अवान्तर भेदोंके साथ प्रत्येक गतिमें विशेषतः मनुष्यगतिमें कहाँ किस प्रमाणमें धर्मकी प्राप्ति होती है इसका विस्तारके साथ विचार किया। आगे गोत्रके आधारसे उसका विचार करना है। उसमें भी सर्व प्रथम यह देखना है कि लोकमें और आगममें उसे किस रूपमें स्वीकार किया गया है तथा उनका परस्परमें कोई सम्बन्ध है या उनकी मान्यताका आधार ही पृथक् पृथक् है।

गोत्रशब्दकी व्याख्या और लोकमें उसके प्रचलनका कारण—

भारतीय जनजीवनमें गोत्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोत्रशब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—गूयते शब्द्यते इति गोत्रम्—जो कहा जाय। लोकमें गोत्र एक प्रकारका नाम है जो भारतीय समाजमें कारण विशेषसे रूढ़ होकर परम्परासे चला आ रहा है। इससे किसी व्यक्ति या समुदाय विशेषके आंशिक इतिहासकी छानबीन करनेमें सहायता मिलती है। यह उस समयकी देन है जब मानव समुदाय अनेक भागोंमें विभक्त होने लगा था और उसे अपने पूर्वजों और सम्बन्धियोंका ज्ञान करनेके लिए संकेतकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। क्रमशः जैसे-जैसे मानव-समाज अनेक भागोंमें विभक्त होता गया वैसे-वैसे इस नामके प्रति मनुष्योंका मोह भी बढ़ता गया। विवाहसम्बन्ध और सामाजिक रीति-रिवाजोंमें तो इसका विचार किया ही जाने लगा, धार्मिक क्षेत्रमें भी इसने स्थान प्राप्त कर लिया। इसे किसी न किसी रूपमें सभी भारतीय परम्पराओंने स्वीकार किया है। उत्तर कालमें भारतवर्षमें वर्णाश्रमधर्मका प्राबल्य होने पर जैन

साहित्यमें भी गोत्रकी व्याख्या वंशपरम्पराके आधार पर की जाने लगी और इसका सम्बन्ध वर्णोंके साथ स्थापित किया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये उच्चगोत्री माने जाने लगे और तथाकथित शूद्र तथा म्लेच्छ नीचगोत्री करार दिये गये। सुकुल और दुष्कुलकी व्याख्या भी इसी आधारसे की जाने लगी।

ब्राह्मण परम्परामें जिसने अपने उत्तराधिकारीकी सृष्टि कर ली हो वह सन्यास लेनेका अधिकारी माना गया है। पुत्रके अभावमें दत्तक पुत्रका विधान इसी परम्पराको दृढ़ मूल बनाये रखनेका एक साधन है। जो योग्य सन्तानको जन्म दिये बिना कौटुम्बिक जीवनसे विरत हो जाता है उसकी गति नहीं होती। धीरे-धीरे जैन परम्परामें भी यह प्रथा रूढ़ होने लगी और यहाँ भी इस आधार पर वे सब तत्त्व स्वीकार कर लिये गये जो ब्राह्मण परम्पराकी देन हैं।

कहनेको तो भारतवर्ष धर्मप्रधान देश कहा जाता है और एक हद तक ऐसा कहना उचित भी है। किन्तु कुछ गहराईमें जाने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि यह प्रचारका एक साधन भी है। हम इसके नाम पर उन समस्त तत्त्वोंका प्रचार करते हैं जो वर्गप्रभुत्वके पोषक हैं। गोत्रसे इस वर्गप्रभुत्वको स्थायी बनाये रखनेमें बड़ी सहायता मिली है।

यह तो सब कोई जानते हैं कि इस देशमें ही गोत्रका विचार किया जाता है। अन्य देशोंके लोग इसका नाम भी नहीं जानते। वहाँ रंगभेदके उदाहरण तो दृष्टिगोचर होते हैं पर इस आधारसे यहाँके समान जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वहाँ ऊँच-नीचका भेद नहीं दिखलाई देता।

ब्राह्मण ऋषियोंने देखा कि जबतक व्यक्ति या समाजके जीवनमें जात्य-भिमान या वंशाभिमानकी सृष्टि नहीं की जायगी तबतक वर्गप्रभुत्वकी कल्पना साकार रूप नहीं ले सकती, इसलिए उन्होंने इसके आधारभूत 'अपुत्रस्य गति र्नास्ति' इस सिद्धान्तकी घोषणा की और इसे व्यावहारिक रूप देनेके लिए गोत्रकी प्रथा चलाई। प्रारम्भमें ऐसे आठ ऋषि हुए हैं जो गोत्रकर्ता

माने जाते हैं। वे आठ ऋषि ये हैं—जमदग्नि, भरद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य। इस तथ्यको स्वीकार करते हुए गोत्रप्रवरमें कहा है—

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वशिष्ठः कश्यपोऽगस्त्यो मुनयो गोत्रकारिणः॥

वेदों और ब्राह्मणोंमें भी इनका नाम आता है। ये सब मंत्रद्रष्टा ऋषि माने गये हैं। इनके बाद इनकी पुत्र-पौत्र परम्परामें कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषि और हुए हैं जिनके नाम पर भी गोत्रकी परम्परा चली है। यही तथ्य गोत्रप्रवरमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

ऋषित्वं ये सुता प्राप्ता दशानामृषीणां कुले।
यज्ञे प्रवीयमाणत्वात् प्रवरा इति कीर्तिताः॥

ये सब गोत्र हजारों और लाखों हैं। पर मुख्य रूपसे वे उनचास लिये जाते हैं। जमदग्नि आदि आठ ऋषियोंके समकालमें भृगु और अंगिरा ये दो ऋषि और हुए हैं। ये भी मन्त्रद्रष्टा थे पर इनके नाम पर गोत्रका प्रचलन नहीं हो सका। ये गोत्रकर्ता क्यों नहीं बन पाए इसका कारण जो कुछ भी रहा हो। इतना स्पष्ट है कि उस समय अपने-अपने नाम पर गोत्र-प्रथा चलानेके प्रश्नको लेकर इनमें आपसमें मतभेद था।

साधारणतः ब्राह्मणपरम्परामें गोत्र रक्तपरम्पराका पर्यायवाची माना गया है, इसलिए यह परम्परा स्वीकार करती है कि ब्राह्मण सदा काल ब्राह्मण ही बना रहता है। जिसका ब्राह्मण जातिमें जन्म हुआ है वह अन्य जातिवाला कभी नहीं हो सकता। इस परम्परामें प्रारम्भसे ही सदाचारकी अपेक्षा रक्तपरम्पराको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस परम्पराके अनुसार यदि किसीकी जाति बदलती है तो वह इस परम्पराकी कल्पनाके अनुसार मुख्यतः रक्तके बदलनेसे ही बदल सकती है, अन्यथा नहीं।

जैनधर्ममें गोत्रका स्थान—

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि ब्राह्मणधर्ममें गोत्रकी जो व्यवस्था बनी उससे उत्तरकालमें जैनसाहित्य भी प्रभावित हुआ है। जैनधर्ममें प्रतिपादित गोत्रकी आध्यात्मिक व्याख्या और व्यवस्थाको भुलाकर एक तो उसका सम्बन्ध चार वर्णोंके साथ स्थापित किया गया। दूसरे उसका सम्बन्ध रक्तपरम्पराके साथ स्थापित कर लोकमें प्रचलित कुल और वंशकी सामाजिक मान्यताको अवास्तविक महत्त्व दिया गया। यह तो हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं कि भारतवर्षमें प्रचलित चार वर्णोंका सम्बन्ध केवल आजीविकाके साथ ही नहीं रहा। जो लोकप्रचलित जिस कुलमें जन्म लेता है वह उस नामसे पुकारा जाने लगा। किन्तु इस कारणसे किसीको ऊँच और किसीको नीच मानना इसे जैनधर्म स्वीकार नहीं करता। गाय आदि ऐसे बहुतसे पशु हैं जिनका जीवन निर्दोष होता है और इसके विपरीत हिंस्र पशुओंका जीवन हिंसाबहुल देखा जाता है। फिर भी लोकमें सिंहको श्रेष्ठ माना जाता है। किसी मनुष्य विशेषकी श्रेष्ठता प्रख्यापित करनेके लिए सिंहकी उपमा दी जाती है। ऐसा क्यों होता है ? कारण स्पष्ट है। एक तो वह निर्भय होकर एकाकी विचरण करता है। दूसरे उसमें शौर्य गुणकी प्रधानता होती है। यही कारण है कि उसके मुख्य दोषकी ओर लक्ष्य न देकर इन गुणोंको मुख्यता दी जाती है। यह सिंहका उदाहरण है। हमें विविध वर्णोंमें बटे हुए मानवसमाजको इसी दृष्टिकोणसे समझनेकी आवश्यकता है। जैनपुराणोंमें द्वीपायन मुनिकी कथा आती है। दीर्घ काल तक मुनिधर्मका उत्तम रीतिसे पालन करनेके बाद भी वे द्वारकादाहमें निमित्त हो नरकगामी हुए थे। इसके विपरीत पुराणोंमें एक दूसरी कथा यम चाण्डालकी आती है। वह चाण्डाल जैसे निकृष्ट कर्मद्वारा अपनी आजीविका करता था। किन्तु जीवनके अन्तमें मुनिके उपदेशसे प्रभावित होकर अहिंसा व्रतको स्वीकार कर तथा मरणभय उपस्थित होनेपर भी उसका उत्तम रीतिसे पालन कर वह कुछ कालके लिए स्वीकार किये गये अहिंसा व्रत के

प्रभाववश देवलोकका अधिकारी बना था। देखिए परिणामोंकी विचित्रता, एक ओर व्रतके प्रभावसे मुनिधर्मका जीवन भर पालन करनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है और दूसरी ओर चाण्डालका निकृष्ट कर्म करनेवाला व्यक्ति भी अन्तिम समयमें प्राप्त निर्मल परिणामोंके कारण देवलोकका अधिकारी होता है। स्पष्ट है कि बाह्य कर्मके साथ जीवनका सम्बन्ध नहीं है। जीवनकी उच्चता और नीचता व्यक्तिकी आभ्यन्तर वृत्ति पर निर्भर है। यही कारण है कि जैनधर्ममें गोत्रका विचार प्राणीकी आभ्यन्तर वृत्तिको दृष्टिमें रखकर किया गया है। विश्वके समस्त प्राणियोंके गोत्र विचारमें न तो वर्णको कोई स्थान है और न वंशानुगत रक्तसम्बन्धको ही। ये सब मर्यादाएँ लौकिक और मर्यादित क्षेत्र तक ही सीमित हैं। आभ्यन्तर जीवनमें इनका रञ्चमात्र भी उपयोग नहीं है। प्रत्युत इन लौकिक मर्यादाओंका आग्रह उसकी उन्नतिमें बाधक ही है।

जैनधर्मके अनुसार गोत्रका अर्थ और उसके भेद—

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि गोत्र एक प्रकारका नाम है और जैनधर्मके अनुसार व्यक्तिकी आभ्यन्तर वृत्तिके साथ उसका सम्बन्ध होनेके कारण वह गुणनाम है। अर्थात् जिस व्यक्तिकी ऊँच और नीच जैसी आभ्यन्तर वृत्ति होती है उसके अनुसार वह उच्च या नीच कहा जाता है। आगममें आठ कर्मोंमें गोत्रकर्मका स्वतन्त्र उल्लेख है। वहाँ उसके उच्चगोत्र और नीचगोत्र ऐसे दो भेद करके उन्हें जीवविपाकी प्रकृतियोंमें परिगणित किया गया है। उसे ध्यानमें रख कर विचार करने पर प्रतीत होता है कि जीवकी पर्यायविशेषको उच्च और उससे भिन्न दूसरी पर्यायको नीच कहते हैं। षट्खण्डागम निबन्धन अनुयोगद्वारमें आठ कर्मोंके निबन्धनका विचार करते हुए कुछ सूत्र आये हैं। उनमें मोहनीय कर्मके समान गोत्रको आत्मामें निबद्ध कहा है। गोत्रकर्म आत्मामें निबद्ध क्यों है इस प्रश्नका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामी वहीं उक्त सूत्रकी

व्याख्या करते हुए सुस्पष्ट शब्दोंमें घोषित करते हैं कि उच्चगोत्र और नीचगोत्र जीवकी पर्यायरूपसे देखे जाते हैं, इसलिए गोत्रकर्म आत्मामें निबद्ध है। तात्पर्य यह है कि गोत्रकर्मका व्यापार मात्र आत्मामें होता है बाह्य लौकिक कुलादिकके आश्रयसे नहीं, अतएव उसके उदयसे आत्माकी विवक्षित पर्यायका ही निर्माण होता है, लौकिक कुल या वंशका नहीं।

गोत्रकी विविध व्याख्याएँ—

साधारणतः मूल आगम साहित्यमें गोत्रकर्मके भेदोंके साथ वे दोनों भेद जीवविपाकी हैं इतना मात्र उल्लेख है। वहाँ उनके सामान्य और विशेष लक्षणोंका ऊहापोह नहीं किया गया है। यह स्थिति गोत्रकर्मकी ही नहीं है। अन्य कर्मोंके विषयमें भी यही हाल है। इसलिए मूल आगम साहित्यके आधारसे हम केवल इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव स्वयं अपनी उच्च पर्यायका निर्माण करता है वह उच्चगोत्र है और जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव स्वयं अपनी नीच पर्यायका निर्माण करता है वह नीचगोत्र है। परन्तु जीवकी वह उच्च और नीच पर्याय किमात्मक होती है इसका वहाँ सुस्पष्ट निर्देश न होनेसे बाह्य परिस्थिति वश उत्तरकालीन व्याख्या ग्रन्थोंमें उसकी अनेक प्रकारसे व्याख्याएँ की गई हैं। संक्षेपमें वे सब व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

१. जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है और जिसके उदयसे गर्हित कुलोंमें जन्म होता है वह नीचगोत्र है।

२. अनार्योचित आचार करनेवाला जीव नीचगोत्री है। तात्पर्य यह है कि आर्योचित आचारका नाम उच्चगोत्र है और अनार्योचित आचारको नीचगोत्र कहते हैं।

३. जिसके उदयसे जीव उच्चोच्च, उच्च, उच्चनीच, नीचोच्च, नीच और नीच-नीच (परम नीच) होता है वह गोत्रकर्म है।

४. उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये जीवकी पर्याय हैं। तात्पर्य यह है कि जीवकी उच्च पर्यायको उच्चगोत्र और नीच पर्यायको नीचगोत्र कहते हैं।

५. जिस कर्मके उदयसे उच्चगोत्र होता है वह उच्चगोत्र है। गोत्र, कुल, वंश और सन्तान ये एकार्थवाची नाम हैं। तथा जिस कर्मके उदयसे नीचगोत्र होता है वह नीचगोत्र है।

६. जो जीवको उच्च और नीच बनाता है या जीवके उच्च और नीचपनेका ज्ञान कराता है उसे गोत्र कहते हैं।

७. जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है, साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने अपना सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहार में निमित्त हैं उन पुरुषोंकी परम्पराको उच्चगोत्र कहते हैं और इनसे विपरीत पुरुषोंकी सन्तानको नीचगोत्र कहते हैं।

८. जिससे उच्चकुलका निर्माण होता है उसे उच्चगोत्र कहते हैं और जिससे नीचकुलका निर्माण होता है उसे नीचगोत्र कहते हैं।

९. जीवके सन्तानक्रमसे आये हुए आचरणकी गोत्र संज्ञा है। उच्च आचरणका नाम उच्चगोत्र है और नीच आचरणका नाम नीचगोत्र है।

सब मिलाकर ये नौ व्याख्याएँ हैं। इनमें कुछ व्याख्याएँ जीवकी पर्यायपरक हैं, कुछ व्याख्याएँ आचारपरक हैं और कुछ व्याख्याएँ कुल, वंश या सन्तानपरक हैं। दो व्याख्याएँ ऐसी भी हैं जिनमें आचार और सन्तान इन दोनोंमेंसे किसी एकको विशेषण और दूसरेको विशेष्य बनाकर उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि गोत्रकी व्याख्याके विषयमें व्याख्याकारोंके सामने एक प्रकारकी उलझन रही है। षट्खण्डागम प्रकृतिअनुयोगद्वारमें १३६ वें सूत्रकी व्याख्या करते हुए वीरसेन स्वामीने इस उलझनको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया है। वे न तो राज्यादि सम्पत्तिकी प्राप्ति उच्चगोत्रका फल मानते हैं और न रत्नत्रयकी प्राप्ति ही इसका फल मानते हैं। उच्चगोत्रके उदयसे जीव सम्पन्न कुलमें

जन्म लेता है ऐसा मानना भी वे ठीक नहीं समझते। उनके मतसे न तो उच्चगोत्रके उदयसे इक्ष्वाकु आदि कुलोंका निर्माण होता है और न ही आदेयता, यश और सौभाग्यकी प्राप्ति ही इसके निमित्तसे होती है। उनके मतसे ये सब कार्य तो उच्चगोत्रके हैं नहीं, इसलिए इनसे विपरीत कार्य नीचगोत्रके भी नहीं हो सकते यह सुतरां सिद्ध है। ऐसी अवस्थामें इन गोत्रोंका कार्य क्या है यह प्रश्न विचारणीय है। वीरसेनस्वामीने यद्यपि वहाँपर इस प्रश्नका समाधान करनेका प्रयत्न किया है किन्तु उसे समस्याका समुचित हल कहना इसलिए ठीक न होगा, क्योंकि उस द्वारा अनेक नई धारणाओंकी पुष्टि की गई है यह बात हम आगे चलकर स्वयं बतलानेवाले हैं। स्पष्ट है कि गोत्रकी इन विविध व्याख्याओंके रहते हुए हमें उसका विचार कर्मसाहित्यकी मौलिकताको ध्यानमें रखकर करना चाहिए और देखना चाहिए कि इनमेंसे कौन व्याख्याएँ उसके अनुरूप ठहरती हैं।

कर्मसाहित्यके अनुसार गोत्रकी व्याख्या—

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि गोत्र जीवविपाकी कर्म है, इसलिए जिस प्रकार अन्य जीवविपाकी कर्मोंका उदय होने पर जीवकी विविध प्रकारकी पर्यायोंका निर्माण होता है उसी प्रकार गोत्रकर्मका उदय होने पर भी जीवकी ही अपनी पर्यायका निर्माण होता है। तात्पर्य यह है कि यदि उच्चगोत्रका उदय होता है तो जीवकी उच्च संज्ञावाली नोआगम-भावरूप पर्यायका निर्माण होता है और नीचगोत्रका उदय होता है तो जीवकी नीचसंज्ञावाली नोआगमभावरूप पर्यायका निर्माण होता है। यह तो सुविदित है कि वेदनोकषायके समान गोत्रकर्मका उदय शरीर ग्रहणके प्रथम समयसे प्रारम्भ न होकर भवग्रहणके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसलिए जिस प्रकार वेदरूप स्त्रीपर्याय, पुरुषपर्याय और नपुंसकपर्यायका सम्बन्ध शरीराश्रित बाह्य स्त्रीचिह्न, पुरुषचिह्न और नपुंसक चिह्नोंके साथ

नहीं है। अर्थात् यदि कोई द्रव्यसे स्त्री, पुरुष या नपुंसक है तो उसे भावसे भी स्त्री, पुरुष या नपुंसक होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है उसी प्रकार गोत्रकर्मके उदयसे हुई जीवकी उच्च और नीच पर्यायका सम्बन्ध शरीरके आश्रयसे कल्पित किये गये कुल, वंश या जातिके साथ नहीं है। अर्थात् यदि कोई लोकमें उच्चकुली, उच्चवंशी या उच्चजातिका माना जाता है तो उसे पर्यायरूपमें उच्चगोत्री होना ही चाहिए या कोई लोकमें नीच-कुली, नीचवंशी और नीचजातिका माना जाता है तो उसे पर्यायरूपमें नीचगोत्री होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। कर्मसाहित्यमें ऐसे अनेक स्थल आये हैं जहाँ पर द्रव्यका भावके साथ वैषम्य बतलाया गया है। इसके लिए वेदका उदाहरण तो हम पहले ही दे आये हैं। दूसरा उदाहरण सूक्ष्म और बादरका है। यह जीव सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयसे बादर होता है। किन्तु शरीर रचनाके साथ इन कर्मोंके उदयका सम्बन्ध न होनेसे जिस प्रकार क्वचित् बादर जीवोंकी शरीर रचना सूक्ष्म जीवोंकी शरीर रचनाकी अपेक्षा कई बातोंमें सूक्ष्म देखी जाती है और सूक्ष्म जीवोंकी शरीर रचना बादर जीवोंकी शरीर रचनाकी अपेक्षा कई बातोंमें स्थूल देखी जाती है उसी प्रकार लौकिक कुलादिके साथ उच्च और नीचगोत्रकर्मके उदयका सम्बन्ध न होनेसे जो लोकमें उच्च-कुलवाले माने जाते हैं उनमें भी बहुतसे मनुष्य भावसे नीचगोत्री होते हैं और जो लोकमें नीचकुलवाले माने जाते हैं उनमें भी बहुतसे मनुष्य भावसे उच्चगोत्री होते हैं। कार्मिक ग्रन्थोंमें यह तो बतलाया है कि सब नारकी और सब तिर्यञ्च नीचगोत्री होते हैं तथा सब देव और भोगभूमिज मनुष्य उच्चगोत्री होते हैं। पर वहाँ पर कर्मभूमिज गर्भज मनुष्योंमें ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया कि आर्यखण्डके सब मनुष्य उच्चगोत्री होते हैं और म्लेच्छखण्डके सब मनुष्य नीचगोत्री होते हैं। या आर्योंमें तीन वर्णवाले सब मनुष्य उच्चगोत्री होते हैं और शूद्र वर्णवाले सब मनुष्य नीचगोत्री होते हैं। वास्तवमें ये लौकिक कुल, वंश, जाति और वर्ण किसी कर्मके

उदयसे न होकर मानवसमाज द्वारा कल्पित किये गये हैं, इसलिए इनके साथ कर्मनिमित्तक जीवकी पर्यायोंका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल गोत्रकर्मनिमित्तक उच्च और नीच पर्यायसे ही नहीं है और भी संयमासंयम और संयम आदि रूप जितनी भी जीवकी पर्याय हैं उनका अविनाभाव सम्बन्ध भी इन लौकिक कुलादिके साथ नहीं है। ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इस प्रकार साङ्गोपाङ्गरूपसे विचार करने पर यही विदित होता है कि जीवकी जो उच्चसंज्ञावाली नोआगमभावरूप जीवपर्याय होती है वह उच्चगोत्र है और जो नीचसंज्ञावाली नोआगमभावरूप जीवपर्याय होती है वह नीचगोत्र है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—

अब प्रश्न यह है कि जीवकी वह कौनसी पर्याय है जिसे उच्च माना जाय और उससे भिन्न वह कौनसी पर्याय है जिसे नीच माना जाय। अर्थात् किसी जीवधारीको देखकर यह कैसे समझा जाय कि यह उच्चगोत्री है और यह नीचगोत्री है? ऐसा कोई लक्षण अवश्य ही होना चाहिए जिसके आधारसे उच्चता और नीचताका अनुमान किया जा सके। जहाँ पर उच्च या नीचगोत्र नियत है वहाँ तो यह प्रश्न नहीं उठता। परन्तु कर्मभूमिज गर्भज मनुष्योंमें उच्च या नीचगोत्र नियत नहीं है, इसलिए वहीं पर मुख्यरूपसे इसका विचार करना है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि गोत्रका अविनाभाव सम्बन्ध कुल और जातिके साथ नहीं है। वीरसेन स्वामी गोत्रका निर्णय करते समय उच्चगोत्रके प्रसंगसे स्वयं कहते हैं कि इक्ष्वाकुकुल आदि काल्पनिक हैं, वे परमार्थ सत् नहीं है, इसलिए उनकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार नहीं होता। इसलिए गोत्रका अर्थ कुल, वंश या सन्तान मान लेने पर भी उसका अर्थ लौकिक कुलादिक तो हो नहीं सकता। कदाचित् गोत्रका अर्थ आचारपरक किया जाता है तो भी यह प्रश्न उठता है कि यहाँ पर आचार शब्दसे क्या अभिप्रेत है—लोकाचार या संयमासंयम और संयमरूप

आचार ? किन्तु विचार करनेपर विदित होता है कि गोत्रका अर्थ लोकाचार या संयमासंयम और संयमरूप आचार करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भवके प्रथम समयमें किसी भी जीवको इनमेंसे किसीकी भी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए गोत्रका अर्थ आचार भी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उच्च और नीच गोत्रके उदयसे आचारकी प्राप्ति नहीं होती है तो मत होओ। पर उससे ऐसी योग्यता अवश्य उत्पन्न हो जाती है जिससे वह कालान्तरमें अमुक प्रकारके आचारको धारण करता है सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसके कालान्तरमें अमुक प्रकारका आचार पाया जावेगा वह नियमसे उच्चगोत्री या नीच-गोत्री होगा ही। अन्य गतिके जीवोंमें वर्णाचार धर्म नहीं है फिर भी उनमेंसे देव और भोगभूमिज मनुष्य उच्चगोत्री होते हैं तथा नारकी और तिर्यञ्च नीचगोत्री होते हैं। यही बात संयमासंयम और संयमके लिए भी लागू होती है, क्योंकि जो उच्चगोत्री होते हैं उनमें नियमसे संयमासंयम और संयमको धारण करनेकी योग्यता होती ही है यह भी नहीं है और जो नीचगोत्री होते है उनमें नियमसे इनको धारण करनेकी योग्यता नहीं होती यह भी नहीं है। इस प्रकार जैसे गोत्रका अर्थ लौकिक कुल, वंश या जातिपरक नहीं हो सकता वैसे ही वह आचारपरक भी नहीं हो सकता यह निश्चित हो जाने पर हमें जीवको उच्च और नीच पर्यायकी आध्यात्मिक आधारसे ऐसी व्याख्या करनी होगी जो चारों गतियोंमें सब जीवोंमें समान रूपसे घटित होनेकी क्षमता रखती हो, क्योंकि जैनधर्मके अनुसार गोत्र केवल कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। उसका सद्भाव चारों गतियोंमें समानरूपसे सबके पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि उच्च या नीचगोत्र एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक सब संसारी जीवोंकी पर्याय विशेषका नाम है, इसलिए विचारणीय यह है कि जीवकी वह कौनसी पर्यायविशेष है जो उच्च या नीच शब्द द्वारा कही जाती है ?

यथार्थवादी दृष्टिकोण स्वीकार करनेकी आवश्यकता--

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि मूल आगम साहित्यमें गोत्रके सामान्य और विशेष लक्षणोंपर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। फलस्वरूप उसकी आध्यात्मिकता समाप्त होकर अधिकतर बहिर्मुखी व्याख्याओंने उसका स्थान ले लिया है। एक गोत्र ही क्या वेदनीय कर्म, वेदनोकषाय, नामकर्म और अन्तरायकर्मके ऊपर भी यह कथन शत-प्रतिशत लागू होता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ पर हम पुनः वेदनोकषायकी चरचा कर देना इष्ट समझते हैं। जैसा कि कर्म साहित्यमें कर्मोंका विभाग किया गया है उसके अनुसार वेदनोषायके उदयसे होनेवाला स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप परिमाण जीवकी नोआगमभावरूप पर्याय है, शरीराकार पुद्गलोंकी रचनाविशेष नहीं। फिर भी अधिकतर व्याख्याकारोंने इस तथ्यकी ओर ध्यान न देकर उसकी बहिर्मुखी व्याख्याएँ करनेमें ही अपनी चरितार्थता मानी है। दृष्टान्तरूपमें पञ्चाध्यायीको लीजिए। उसमें स्त्रीवेद आदिका लक्षण इन शब्दोंमें दिया गया है--

> रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
> नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषता ॥१०८१॥
> नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
> अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥१०८२॥

अर्थात् पुरुषवेदके उदयसे द्रव्यनारियोंके प्रति रमण करनेकी इच्छा होती है, स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषोंके प्रति भोग भोगनेकी अभिलाषा होती है और शक्तिहीन होनेसे जो न तो स्त्रियोंको भोग सकता है और न पुरुषोंको ही भोग सकता है किन्तु भीतर ही भीतर जलता रहता है वह नपुंसकवेद है जो नपुंसकवेदके उदयसे होता है।

प्रश्न यह है कि क्या स्त्रीवेद नोकषायका कार्य द्रव्यपुरुषकी और पुरुषवेद नोकषायका कार्य द्रव्यस्त्रीकी अभिलाषा करना हो सकता है?

जहाँ पर भाववेद और द्रव्यवेदका साम्य है वहाँ पर यह लक्षण घटित हो भी जाय तो क्या इतने मात्रसे इस लक्षणकी सर्वत्र चरितार्थता मानी जा सकती है? जहाँ पर वेदवैषम्य है वहाँ पर यह लक्षण कैसे चरितार्थ होगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो द्रव्यसे पुरुष है और भावसे स्त्री है या जो द्रव्यसे स्त्री है और भावसे पुरुष आदि है वहाँ पर इस लक्षणकी व्याप्ति नहीं बन सकेगी। जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषसे रहित होता है समीचीन लक्षण वही माना जा सकता है किन्तु इस लक्षणके मानने पर अव्याप्ति दोष आता है, इसलिए यह समीचीन लक्षण नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि उत्तरकालीन व्याख्याकारोंने वेदनोकषायके अवान्तर भेदोंके जो लक्षण किये हैं वे सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। उनके समीचीन लक्षण ऐसे होने चाहिए जो सर्वत्र समानरूपसे चरितार्थ हो सकें, अन्यथा वे उनके लक्षण नहीं माने जा सकते। इस प्रकार वेदनोकषायोंके लक्षणोंकी उत्तरकालमें जो गति हुई है वही गति गोत्रके लक्षणोंके विषयमें भी हुई है। यहाँ भी गोत्रका लक्षण करते समय न तो इस बातका ध्यान रखा गया है कि उसका ऐसा लक्षण होना चाहिए जो सर्वत्र समानरूपसे घटित हो जाय और न इस बातका ही ध्यान रखा गया है कि गोत्र जीवविपाकी कर्म है, अतएव उसके उदयसे होनेवाली नोआगमभावरूप जीवपर्यायका बहिर्मुखी लक्षण करने पर उसकी आध्यात्मिकताकी रक्षा कैसे की जा सकेगी? आज कल बहुतसे मनीषियोंके मुखसे यह बात सुनी जाती है कि शास्त्रीय विषयोंका विवेचन करते समय अपने विचार न लादे जायँ। हम उनके इस कथनसे शत-प्रतिशत सहमत हैं। हम भी ऐसा ही मानते हैं। किन्तु उत्तर कालमें भगवद्वाणीके रूपमें जो कुछ लिखा और कहा गया है उसे क्या उसी रूपमें स्वीकार कर लिया जाय, उस पर मूल आगम साहित्यको ध्यानमें रखकर कुछ भी टीका टिप्पणी न की जाय? यदि उनके कथनका यही तात्पर्य है तब तो त्रिवर्णाचार ग्रन्थके 'योनिपूजा' और 'पानके बिना

केवल सुपारी खानेसे जीव नरक जाता है' इस कथनको भी भगवद्वाणी माननेके लिए बाध्य होना पड़ेगा और उनके कथनका यह तात्पर्य न होकर केवल इतना ही तात्पर्य है कि किसी भी शास्त्रीय विषय पर विचार करते समय मूल आगम साहित्यकी तात्त्विक पृष्ठभूमिको ध्यानमें रखकर ही उसका विचार होना चाहिए तो हमें इस तथ्यको स्वीकार करनेमें रञ्चमात्र भी हानि नहीं है। हम मानते हैं कि मूल आगम साहित्यमें प्रमेयका जिस रूपमें निर्देश हुआ है वह यथार्थ है। किन्तु उत्तर कालीन व्याखया ग्रन्थोंमें सर्वत्र उसका उसी रूपमें निर्वाह हुआ है, सर्वथा ऐसा मानना उचित नहीं है। जहाँ उसका यथार्थरूपसे व्याख्थान हुआ है वहाँ उसे उसी रूपमें स्वीकार करना चाहिए और जहाँ देश, काल, परिस्थितिके अनुसार उसमें अन्तर आया है वहाँ उसे भी दिखलाना चाहिए यह लोक और शास्त्र सम्मत मार्ग है। तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादन करनेमें यथार्थवादी दृष्टिकोणको स्वीकार करना बुरा नहीं है। यह वस्तु-मीमांसाकी पद्धति है। इसे स्वीकार करनेसे वस्तुस्वरूपके निर्णय करनेमें सहायता मिलती है। हम पहले वेदनोकषायकी इसी दृष्टिकोणसे मीमांसा कर आये हैं। गोत्रकी मीमांसा करते समय भी हमें इसी दृष्टिकोणको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है।

गोत्रकी व्याख्याओंकी मीमांसा—

हम पहले गोत्रकी नौ व्याख्याएँ दे आये हैं। उनमेंसे जो व्याख्याएँ जीवकी पर्याय परक हैं वे आगम सम्मत हैं, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि उच्च या नीच किसी भी गोत्रके उदयसे जीवकी नोआगमभावरूप पर्यायका ही निर्माण होता है। किन्तु जो व्याख्याएँ इससे भिन्न अभिप्रायको लिए हुए हैं उन्हें उसी रूपमें स्वीकार करना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ उक्त नौ व्याख्याओंमें कई व्याख्याएँ आचारपरक कही गई हैं। उन सबको मिलाकर पढ़ने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्योचित आचारवाले

मनुष्योंकी सन्तानको उच्चगोत्र कहते हैं और उससे भिन्न मनुष्योंकी सन्तानको नीचगोत्र कहते हैं। पद्मपुराणमें नीचगोत्रकी की गई व्याख्यासे भी यही ध्वनि निकलती है। तथा धवलाके प्रकृति अनुयोगद्वारमें की गई व्याख्यासे भी इसकी पुष्टि होती है। मात्र गोम्मटसार कर्मकाण्डमें जो व्याख्या की गई है उसमें आर्य और अनार्य इनमेंसे किसी भी शब्दका उल्लेख नहीं हुआ है। इतना अवश्य है कि इस व्याख्याकी शब्द योजनासे ऐसा लगता है कि यह व्याख्या भी पूर्वोक्त व्याख्याओंकी ही पूरक है, अन्यथा उसमें परम्परासे या वंशानुक्रमसे आये हुए आचारको मुख्यता न दी जाती। यहाँ पर यद्यपि हमने पद्मपुराणकी व्याख्याका वही तात्पर्य मान लिया है जो धवलाके प्रकृति अनुयोगद्वारकी व्याख्यामें स्पष्टरूपसे परिलक्षित होता है। किन्तु पद्मपुराणकी व्याख्यामें यह सम्भव है कि वहाँ 'अनार्य' शब्दका अर्थ म्लेछ न लेकर 'अयोग्य' लिया गया हो। जो कुछ भी हो, प्रकृतमें उसकी विशेष मीमांसा प्रयोजनीय नहीं है। यहाँ तो हमें धवला प्रकृति अनुयोगद्वारकी व्याख्याके आधारसे ही विचार करना है, क्योंकि आचार-परक अन्य सब व्याख्याएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। धवला प्रकृति अनुयोगद्वारमें वह व्याख्या इन शब्दोंमें की गई है—

'जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है, साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारमें निमित्त हैं उन पुरुषोंकी परम्पराको उच्चगोत्र कहते हैं और इनसे भिन्न पुरुषोंकी परम्पराको नीचगोत्र कहते हैं।'

यहाँ पर तीन वर्णवालोंके सिवा अन्यका वारण करनेके लिए 'जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है' यह विशेषण दिया है। जो अन्य मनुष्य तीन वर्णके आर्योंके साथ वैवाहिक आदि सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं उन्हें स्वीकार करनेके लिए 'साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है' यह विशेषण दिया है। तथा शेष

मनुष्योंका वारण करनेके लिए 'जो आर्य इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारमें निमित्त हैं' यह विशेषण दिया है।

धवला प्रकृति अनुयोगद्वारमें वीरसेनस्वामीने उच्चगोत्र और नीचगोत्रका कहाँ व्यापार होता है इसकी मीमांसा करते हुए तीन वर्णवाले मनुष्योंमें उच्चगोत्र तथा शूद्र और म्लेच्छ मनुष्योंमें नीचगोत्र होता है यह स्वीकार किया है। उसे ध्यानमें रखकर ही हमने गोत्रके उक्त लक्षणके विशेषणोंकी सार्थकता बतलाई है।

यहाँ पर दीक्षा योग्य साधु आचारसे वीरसेन स्वामीको क्या इष्ट रहा है इसका स्पष्ट ज्ञान धवला टीकासे नहीं होता। किन्तु उनके शिष्य आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें भरत चक्रवर्तीके मुखसे दीक्षा योग्य कुलकी व्याख्या इन शब्दोंमें कराई है—

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः।
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥१७०॥ पर्व ४०।

अर्थात् जो दीक्षा योग्य कुलमें नहीं उत्पन्न हुए हैं तथा जो विद्या और शिल्प कर्म द्वारा अपनी आजीविका करते हैं वे उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं माने गये हैं। प्रकृतमें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ पर दीक्षा शब्दसे आचार्य जिनसेनको केवल उपनयन संस्कार ही इष्ट नहीं है। किन्तु इससे वे श्रावक और मुनि दीक्षा भी लेते हैं। महापुराणके अनुसार जिस समय भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना कर धार्मिक क्षेत्रमें दीक्षाके योग्य तीन वर्णके मनुष्य ही हैं ऐसी व्यवस्था दी थी उस समय समवसरण सभामें आदिनाथ जिन विद्यमान थे इस तथ्यको स्वयं आचार्य जिनसेनने स्वीकार किया है। यहाँ यह तो समझमें आता है कि ब्राह्मण वर्ण सामाजिक व्यवस्थाका अङ्ग है, इसलिए उसकी स्थापना भरतचक्रवर्तीके द्वारा कराई जाना कदाचित् न्यायसङ्गत कही जा सकती है पर धर्मतीर्थके कर्ता आदिनाथ जिनके रहते हुए भरत चक्रवर्ती यह व्यवस्था

दें कि तीन वर्णके मनुष्य श्रावक और मुनिदीक्षाके योग्य हैं, शूद्रवर्णके मनुष्य नहीं यह न्यायसङ्गत प्रतीत नहीं होता। इसे हम भरतचक्रवर्तीका धर्ममें हस्तक्षेप तो नहीं कहना चाहते, पर इतना अवश्य ही कह सकते हैं कि आचार्य जिनसेनने भरतचक्रवर्तीके मुखसे यह बात कहलाकर धार्मिक परम्पराको मनुस्मृतिके समान सामाजिक व्यवस्थाका अङ्ग बनानेका प्रयत्न किया है। मनुस्मृति वर्णाश्रम धर्मका प्रतिपादन करनेवाला मुख्य ग्रन्थ है। उससे भी शूद्र उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं हैं इसका स्पष्टतः समर्थन होता है। वहाँ कहा है—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥ अ० १०

शूद्र यदि अभक्ष्य भक्षण करता है तो इसमें कोई दोष नहीं है। वह उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं है तथा उसका धर्ममें कोई अधिकार भी नहीं है। परन्तु वह अपने योग्य धर्मका यदि पालन करता है तो इसका निषेध भी नहीं है।

मनुस्मृतिके इस वचनको पढ़कर यह दृढ़ धारणा होती है कि आचार्य जिनसेनने उक्त व्यवस्थाको स्वीकार करनेके लिए ही उसे भरत चक्रवर्तीके मुखसे कहलवाया है। स्पष्ट है कि यह व्यवस्था मोक्षमार्गका अङ्ग नहीं है और न मोक्षमार्गमें इसे स्वीकार ही किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धवला प्रकृति अनुयोग द्वारमें उच्चगोत्रके लक्षणके प्रसंगसे आचार्य वीरसेनने जो 'जिनका दीक्षाके योग्य साधु आचार है' यह विशेषण दिया है वह तीन वर्णवालोंके सिवा शेष मनुष्योंको दीक्षाके अयोग्य ठहरानेके लिए ही दिया है। उससे उच्चगोत्रके आध्यात्मिक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश पड़ता हो ऐसी बात नहीं है।

यह तो प्रथम विशेषणकी स्थिति है। अब दूसरे विशेषणको लीजिए। वह है—'जिन्होंने साधु आचारवालोंके साथ वैवाहिक आदि सामाजिक

सम्बन्ध स्थापित कर लिया है।' कर्मसाहित्यका नियम है कि जो नीचगोत्री होता है उसके मुनिदीक्षा या श्रावकदीक्षा लेते समय नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जाता है। मालूम पड़ता है कि वीरसेन स्वामीने इस वचनका निर्वाह करनेके लिए उक्त विशेषण दिया है। अब प्रश्न उठता है कि मुनिदीक्षा या श्रावकदीक्षाके समय नीचगोत्र किसका बदल जाता है? यह तो वीरसेनस्वामीने ही स्वीकार किया है कि जो तिर्यञ्च श्रावकधर्मको स्वीकार करते हैं उनका नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जाता है। परन्तु मनुष्योंके विषयमें उन्होंने ऐसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। पर उनके गोत्रसम्बन्धी धवला टीकाके उक्त प्रकरणको देखनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि वे शूद्रवर्णवाले मनुष्योंके और म्लेच्छ मनुष्योंके नीचगोत्रका उदय तथा तीन वर्णवाले मनुष्योंके उच्चगोत्रका उदय मानते रहे हैं, इसलिए इस आधारसे यह सहज ही सूचित हो जाता है कि जो शूद्र या म्लेच्छ मनुष्य मुनिधर्म या श्रावकधर्मको स्वीकार करते हैं वे उच्चगोत्री हो जाते हैं। यह वीरसेन स्वामीके धवला टीकाके कथनका फलितार्थ है। फिर भी उन्हें यह समग्र विचार मान्य रहा है यह हम इसलिए निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, क्योंकि उनके प्रमुख शिष्य जिनसेन स्वामीने केवल इतना ही माना है कि चक्रवर्तीकी दिग्विजयके समय जो म्लेच्छ मनुष्य आर्यखण्डमें आकर चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं वे या उनकी कन्याओंका चक्रवर्तीके साथ विवाह हो जाने पर उनसे उत्पन्न हुई सन्तान मुनिदिक्षाके योग्य हैं। हो सकता है कि इस विषयमें गुरु और शिष्यके मध्य कदाचित् मतभेद रहा हो। इस प्रकारकी शंकाके लिए इसलिए स्थान है, क्योंकि वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें दो स्थलों पर अकर्मभूमिजोंमें संयमस्थानोंका निर्देश करके भी अकर्मभूमिजोंकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है और सिद्धान्त ग्रन्थोंमें स्वीकार की गई पुरानी परम्पराको यथावत् कायम रहने दिया है। जो कुछ भी हो। इतना स्पष्ट है कि इस विशेषणको देते समय भी वीरसेन स्वामीके सामने सामाजिक व्यवस्था मुख्य रही है जो

'साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानाम्' पदसे स्पष्टतः ध्वनित होती है। इस प्रकार प्रथम विशेषणके समान दूसरा विशेषण भी सामाजिक सीमाको बाँधनेके अभिप्रायसे ही दिया गया है, गोत्रके आध्यात्मिक स्वरूपको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे नहीं यह उक्त कथनसे फलित हो जाता है।

अब तीसरे विशेषण पर विचार कीजिए। वह है—'जो आर्य इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारमें निमित्त हैं।' इस विशेषण द्वारा केवल यह दिखलाया गया है कि उच्चगोत्री आर्य मनुष्य ही हो सकते हैं, अन्य नहीं। यहाँ पर प्रश्न होता है कि शूद्र मनुष्योंको आर्य माना जाय या नहीं? यदि उन्हें आर्य माना जाता है तो इस विशेषणके अनुसार उन्हें उच्चगोत्री भी मानना पड़ता है। यह कहना तो बनता नहीं कि आर्य होकर भी वे उच्चगोत्री नहीं हो सकते, क्योंकि जब वे आर्योंकी षट् कर्मव्यवस्थाको स्वीकार करते हैं और स्वयं आर्य हैं। ऐसी अवस्थामें उक्त लक्षणके अनुसार उन्हें उच्चगोत्री न मानना न्यायसंगत कैसे कहा जा सकता है? यह तो है कि वीरसेन स्वामीने उन्हें नीचगोत्री माना है। पर वे नीचगोत्री क्यों हैं इसका उन्होंने कोई समुचित कारण नहीं दिया है। हमारी समझसे वीरसेन स्वामी द्वारा शूद्रोंको नीचगोत्री माननेका उनको सामाजिक व्यवस्थामें अन्य वर्णवालोंके समान बराबरीका स्थान न मिल सकना ही मुख्य कारण रहा है। यद्यपि वैदिक धर्मशास्त्रमें अनेक स्थलों पर वैश्योंकी परिगणना शूद्रोंके साथ की गई है। किन्तु वणिज् जैसा महत्त्व-पूर्ण विभाग उनके हाथमें होनेसे उसके बलसे वे तो अपना सामाजिक उक्त दर्जा प्राप्त करनेमें सफल हो गये, परन्तु शूद्रोंको यह भाग्य कभी भी नसीब न हो सका।

इसका एक कारण और विदित होता है और वह ऐतिहासिक है। इतिहासने इस तथ्यको स्पष्ट रूपसे स्वीकार कर लिया है कि आर्य भारतवर्ष-के मूल निवासी नहीं हैं। वे मध्य एशियासे आकर यहाँके निवासी बने हैं।

इसके लिए उन्हें यहाँके मूल निवासियोंको पददलित करके ही अपने निवासके योग्य भूमि प्राप्त करनी पड़ी थी। इस उलट फेरमें जिन मूल निवासियोंने उनकी दासता स्वीकार कर ली थी, दास बनाकर उनसे वे सेवा टहल कराने लगे थे। वस्तुतः वर्तमानकालीन शूद्र उन्हींके उत्तराधिकारी हैं। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि प्राचीन जैन साहित्यमें मनुष्योंके न तो आर्य और म्लेच्छ ये भेद दृष्टिगोचर होते हैं और न ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद ही दृष्टिगोचर होते हैं। हमारी समझसे प्राचीन जैन साहित्यमें इन भेदोंका दृष्टिगोचर न होना महत्त्वपूर्ण है और वह इस तथ्यकी ओर इशारा करता है कि भारतवर्षमें प्राचीन सामाजिक रचना ब्राह्मण धर्ममें स्वीकृत सामाजिक रचनासे भिन्न प्रकारकी थी। यदि समाज रचनाकी दृष्टिसे उनमें ऊँच-नीचसम्बन्धी तो नहीं अन्य किसी प्रकारका भेद था भी तो भी वह धार्मिक क्षेत्रमें दृष्टिगोचर नहीं होता था। उत्तरकालीन जैनसाहित्यमें चार वर्णोंको स्वीकारकर शूद्रवर्णकी गणना हीन कोटिमें की गई इसे ब्राह्मण-धर्मकी ही देन समझनी चाहिए।

यह तो सुविदित है कि देवमात्र उच्चगोत्री होते हैं। किन्तु उनमें आर्य और म्लेच्छ ऐसे भेद न होनेसे न तो उनकी आर्योंमें परिगणना होती है और न वे आर्योंके 'असि' आदि षट्कर्मद्वारा अपनी आजीविका ही करते हैं। इस स्थितिसे वीरसेन स्वामी सम्यक्प्रकार सुपरिचित थे। फिर भी उन्होंने उच्चगोत्रका ऐसा लक्षण बनाया है जो मात्र विशिष्ट वर्गके मनुष्योंमें ही किसी प्रकार घटित किया जा सकता है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? उत्तरोत्तर एक-एक विशेषण देकर वे उच्चगोत्रके लक्षणको सीमित क्यों करते गये। मालूम पड़ता है कि इस अन्तिम विशेषण द्वारा भी वे उसी सामाजिक व्यवस्थाको दृढ़मूल करना चाहते थे जिसका परिष्कृत रूप आचार्य जिनसेनके महापुराणमें निर्दिष्ट किया है, अन्यथा वे उच्चगोत्रका लक्षण विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर कभी न करते। कहाँ तो सामाजिक उच्चता-नीचता और कहाँ आध्यात्मिक उच्चता-नीचता, इनमें

मौलिक अन्तर है। प्रथम ससीम है और दूसरी असीम। प्रथमका आधार समाज है और दूसरीका आधार जीवन। प्रथम लौकिक है और दूसरी आध्यात्मिक। तथा प्रथम काल्पनिक है और दूसरी वास्तविक। ऐसी अवस्था में सामाजिक उच्चता-नीचताके आधारसे आध्यात्मिक उच्चता-नीचताका विचार कैसे किया जा सकता है? स्वयं वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें विविध स्थलोंपर जो गोत्रकी मीमांसा की है, वास्तवमें वही इस तथ्यके समर्थनके लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याख्या ग्रन्थोंमें गोत्रकी आचारपरक जितनी भी व्याख्याएँ मिलती हैं उन सबका स्वरूप सामाजिक ही है। वे गोत्रके मूल अर्थको यत्किञ्चित् भी स्पर्श नहीं करतीं, इसलिए वे प्रकृतमें ग्राह्य नहीं हो सकतीं। तथा इनके अतिरिक्त जो कुल या वंशपरक व्याख्याएँ हैं वे काल्पनिक और मनुष्योंके विशिष्ट वर्ग तक सीमित होनेसे उनकी भी वही स्थिति है जिसका उल्लेख आचारपरक व्याख्याओंकी मीमांसा करते समय कर आये हैं। फलस्वरूप प्रकृतमें वे भी ग्राह्य नहीं हो सकतीं। उक्त दोनों प्रकारकी व्याख्याओंके सिवा इनके अनुरूप अन्य जितनी व्याख्याएँ हैं वे इनकी पूरक होनेसे वे भी प्रकृतमें ग्राह्य नहीं हो सकतीं यह स्पष्ट ही है।

यहाँ हम उपयोगी जानकर इतना अवश्य ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि गोत्र शब्द पहाड़, नाम, वंश, गोत्रकर्म, गोत्रकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई जीवकी पर्याय आदि अनेक अर्थोंमें व्यवहृत होता है, इसलिए कदाचित् नाना जीवोंमें नोआगमभावरूप उच्च और नीच पर्यायकी सदृशता देखकर गोत्रका अर्थ कुल, वंश, सन्तान या परम्परा तो हो भी सकता है पर उसका अर्थ आचार या लौकिक वंश किसी भी अवस्थामें नहीं हो सकता।

गोत्रकी व्यावहारिक व्याख्या—

यहाँ तक हमने गोत्रके आधारसे विस्तृत विचार किया। फिर भी उसके स्वरूप पर व्यावहारिक दृष्टिसे अभी तक प्रकाश डालना रह ही गया है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि उच्चगोत्र या नीचगोत्र जीवकी नोआगमभावरूप पर्याय है। पर उसे किसरूप माना जाय यही मुख्य प्रश्न है। ऐसा नियम है कि देवों और भोगभूमिके मनुष्योंमें उच्चगोत्रका उदय होता है, नारकियों और तिर्यञ्चोंमें नीचगोत्रका उदय होता है। तथा कर्मभूमिके मनुष्योंमें पृथक् पृथक् नीच या उच्चगोत्रका उदय होता है। गोत्रकर्मके विषयमें एक नियम तो यह है और दूसरा नियम है कि जो मनुष्य सकल संयमको धारण करते हैं उनके नियमसे नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है। नीचगोत्र तो देशसंयमके निमित्तसे भी बदल जाता है पर वह सभीके बदल जाता होगा ऐसा नहीं प्रतीत होता, अन्यथा कर्मशास्त्रके अनुसार पाँचवें गुणस्थानमें नीचगोत्रका उदय नहीं बन सकता है। ये दो प्रकारकी व्यवस्थाएँ हैं जिनका ज्ञान हमें कर्मसाहित्यसे होता है। इस पर बारीकीसे दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि जिनके जीवनमें किसी न किसी रूपमें स्वावलम्बनकी मात्रा पाई जाती है वे उच्चगोत्री होते हैं और जिनके जीवनमें परावलम्बनकी बहुलता होती है वे नीचगोत्री होते हैं। देवों, भोगभूमिके मनुष्यों और सकलसंयमी मनुष्योंके उच्चगोत्री होने तथा नारकियों और तिर्यञ्चोंके नीचगोत्री होनेका यही कारण है। इनके जीवनकी धाराका जो चित्र जैनसाहित्यमें उपस्थित किया गया है उसका बारीकीसे अध्ययन करने पर यह बात भलीभाँति समझी जा सकती है, अतएव इसे हमारा कोरा तर्क नहीं मानना चाहिए। उदाहरणार्थ—देवोंको ही लीजिए। उनके जीवनकी जो भी आवश्यकताएँ हैं उनके लिए उन्हें परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। इच्छानुसार उनकी पूर्ति अनायास हो जाती है। भोगभूमिके मनुष्योंकी भी यही स्थिति है। यद्यपि महाव्रतोंका पालन करनेवाले मुनि आहारादिके लिए गृहस्थोंका अवलम्बन लेते हैं। परन्तु वे आहारादिके समय न तो दीनता स्वीकार करते हैं और न गृहस्थोंकी अधीनता ही स्वीकार करते हैं। अपने स्वावलम्बनका उत्कृष्ट रूपसे पालन करते हुए अपने अनुरूप आहारादिकी प्राप्ति होने पर उसे वे

स्वीकार कर लेते हैं। कदाचित् आहारादिकी प्राप्ति नहीं होती है तो उसकी अपेक्षा किये बिना वनकी ओर मुड़ जाते हैं। आहारके लाभमें उनकी जो मनस्थिति होती है, उसके अलाभमें भी वही मनस्थिति बनी रहती है। जिसे समतातत्त्वका अभ्यास कहा जाता है वह इसीका नाम है। किन्तु इसके विपरीत नारकियों और तिर्यञ्चोंका जीवन स्वावलम्बनसे कोसों दूर है। नारकियोंकी चाह बहुत है, मिलता नहीं अणु बराबर भी। जीवनमें सर्वत्र विकलताका साम्राज्य छाया रहता है। तिर्यञ्चोंकी पराधीनताकी स्थिति तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार उक्त जीवधारियोंके इस नैसर्गिक जीवन पर दृष्टिपात करनेसे यही विदित होता है कि जिनके जीवनमें स्वावलम्बनकी ज्योति जगती रहती है वे उच्चगोत्री होते हैं और इनके विपरीत शेष नीचगोत्री।

वर्णव्यवस्था जीवनका अङ्ग नहीं है, वह मानवकृत है। देश, काल और परिस्थितिके अनुसार उसमें परिवर्तन भी होता है। वह सार्वत्रिक भी नहीं है, इसलिए इस आधारसे न तो स्वावलम्बन और परावलम्बनकी ही व्याख्या की जा सकती है और न उच्चगोत्र और नीचगोत्रकी व्यवस्था ही बनाई जा सकती है, क्योंकि ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होनेके बाद कोई मनुष्य परावलम्बनका आश्रय नहीं लेगा, न तो यह ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है और शूद्रकुलमें जन्म लेनेके बाद कोई मनुष्य स्वावलम्बी नहीं होगा, न यह ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। अतएव जैनपरम्परामें गोत्रको जिस रूपमें स्थान मिला है उसके अनुसार यही मानना उचित है कि गोत्रका सम्बन्ध वर्णव्यवस्थाके साथ न होकर प्राणीके जीवनके साथ है और उसकी व्याप्ति चारों गतियोंके जीवोंमें देखी जाती है।

उच्चगोत्र, तीन वर्ण और षट्कर्म—

इस प्रकार गोत्रके व्यावहारिक अर्थके साथ उसकी उक्त व्याख्याओंमेंसे प्रकृतमें कौन व्याख्याएँ ग्राह्य हैं और कौन व्याख्याएँ ग्राह्य नहीं हैं इस बातकी संक्षेपमें मीमांसा की। अब देखना यह है कि पूर्वमें गोत्रकी जो

आचार या सन्तान परक व्याख्याएँ दे आये हैं उनके प्रभावका उपयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा है या धार्मिक क्षेत्रमें भी उनका प्रभाव पड़ा है ? प्रश्न मार्मिक है, अतएव आगे विस्तारके साथ इसका विचार किया जाता है।

आचार दो प्रकारका है—वर्णसम्बन्धी या आजीविकासे सम्बन्ध रखनेवाला आचार और आत्मशुद्धिमें प्रयोजक आचार। वर्णसम्बन्धी आचार भारतवर्ष (भारतक्षेत्र नहीं) तक ही सीमित है, क्योंकि इसी क्षेत्रके मनुष्यों में ब्राह्मणधर्मके प्रभाववश चार वर्ण और उनके अलग अलग आचारकी व्यवस्था देखी जाती है। किन्तु आत्मशुद्धिमें प्रयोजक आचार केवल भारतवर्ष तक हो सीमित नहीं है। किन्तु भारतवर्षके बाहर तिर्यञ्चों तकमें भी वह पाया जाता है, इसलिए आत्मशुद्धिमें प्रयोजक आचार न तो वर्णव्यवस्थाके साथ जुड़ा हुआ है और न उच्च-नीच गोत्रके साथ ही। इतना अवश्य है कि आत्मशुद्धिमें प्रयोजक जो मुनिका आचार है उसकी व्याप्ति उच्चगोत्रके साथ अवश्य है। वहाँ अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि जो भावमुनिके आचारका पालन करता है वह नियमसे उच्चगोत्री होता है। फिर चाहे उसे उच्चगोत्रकी प्राप्ति भवके प्रथम समयमें हुई हो या संयमग्रहणके प्रथम समयमें, पर होगा वह नियमसे उच्चगोत्री ही। इस स्थितिके रहते हुए भी आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें कुछ ऐसी परम्पराएँ कायम की हैं जिनका समर्थन उनके पूर्ववर्ती किसी भी प्रकारके जैन साहित्यसे नहीं होता। उदाहणार्थ वे अपने नये दीक्षित ब्राह्मणोंको भरत चक्रवर्तीके मुखसे उपदेश दिलाते हुए कहते हैं—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥ पर्व ३८

अर्थात् भरतने उन द्विजोंको श्रुतके उपासकसूत्रके आधारसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया।

आचार्य जिनसेन पुराने षट्कर्मोंके स्थानमें अपने द्वारा चलाये गये इन षट्कर्मोंको ब्राह्मणोंका कुलधर्म कहते हैं। आगे उन्होंने उपनीति क्रिया और कुलचर्यासे इनका सम्बन्ध स्थापित कर इन्हें आर्यषट्कर्म भी कहा है। साधारणतः आचार्य जिनसेनने गर्भादानादि सब क्रियाओंका उपदेश ब्राह्मण-वर्णकी मुख्यतासे ही दिया है। उपनीति आदि क्रियाएँ क्षत्रिय और वैश्योंके लिए निषिद्ध नहीं हैं, इसलिए असिआदि कर्मोंके आधारसे कहीं-कहीं द्विजों में उनका भी अन्तर्भाव कर लिया है। उनके विवेचनसे स्पष्ट विदित होता है कि वे आर्य शब्द द्वारा केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्ण-वाले मनुष्योंको ही स्वीकार करना चाहते हैं। इस प्रकरणमें उन्होंने शूद्रों की आर्योंमें कहीं भी परिगणना नहीं की है।

इज्या आदि आर्य षट्कर्मोंका उल्लेख तो चारित्रसारके कर्ताने भी किया है। तथा वार्ताके स्थानमें गुरूपास्तिको रखकर इनका उल्लेख सोमदेवसूरिने भी किया है। किन्तु उन्हें वे गृहस्थोंके कर्तव्योंमें परिगणित करते हैं, केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके आवश्यक कर्तव्योंमें नहीं। चारित्रसारका उल्लेख इस प्रकार है—

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति।

यह तो हम आगे चलकर विस्तारके साथ बतलानेवाले हैं कि महा-पुराणके अनुसार ब्राह्मणवर्णकी स्थापना भरत चक्रवर्तीने की थी और उन्होंने ही उन्हें इज्या आदि आर्य षट्कर्मोंका उपदेश देकर उनका कुलधर्म बत-लाया था। ऋषभ भगवान्ने केवलज्ञान होनेके बादकी बात छोड़िए गृहस्थ अवस्थामें भी न तो ब्राह्मणवर्णकी स्थापना ही की थी और न उन्हें अलगसे आर्यषट्कर्मोंका उपदेश ही दिया था। चरित्रसारके कर्ता इस अन्तरको सम-झते थे, मालूम पड़ता है कि इसीलिए उन्होंने द्विजके स्थानमें जानबूझकर गृहस्थ शब्द रखा है।

ये छह कर्म गृहस्थके आवश्यक कर्तव्य कहे जा सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द रयणसारमें कहते हैं—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥१॥

श्रावकधर्ममें दान और पूजा ये दो कर्म मुख्य हैं। जो इन कर्मोंको नहीं करते वे श्रावक नहीं हो सकते। तथा मुनिधर्ममें ध्यान और अध्ययन ये दो कर्म मुख्य हैं। जो इन कर्मोंको नहीं करते वे मुनि नहीं हो सकते।

अतएव यह सम्भव है कि गृहस्थधर्मका उपदेश करते समय आदिनाथ जिनने गृहस्थोंको आवश्यकरूपमें देवपूजा आदि कर्मोंको प्रतिदिन करनेका उपदेश दिया हो। किन्तु इन कर्मोंको केवल तीन वर्णका गृहस्थ ही कर सकता है शूद्रवर्णका गृहस्थ नहीं इसे आगम स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जैन आचारशास्त्रमें जिन आवश्यक कर्मोंका उल्लेख मिलता है वे मुनियोंके समान गृहस्थोंके द्वारा भी अवश्य करणीय कहे गये हैं। यह विचारणीय बात है कि जब कि शूद्रवर्णका मनुष्य भी गृहस्थ धर्मको स्वीकार कर सकता है और उसकी जिनदेव, जिनगुरु, जिनागम और उनके आयतनोंमें अटूट श्रद्धा होती है ऐसी अवस्थामें वह उनकी पूजा किये बिना रहे तथा अतिथि-संविभागव्रतका पालन करते हुए वह मुनियोंको दान न दे यह कैसे हो सकता है?

हम पहले सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साधनोंका निर्देश करते समय जिनबिम्बदर्शन और जिनधर्मश्रवण इन दो साधनोंका स्वतन्त्ररूपसे उल्लेख कर आये हैं। ये साधन तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगतिके जीवोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। नरकगतिमें अवश्य ही जिनबिम्बदर्शन साधन सम्भव नहीं है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि मनुष्यगतिमें केवल तीन वर्णका मनुष्य ही सम्यग्दर्शन आदि धर्मका अधिकारी नहीं है। उनके साथ शूद्र वर्णका मनुष्य भी उसका अधिकारी है, इसलिए अन्य तीन वर्णके मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवोंके समान वह भी जिनमन्दिरमें जाकर जिन प्रतिमाकी पूजा और स्वाध्याय करे, उत्तम, मध्यम और जघन्य अतिथिके

उपस्थित होने पर यथासम्भव भक्ति और श्रद्धापूर्वक उन्हें दान दे, अपने पदके अनुरूप वृत्तिको स्वीकार कर अपनी आजीविका करे, पर्व दिनोंमें और अन्य कालमें एकाशन आदि करे तथा यथासम्भव इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमका पालन करे इसमें जिनागमसे कहाँ बाधा आती है। मनुष्यकी बात तो छोड़िए, आगम साहित्यमें जहाँ पूजा और दानका प्रकरण आया है वहाँ उसका अधिकारी तिर्यञ्चतकको बतलाया गया है। षट्खण्डागम क्षुल्लकबन्धमें एक जीवकी अपेक्षा कालका प्ररूपण करते समय पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके अवान्तर भेदोंमें उत्कृष्ट कालके निरूपणके प्रसङ्गसे धवला टीकामें यह प्रश्न उठाया गया है कि तिर्यञ्चोंका दूसरोंको दान देना कैसे सम्भव है? इसका समाधान करते हुए वहाँ पर कहा गया है कि जो संयतासंयत तिर्यञ्च सचित्तत्याग व्रत स्वीकार कर लेते हैं उनके लिए अन्य तिर्यञ्च शल्लकीके पत्तों आदिका दान करते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार जब तिर्यञ्च तक आगममें दान देनेके अधिकारी माने गये हैं और उसके फल-स्वरूप वे भोगभूमिमें और स्वर्गादि उत्तम गतियोंमें जन्म लेते हैं। ऐसी अवस्थामें शूद्रोंको उक्त कर्मोंका अधिकारी नहीं मानना न तो आगमसम्मत प्रतीत होता है और न तर्कसंगत ही, क्योंकि जैनधर्मके अनुसार सभी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य भोगभूमि और स्वर्गके अधिकारी माने गये हैं। मनुष्य तो उसी पर्यायमें मोक्षके भी अधिकारी होते हैं। कर्मकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें एक गाथा आई है। उसमें कर्म-भूमिकी द्रव्यस्त्रियोंके कितने संहननोंका उदय होता है यह बतलाया गया है। गाथा इस प्रकार है—

> अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
> आदिमतियसंहडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३२॥

तात्पर्य यह है कि कर्मभूमिमें उत्पन्न हुई महिलाओंमें अन्तके तीन संघननोंका उदय होता है। इनमें आदिके तीन संघनन नहीं होते ऐसा जिनेन्द्रदेवने निर्देश किया है।

यह गाथा अपनेमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि कर्मभूमिकी महिलाओंको छोड़कर वहाँ उत्पन्न हुए सब प्रकारके मनुष्योंमें छहों संघननोंकी प्राप्ति सम्भव है।, शूद्र इस नियमके अपवाद नहीं हो सकते, अतः काललब्धि प्राप्त होने पर शूद्र न केवल गृहस्थ धर्मके अधिकारी हैं। किन्तु वे मुनिधर्मको अंगीकार कर उसी भवसे मोक्षको भी प्राप्त हो सकते हैं।

आचार्य जिनसेनने आर्य षट्कर्मोंका उपदेश केवल ब्राह्मणोंको ही क्यों दिया इसका एक दूसरा पहलू भी हो सकता है। महापुराणमें वे इस बातको स्पष्टरूपसे स्वीकार करते हैं कि भरतचक्रवर्तीने दिग्विजयके बाद प्रजामें योग्य व्यक्तियोंका आदर-सत्कार करनेके विचारसे प्रजाको आमन्त्रित किया और उनमें जो व्रती थे उनका आदर-सत्कार करके उनको ब्राह्मणवर्णमें स्थापित किया। अनन्तर कुलधर्मरूपसे उन्हें आर्यषट्कर्मका उपदेश दिया।

यह महापुराणके कथनका सार है। इसे यदि इस रूपमें लिया जाता है कि जो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र गृहस्थधर्मको स्वीकार कर व्रती हो जाते हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं कमसे कम कुलधर्मके रूपमें उन्हें इज्या आदि षट्कर्मका पालन तो अवश्य ही करना चाहिए। तब तो विचारकी स्थिति दूसरी हो जाती है। परन्तु आचार्य जिनसेन इस स्थितिका सर्वत्र एक रूपमें निर्वाह नहीं कर सके हैं। घूम फिर कर वे जन्मना वर्णव्यवस्था पर आ जाते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि हमें ऐसा द्विजन्मा इष्ट है जो गर्भजन्म और क्रिया- मन्त्रजन्म इन दोनोंसे द्विज हो। वे कहते हैं—

> तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम्।
> एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥ पर्व।

जब कि शूद्र जैनधर्मको समग्ररूपसे धारण करनेका अधिकारी है। ऐसी अवस्थामें आचार्य जिनसेनने मात्र शूद्र वर्ण पर अनेक प्रतिबन्ध क्यों लगाये इस विषयको स्पष्टरूसे समझनेके लिए हमारा ध्यान मुख्यतः मनुस्मृतिकी ओर जाता है। मनुस्मृतिमें ब्राह्मण वर्णके अध्यापन, अध्ययन,

यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छह कर्म बतलाये गये हैं। यथा—

> अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
> दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥ अ० १०

महापुराणमें भी ये ही कर्म ब्राह्मणवर्णके बतलाये गये हैं। यथा—

> मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान्।
> अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छेज्येति तत्क्रियाः ॥२४६॥ पर्व १६

इनमेंसे अध्यापन, याजन, और प्रतिग्रह ये तीन कर्म ब्राह्मण वर्णकी आजीविकाके साधन हैं। शेष तीन कर्म द्विजातियोंमें सर्वसाधारण माने गये हैं। अर्थात् ब्राह्मणके समान क्षत्रिय और वैश्यके मनुष्य भी इन कर्मोंको करनेके अधिकारी हैं। इस तथ्यको मनुस्मृति इन शब्दोंमें स्वीकार करती है—

> षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
> याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥७६॥ पर्व १०।
> त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
> अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥७७॥
> वैश्यं प्रति तथैवेते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
> न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

इससे मालूम पड़ता है कि इस विषयमें महापुराणमें मनुस्मृतिका अनुसरण किया गया है, अन्यथा कोई कारण नहीं था कि शूद्रको पूजा, दान और स्वाध्याय जैसे श्रावकोचित्त कर्तव्योंसे भी वञ्चित किया जाता। कहाँ तो मनुस्मृति धर्मको अपना बनाकर आचार्य जिनसेनका यह कहना कि षट्कर्मोंका अधिकारी मात्र तीन वर्णका मनुष्य होता है और कहाँ आचार्य कुन्दकुन्दका यह कहना कि 'दान और पूजा ये श्रावकधर्ममें मुख्य हैं, उनके बिना कोई श्रावक नहीं हो सकता।' दोनों पर विचार

कीजिए और देखिये कि इनमेंसे कौन कथन ग्राह्य है। हम इस विषय पर और अधिक टीका-टिप्पणी नहीं करेंगे। वस्तुस्थिति क्या है यह दिखलाना मात्र हमारा प्रयोजन होनेसे यहाँ हमने इस विषयका तुलनाके साथ विस्तार-पूर्वक निर्देश कर दिया है।

संक्षेपमें समग्र प्रकरण पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि उच्च-गोत्र, तीन वर्ण और आर्य षट्कर्म ये एक प्रकारसे पर्यायवाची मान लिए गये हैं। और देवपूजा, दान, स्वाध्याय, संयम और तपरूप धर्मको तथा गोत्रकी आध्यात्मिकता समाप्त कर उन्हें वर्णोंके समान सामाजिक बनानेका प्रयत्न किया गया है। आचार्य जिनसेनका यह उपक्रम केवल गृहस्थधर्म तक ही सीमित नहीं है। गृहस्थधर्मके बाद दीक्षाद्य क्रियासे लेकर निर्वृत्ति तक जितनी भी क्रियायें हैं उन्हें भी उन्होंने यही रूप देनेका प्रयत्न किया है। उनके द्वारा उपदिष्ट इस समग्र प्रकरणको पढ़नेके बाद हमारा ध्यान मनु-स्मृति पर जाता है। मनुस्मृतिमें भी कर्मके प्रवृत्तकर्म और निवृत्तकर्म ये दो भेद करके उनका अधिकारी मात्र द्विज माना गया है वहाँ कहा है—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥७८, अ० १२॥

आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें वैदिक ब्राह्मणोंको भला बुरा चाहे जितना कहा हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जैनधर्मकी आध्यात्मिकताको गौण करके उसे तीन वर्णका सामाजिक धर्म या कुलधर्म बनानेका भरपूर प्रयत्न किया है। बहुत सम्भव है कि उन्हें इस कार्यमें उनके गुरुका भी आशीर्वाद रहा है।

एक भवमें गोत्र परिवर्तन—

जीवमें कर्मके निमित्तसे होनेवाली पर्याय कई प्रकारकी होती हैं। कुछ पर्याय एक समयवाली होती हैं। जैसे व्याघातसे उत्पन्न हुई एक समयवाली मान पर्याय। कुछ पर्याय अन्तर्मुहूर्तवाली होती हैं। जैसे व्याघात और मरणके

बिना उत्पन्न हुईं क्रोधादि पर्याय। कुछ पर्याय जीवन पर्यन्त होती हैं। जैसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद पर्याय। उच्चगोत्र और नीचगोत्र भी गोत्रकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्याय हैं, इसलिए उनके विषयमें क्या नियम है ? क्या वे क्रोधादि पर्यायके समान एक समयमें या अन्तर्मुहूर्तमें बदल जाती हैं या वेदनोकषायके समान जीवनके अन्त तक स्थायी-रूपसे बनी रहती हैं ? यह प्रश्न है। इसके समाधानके लिए हमें थोड़ा उदय प्रकरण पर दृष्टिपात करनेकी आवश्यकता है। वहाँ बतलाया है कि नारकियों और तिर्यञ्चोंमें एकमात्र नीचगोत्र पर्याय होती है। देवोंमें केवल उच्चगोत्र पर्याय होती है तथा मनुष्योंमें कुछमें नीचगोत्र और कुछमें उच्चगोत्र पर्याय होती है, इसलिए इस कथनसे तो इतना ही बोध होता है कि वेदनोकषायके समान गोत्रके विषयमें भी यह नियम है कि भवके प्रथम समयमें जिसे जो गोत्र मिलता है वह जीवनके अन्ततक बना रहता है। उसमें परिवर्तन नहीं होता। गोत्रकी अपरिवर्तनशीलताके विषयमें यह साधारण नियम है। किन्तु इस नियमके कुछ अपवाद हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. जो नीचगोत्री मनुष्य सकलसंयम (मुनिधर्म) को स्वीकार करता है उसका नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है।

२. जो तिर्यञ्च संयमासंयम (श्रावकधर्म) को स्वीकार करता है उसका भी नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है।

यद्यपि कार्मिक साहित्यमें सब प्रकारके तिर्यञ्चोंमें नीचगोत्र होता है यह उल्लेख किया है। महाबन्धके परस्थान सन्निकर्ष अनुयोगद्वारमें तिर्यञ्च-गतिके साथ नीचगोत्रका ही सन्निकर्ष बतलाया है, इसलिए इससे भी यही फलित होता है कि सब तिर्यञ्च नीचगोत्री होते हैं। किन्तु वीरसेन स्वामी इस मतको स्वीकार नहीं करते और इसे वे पूर्वापर विरोध भी नहीं मानते। उनके कहनेका आशय यह है कि अन्य गुणस्थानवाले सब तिर्यञ्च भले ही नीचगोत्री रहे आवें, किन्तु संयतासंयत तिर्यञ्चोंको उच्चगोत्री मानने में आगमसे बाधा नहीं आती।

आगममें उच्चगोत्रको भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों प्रकारका बतलाया है। वहाँपर गुण शब्दका अर्थ संयम और संयमासंयम किया है। मालूम पड़ता है कि इसकी चरितार्थताको ध्यानमें रख कर ही वीरसेन स्वामीने संयतासंयत तिर्यञ्चोंमें उच्चगोत्रकी मान्यताको मुख्यता दी है।

जिसप्रकार संयतासंयत तिर्यञ्चोंमें नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है उस प्रकार संयतासंयत मनुष्योंमें भी नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र होता है या नहीं होता इस विषयमें विधि-निषेध परक कोई आगम वचन अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया है, इसलिए इस विषयमें हम अभी निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं लिख सकते। परन्तु मनुष्योंमें भी नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र होना सम्भव है ऐसा माननेमें आगमसे कोई बाधा नहीं आनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार संयमासंयमके निमित्तसे तिर्यञ्चोंमें नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्रकी बात वीरसेन स्वामीने स्वीकार की है। उस प्रकार मनुष्योंमें भी नीचगोत्रका बदलना बन जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस प्रकार होनेवाले गोत्र परिवर्तनमें आत्मशुद्धिमें प्रयोजक चारित्र ही कार्यकारी है, बाह्य वर्णाचार या कुलाचार नहीं।

नीचगोत्री संयतासंयत क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य—

सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं। उनमेंसे क्षायिक सम्यग्दर्शन सबसे श्रेष्ठ है। यह होता तो चारों गतियोंमें है पर इसका प्रारम्भ केवल मनुष्यगतिमें ही होता है। मनुष्यगतिमें भी यह कर्मभूमिज मनुष्यके ही उत्पन्न होता है, क्योंकि इसकी उत्पत्तिमें प्रधान निमित्त केवली, श्रुतकेवली और तीर्थङ्कर कर्मभूमिमें ही पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्रमें तीर्थङ्कर आदि होते हैं उस क्षेत्रमें उनके पादमूलमें ही इसकी उत्पत्ति होती है। यह अपने विरोधी कर्मोंका नाश होकर उत्पन्न होता है, इसलिए इसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस मनुष्यको इसकी प्राप्ति होती है वह या तो उसी भवमें मोक्ष जाता है या तीसरे या चौथे भवमें मोक्ष जाता है। इससे अधिक

भवोंको इसे धारण नहीं करना पड़ता। तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका बन्ध होनेके बाद यदि क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो चौथे भवमें मुक्ति लाभ करता है। तथा नरकायु और देवायुका बन्ध होनेके बाद यदि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो तीसरे भवमें मुक्ति लाभ करता है। यदि आयुबन्ध नहीं होता है तो उसी भवसे मुक्ति लाभ करता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व चारों आयुओंका बन्ध होना सम्भव है पर क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके बाद यदि आयुबन्ध होता है तो एकमात्र देवायुका ही बन्ध होता है। ऐसा मनुष्य भी तीसरे भवमें मुक्तिलाभ करता है। सब चारित्रोंमें क्षायिकचारित्रका जो स्थान है, सब सम्यक्त्वोंमें वही स्थान क्षायिकसम्यक्त्वका माना गया है।

प्रश्न यह है कि जिस सम्यक्त्वका इतना अधिक महत्व है, जो अपनी उत्पत्ति द्वारा मुक्तिको इतने पास ला उपस्थित करता है वह कर्मभूमिज मनुष्योंमें उत्पन्न होता हुआ भी क्या आर्य, म्लेच्छ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन सब प्रकारके मनुष्योंमें उत्पन्न होता है या केवल लोकमें विशिष्ट कुलवाले माने गये मनुष्योंमें ही उत्पन्न होता है? प्रश्न मार्मिक है। आगम साहित्यमें इसका समाधान किया गया है। वहाँ बतलाया है कि जो कर्मभूमिज मनुष्य नीचगोत्री होते हैं उनमें भी इसकी उत्पत्ति होती है और जो उच्चगोत्री होते हैं उनमें भी इसकी उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं वहाँ तो यहाँ तक बतलाया गया है कि क्षायिकसम्यग्दर्शन सम्पन्न संयतासंयत मनुष्य भी नीचगोत्री होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नीचगोत्री कर्मभूमिज मनुष्य तीर्थङ्कर, केवली और श्रुतकेवलीके सन्निकट रह कर क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी उत्पन्न करते हैं और योग्य सामग्रीके मिलने पर श्रावकधर्मको भी स्वीकार करते हैं। श्रावकधर्मको स्वीकार करनेका अर्थ है पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको स्वीकार करना। अर्थात् वे श्रावकोंके इन बारह व्रतोंका आचरण करते हुए उच्चगोत्री श्रावकोंके समान जिनदेवकी पूजा करते हैं, मुनियोंको आहार देते हैं,

जिनागमका स्वाध्याय करते हैं और यथासम्भव संयम और तपका भी पालन करते हैं। कदाचित् ऐसे मनुष्योंको सुयोग मिलने पर वे सकल संयमको स्वीकार कर उसका भी उत्तम रीतिसे पालन करते हैं। इतना अवश्य है कि ऐसे मनुष्य यदि भावसे मुनिधर्मको स्वीकार करते हैं तो उनका नीचगोत्र बदल कर नियमसे ऊच्चगोत्र हो जाता है।

कर्मभूमिमें क्षेत्रकी दृष्टिसे आर्य और म्लेच्छ इन भेदोंमें बटे हुए और लौकिक दृष्टिसे या आजीविकाकी दृष्टिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार भागोंमें बटे हुए जितने भी मनुष्य हैं उन सबका समावेश नीचगोत्री और उच्चगोत्री मनुष्योंमें हो जाता है। इन दो गोत्रोंके बाहर कोई भी मनुष्य नहीं पाये जाते, इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्चगोत्री होते हैं और म्लेच्छ और शूद्र नीचगोत्री होते हैं उनके मतसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्चगोत्री माने गये हैं वे तो क्षायिक सम्यग्दर्शन संयमासंयम और संयमके पात्र हैं ही। साथ ही जो म्लेच्छ और शूद्र नीचगोत्री माने गये हैं वे भी क्षायिकसम्यग्दर्शन, संयमासंयम और संयमके पात्र होते हैं।

यद्यपि आगमका ऐसा अभिप्राय नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नियमसे उच्चगोत्री होते हैं। तथा म्लेच्छ और शूद्र नियमसे नीचगोत्री होते हैं, दृष्टान्तके लिए भरतचक्रवर्तीके द्वारा बनाये गये श्रावकोंको लीजिए। नियम यह है कि जो श्रावक धर्मको स्वीकार करता है वह नीचगोत्री भी होता है और उच्चगोत्री भी होता है, इसलिए भरतचक्रवर्तीने केवल उच्चगोत्री श्रावकोंको ब्राह्मणवर्णमें स्थापित किया होगा ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस समय जितने श्रावक थे उन सबको ब्राह्मणवर्णमें स्थापित किया गया था ऐसा पुराण ग्रन्थोंसे विदित होता है, अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य केवल उच्चगोत्री ही होते हैं यह मान्यता ठीक नहीं है। जो आचार्य इस मान्यताको लेकर चले भी हैं,

मालूम पड़ता है कि उन्होंने लोकरूढ़िको देखकर स्थूलदृष्टिसे ही इसका कथन किया है। अन्यथा वे एक स्थान पर लोकाचारको मान्यता देकर उसके आधारसे गोत्रके दो भेद करके दूसरे स्थान पर उनका जीवके पर्यायरूपसे कभी भी समर्थन नहीं करते। यह कथन करनेकी शैली है। चरणानुयोगमें चारित्र और क्रियाओंका स्थूल दृष्टिसे कथन होना तो उचित है। किन्तु उसीको अन्तिम मानकर चलना उचित नहीं है। स्थूल दृष्टिसे यह भले कहिए कि जो जैनधर्मकी श्रद्धा करता है और जिसने उसकी दीक्षा ले ली है वह जैन है। किन्तु जो आत्माकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर स्वावलम्बनके मार्ग पर चल रहा है, प्रकटमें वह भले ही जैन सम्प्रदायमें दीक्षित न हुआ हो तो भी प्रसङ्ग आने पर उसे जैन माननेसे अस्वीकार मत करिए। धर्म सनातन सत्य है। उसे न तो किसी सम्प्रदायके साथ बाँधा ही जा सकता है और न सम्प्रदायवालोंकी मर्जी पर उसे छोड़ा ही जा सकता है। सर्वत्र विवेकसे काम लेनेकी आवश्यकता है। आगमका अभिप्राय स्पष्ट है।

जैनधर्मकी दीक्षाके समय गोत्रका विचार नहीं होता—

सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय जीवका कौन परिणाम होता है, कौन योग होता है, कौन कषाय होती है, कौन उपयोग होता है, कौन लेश्या होती है और कौन वेद होता है इन सबका विचार किया गया है। यह इसलिए कि इनमेंसे जिस प्रकारके परिणाम आदिके सद्भावमें सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति नहीं होती उनका निषेध कर शेषका विधान किया जा सके। अनेक बार मेरे मनमें यह प्रश्न उठा कि ऐसे अवसर पर जिस प्रकार कौन परिणाम होता है इत्यादिका विचार किया गया है उस प्रकार गोत्रका विचार क्यों नहीं किया गया। प्रारम्भसे ही यदि धर्ममें ब्राह्मण आदि तीन वर्णवालोंकी प्रमुखता रही है और वे ही उच्चगोत्री माने जाते रहे हैं तो और बातोंके साथ इसका भी विचार होना आवश्यक था कि सम्यग्दर्शन

आदिकी उत्पत्तिके समय कौन गोत्र होता है—ब्राह्मण गोत्र होता है या अन्य कोई ? किन्तु इसके विपरीत आगम साहित्यकी स्थिति यह है कि उसमें चार वर्णों और आर्य-म्लेच्छ भेदोंका उल्लेख तक नहीं हुआ है। क्या कारण है ? क्या मध्यकालके पूर्व किसी आचार्यको इसका ज्ञान ही नहीं था कि जिस प्रकार स्त्रीवेद आदि जीवके परिणाम हैं उस प्रकार ये ब्राह्मण आदि और आर्य-म्लेच्छ भेद भी जीवके परिणाम (पर्याय) हैं। अर्थात् ये उच्च और नीचगोत्रके अवान्तर भेद हैं। यदि उन्हें इसका ज्ञान था तो गोत्रके अवान्तर भेदोंमें इनकी परिगणना क्यों नहीं की गई और सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय इनका विचार क्यों नहीं किया गया ? इसका क्या कारण है ? यदि ये गोत्रके भेद न मान कर पञ्चेन्द्रिय जाति या मनुष्यगति नामकर्मके भेद माने जाते हैं और साथ ही यह भी माना जाता है कि गति और जातिके किये गये इस प्रकार अमुक भेदके साथ अमुक प्रकारके धर्मका अविनाभाव सम्बन्ध है तब भी यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसी बात थी तो उसका आगममें उल्लेख क्यों नहीं हुआ ? या तो यह मानिए कि ये ब्राह्मण आदि नाम आजीविकाके आधारसे कल्पित किये गये हैं, ये मनुष्योंके नामकर्म या गोत्रकर्मकृत भेद नहीं हैं। और यदि इन्हें मनुष्योंके अवान्तर भेद मानकर उनका नामकर्म या गोत्रकर्मके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तो यह बतलाइए कि आगममें इन भेदोंका उस रूपसे उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? स्थिति स्पष्ट है। आगम साहित्यके देखनेसे विदित होता है कि वास्तवमें ये ब्राह्मण आदि नाम मनुष्योंके अवान्तर भेद नहीं हैं। न तो ये मनुष्यगति नामकर्मके भेद हैं और न गोत्रकर्मके ही भेद हैं। यही कारण है कि आगममें न तो इनका उल्लेख ही हुआ है और न वहाँ इनका धर्माधर्मकी दृष्टिसे विचार ही किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार ये जीवके भेद नहीं हैं उसी प्रकार ये शरीरके भी भेद नहीं हैं। यही कारण है कि चरणानुयोगके मूल ग्रन्थ मूलाचार और रत्नकण्डश्रावकाचारमें भी इनके आधारसे विचार नहीं किया गया है। थोड़ा

और विस्तारके साथ समग्र जैन साहित्यका आलोढन करने पर विदित होता है कि मध्यकालके पूर्व जैन वाङ्मयमें यह विचार ही नहीं आया था कि ब्राह्मण आदि तीन वर्णके मनुष्य ही दीक्षाके योग्य हैं अन्य नहीं। अधिकसे अधिक इस विचारको या इसी प्रकारके दूसरे उल्लेखोंको मध्यकालका पुराण-धर्म (सरागी और छद्मस्थ राजा द्वारा प्रतिपादित धर्म) कह सकते हैं आर्हत धर्म नहीं, क्योंकि महापुराणमें भी इस प्रकारका कथन आचार्य जिनसेनने भरत चक्रवर्तीके मुखसे ही कराया है, आदिनाथ जिनके मुखसे नहीं।

अब जिस प्रश्नको हमने प्रारम्भमें उठाया था वही शेष रह जाता है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय परिणाम आदिका विचार किया गया है उस प्रकार गोत्रका विचार क्यों नहीं किया गया ? समाधान यह है कि जिस प्रकार अमुक प्रकारके परिणाम आदिके रहते हुए ही सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति होती है अमुक प्रकारके परिणाम आदिके रहते हुए नहीं, इसलिए सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय कौन परिणाम होता है आदिका विचार करना आवश्यक है उस प्रकार अमुक गोत्रके होने पर ही सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति होती है अमुक गोत्र के होने पर नहीं ऐसा कोई नियम नहीं है, इसलिए आगममें सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय कौन गोत्र होता है इसका विचार नहीं किया है।

व्यावहारिक दृष्टिसे यदि इस बातका स्पष्टीकरण किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ब्राह्मण धर्ममें यह परिपाटी प्रचलित है कि अध्ययन आदि करनेके पूर्व आचार्य शिष्यका नाम, माता-पिताका नाम, जाति नाम और गोत्रनाम आदि पूछकर यह ज्ञात होने पर कि यह उच्च जाति और उच्च गोत्रका है तथा अमुक गाँवका रहनेवाला अमुकका पुत्र है उसे अध्ययन आदिकी अनुज्ञा देते थे उस प्रकार जैनधर्ममें इन सब बातोंके पूछनेकी परिपाटी कभी भी नहीं रही है। करणानुयोगके अनुसार तो दीक्षा को कोई स्थान ही नहीं है। चरणानुयोगके अनुसार दीक्षाको स्थान है और

वह दी भी जाती है तो भी इसके अनुसार ऊपरी लक्षणोंसे जो निकट भव्य दिखलाई देता था उसे धर्मका अधिकारी मानकर अपने परिणाम और शक्तिके अनुसार वह धर्ममें स्वीकार कर लिया जाता था। उसकी जाति और गोत्र आदिका विचार नहीं किया जाता था। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय उसका गोत्र कौन है इसका विचार अध्यात्मदृष्टिसे तो किया ही नहीं गया है, लौकिक दृष्टिसे भी नहीं किया गया है। जैनधर्ममें चाहे उच्चगोत्री हो और चाहे नीचगोत्री, आर्य म्लेच्छरूप तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूप सब मनुष्योंके लिए धर्मका द्वार समान रूपसे खुला हुआ है। उच्चगोत्री तो रत्नत्रयका पात्र है ही। जो नीचगोत्री है वह भी रत्नत्रयका पात्र है। इतना अवश्य है कि जो नीचगोत्री मुनिधर्मको स्वीकार करता है उसका नीचगोत्र बदल कर नियमसे उच्चगोत्र हो जाता है। धर्मकी महिमा बहुत बड़ी है। कुल शुद्धि जैसे कल्पित आवरणोंके द्वारा उसके प्रवाहको रोकना असम्भव है।

कुलमीमांसा

कुलके साङ्गोपाङ्ग विचार करनेकी प्रतिज्ञा—

पिछले प्रकरणमें हमने गोत्रकी साङ्गोपाङ्ग मीमांसा की। वहाँ उसके पर्यायवाची नामोंका उल्लेख करते हुए यह भी बतलाया कि कुल, वंश और सन्तान ये लौकिक गोत्रके ही नामान्तर हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लौकिक दृष्टिसे गोत्र परम्परा विशेषको सूचित करता है उसी प्रकार कुल और वंश भी परम्परा विशेषको ही सूचित करते हैं, इसलिए लोकमें जहाँ किसीकी परम्परा विशेषको सूचित करनेके लिए इनमेंसे कोई एक शब्द आता है वहाँ उसे बदलकर उसके स्थानमें दूसरे शब्दका भी उपयोग किया

जा सकता है। फिर भी पिछले प्रकरणमें हमारा लक्ष्य मुख्यतया जैन परम्परामें प्रचलित गोत्रके आधारसे व्याख्यान करने तक सीमित रहा है, इसलिए वहाँ पर कुल या वंशका विस्तारके साथ विचार नहीं किया जा सका है। किन्तु नौंवी शताब्दिके बाद उत्तरकालीन जैन साहित्यमें ब्राह्मण आदि वर्णोंके समान इनका भरपूर उपयोग हुआ है, इसलिए यहाँ पर इनका साङ्गोपाङ्ग विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

कुल और वंश शब्दका अर्थ—

यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन जैन आगम साहित्यमें कुल और वंश ये शब्द नहीं आये हैं; क्योंकि आगममें जिस प्रकार गोत्रको जीवकी पर्याय मान कर स्वीकार किया है उस प्रकार कुल या वंशको जीवकी पर्यायरूपसे स्वीकार नहीं किया गया है। जैन परम्पराके गोत्र और वैदिक परम्पराके गोत्रमें जो अन्तर है वही अन्तर जैन परम्परामें गोत्रसे कुल या वंशमें लक्षित होता है। परम संग्रहनयका विषय महासत्ता मानी गई है। परन्तु स्वरूपास्तित्वको छोड़कर जिस प्रकार उसकी पृथक् सत्ता नहीं पाई जाती है उसी प्रकार लोकमें कुल या वंशकी कल्पना की अवश्य गई है परन्तु जीवकी गोत्रपर्यायको छोड़कर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें यदि कहा जाय तो यह कहना उपयुक्त होगा कि वैदिक परम्परामें जिस अर्थमें गोत्र शब्द आता है, जैन पुराण साहित्यमें, कुल या वंश शब्द मुख्यतया उसी अर्थमें आये हैं। यद्यपि पौराणिक साहित्यमें कहीं-कहीं इन शब्दोंके स्थानमें गोत्र शब्दका व्यवहार हुआ है। परन्तु इतने मात्रसे कर्मसाहित्य और जीवसाहित्यमें आया हुआ गोत्र शब्द तथा चरणानुयोगमें और प्रथमानुयोगमें आया हुआ कुल या वंश शब्द एकार्थक नहीं हो जाते।

कुल शब्दका दूसरा अर्थ—

इस प्रकार साधारणतः जैन साहित्यमें कुल शब्द किस अर्थमें आया है इसका विचार किया। आगे उसके दूसरे अर्थ पर प्रकाश डालते हैं—

मूलाचारके पर्याप्ति नामक अधिकारमें सब संसारी जीवोंकी कुल कोटियाँ गिनाई हैं। इन कुल कोटियोंका उल्लेख गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी किया गया है, इसलिए प्रश्न होता है कि यहाँ पर कुल शब्दसे क्या लिया गया है? क्या जिस अर्थमें अन्यत्र कुल या वंश शब्द आता है उसी अर्थमें यहाँ पर कुल शब्द आया है या इसका कोई दूसरा अर्थ इष्ट है? समाधान यह है कि अन्यत्र आये हुए कुल या वंश शब्दके अर्थसे यहाँ पर आये हुए कुल शब्दके अर्थमें फरक है, क्योंकि अन्यत्र जहाँ भी कुल शब्दका व्यवहार हुआ है वहाँ पर उससे जीव और शरीर इनमेंसे किसीकी भी पर्याय नहीं ली गई है। यही कारण है कि आचार्य वीरसेन उसे काल्पनिक कहनेका और आचार्यकल्प पण्डित आशाधर जी उसे मृषा कहनेका साहस कर सके हैं। किन्तु कुलकोटिमें आये हुए कुल शब्दके अर्थकी यह स्थिति नहीं है। वह परमार्थसत् है। इतना अवश्य है कि मूल साहित्यमें स्पष्टीकरण न होनेसे उसके अर्थके विषयमें विवाद है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि सिद्धांत-चक्रवर्ती तो एकेन्द्रिय आदि जातियोंके जो अवान्तर भेद हैं वही यहाँ पर कुल शब्दका अर्थ है यह स्वीकार करते हैं और गोम्मटसार जीवकाण्डके टीकाकार आचार्य अभयनन्दि उच्च और नीचगोत्रके जो अवान्तर भेद हैं वह यहाँ पर कुल शब्दका अर्थ है यह स्वीकार करते हैं। इनमेंसे कौन अर्थ ठीक है यह कहना बहुत कठिन है। इतना स्पष्ट है कि पण्डितप्रवर टोडरमल्लजीने इन दोनों अर्थोंको स्वीकार किये बिना तीसरा ही अर्थ किया है। वे कहते हैं कि 'बहुरि कुल है सो जिनि पुद्गलनि करि शरीर निपजै तिनिके भेद रूप हैं। जैसैं शरीरपुद्गल आकारादि भेद करि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च विषै हाथी घोड़ा इत्यादि भेद हैं ऐसैं सो यथासंभव जानने।' पण्डित टोडरमल्लजीने उनके सामने जीवकाण्डकी संस्कृत टीकाके रहते हुए भी यह अर्थ किस आधारसे किया है इसका तो हमें ज्ञान नहीं है। परन्तु अनेक कारणोंसे यह अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो,

इतना स्पष्ट है कि यहाँ पर जिस अर्थमें कुल शब्द आया है अन्यत्र कुल या वंश शब्द उस अर्थमें नहीं आये हैं।

कुल और वंशके अर्थका साधार विचार—

हो सकता है कि चरणानुयोग और प्रथमानुयोगमें आये हुए कुल या वंश शब्दका हम जो अर्थ कर आये हैं, साधार स्पष्टीकरण किये विना उतने मात्रसे मनीषीगण सम्मत न हों, इसलिए यहाँ पर आधारके साथ उनका विचार किया जाता है। सर्व प्रथम हमें कुल शब्द आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यमें दृष्टिगोचर होता है। प्रवचनसारके चारित्र अधिकारमें आचार्य की विशेषताका निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि मुनिदीक्षाके लिए उद्यत हुआ भव्य कुलविशिष्ट आचार्यके पास दीक्षा स्वीकार करे। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि जो कुलक्रमसे आये हुए क्रूरता आदि दोषोंसे रहित हो ऐसे आचार्यके पास दीक्षा लेनी चाहिए। आचार्यको शिष्योंका अनुशासन करना पड़ता है, इसलिए उसका क्रूरता दोषसे रहित होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि जिसकी पूर्ववर्ती आचार्य परम्परा शिष्योंके साथ मानवोचित सौम्य व्यवहार करती आई हो ऐसी प्रसिद्ध आचार्य परम्पराके आचार्यके पास जाकर ही प्रत्येक भव्यको दीक्षा स्वीकार करनी चाहिए। स्पष्ट है कि यहाँ पर कुल शब्द आचार्य परम्पराको सूचित करता है, रक्तपरम्पराको नहीं। इसके बाद यह कुल शब्द रत्नकरण्डश्रावकाचारमें दृष्टिगोचर होता है। वहाँ यह शब्द सम्यग्दृष्टिके विशेषणरूपसे आया है। वहाँ पर बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शनसे पवित्र हुए मनुष्य महाकुलवाले मानवतिलक होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न होते हैं और यह भी स्पष्ट है कि चारों गतियोंके पर्याप्त संज्ञी जीव अपने-अपने योग्य कालमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न भी कर सकते हैं, इसलिए यहाँ पर इस शब्दका जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि हैं वे महाकुलवाले हैं यही अर्थ होता है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ पर

मात्र सम्यग्दृष्टिके कुलका महत्त्व दिखलानेके लिए यह शब्द आया है। कुल शब्द तत्त्वार्थसूत्रमें भी आया है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद उसका अर्थ दीक्षा देनेवाले आचार्योंकी शिष्यपरम्परा सूचित करते हैं। तत्वार्थसूत्रके अन्य टीकाकार भी सर्वार्थसिद्धिका ही अनुसरण करते हैं। मूलाचारमें यह शब्द इसी अर्थमें आया है यह उसकी टीकासे विदित होता है। इसके बाद धवला टीकाका स्थान है। इसके प्रथम भागमें कहींकी एक गाथा उद्धृत की गई है जिसमें आचार्यको कुलशुद्ध कहा है। स्पष्ट है कि यह उल्लेख प्रवचनसारके उल्लेखका ही अनुवर्तन करता है। इसी टीकामें आगे बारह वंशोंका भी उल्लेख हुआ है। यथा—अरिहन्तवंश, चक्रवर्तीवंश, विद्याधरवंश, वासुदेववंश और इक्ष्वाकुवंश आदि। इनमेंसे अरिहन्तवंश आदि तो ऐसे हैं जो मात्र अरिहन्तों आदिकी परम्पराको सूचित करते हैं और इक्ष्वाकुवंश आदि ऐसे हैं जिनसे पुत्र-पौत्र आदिकी परम्परा सूचित होती है। इसी टीकामें मुनियोंके कुलोंको सूचित करते हुए वे पाँच प्रकारके बतलाये गये हैं। यथा—पञ्चस्तूप कुल, गुफावासी कुल, शाल्मलिकुल, अशोकवाटककुल और खण्डकेशरकुल। इनसे इतना ही बोध होता है कि यह मुनिपरम्परा पूर्वमें कहाँ रहती थी। जो पाँच स्तूपोंके आस पास निवास करती थी उस परम्पराके सब मुनि पञ्चस्तूपकुलवाले कहलाये। इसी प्रकार अन्य कुलोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए। इसके बाद पद्मचरितका स्थान है। इसमें पुत्र-पौत्र परम्पराकी दृष्टिसे इक्ष्वाकुवंश और सोमवंश आदि कुलोंका नामनिर्देश तो किया ही है। साथ ही श्रावककुल और ऋषिवंश इन कुलोंका भी नामनिर्देश किया है। स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रावकधर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंके समुदायको श्रावककुल और ऋषियोंके समुदायको ऋषिवंश कहा है। हरिवंश पुराणकी स्थिति पद्मचरितके ही समान है। आर्हतकुलशब्द महापुराणमें भी आया है। इतना अवश्य है कि इसमें कुलशब्दकी व्याख्या करते हुए पिताकी अन्वयशुद्धिको कुल कहा गया है और श्रावकका जितना भी आचार है

उसकी कुलाचारमें परिगणना कर ली है। साथ ही यह भी अंकुश लगा दिया है कि जो इस आचारका ध्वंश करता है वह कुलबाह्य हो जाता है। महापुराणका उत्तरकालवर्ती जितना साहित्य है उसकी कुलके सम्बन्धमें प्रतिपादनशैली लगभग महापुराणके समान ही है। इतना अवश्य है कि उत्तरकालीन साहित्यमें जैनकुल शब्द भी आया है। यहाँ पर हम यह निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं कि कुलके लिए पद्मपुराण और पाण्डवपुराणमें गोत्र शब्द भी आया है। सम्भवतः कुलके लिए गोत्रशब्दका व्यवहार बहुत पुराना है। वीरसेन आचार्यने धवला टीकामें गोत्र, कुल, वंश और सन्तान ये एकार्थक हैं इस प्रकारका निर्देश सम्भवतः इसी कारणसे किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह कुल या वंश शब्द केवल पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकी परम्पराके अर्थमें न आकर और भी अनेक अर्थोंमें आया है। उदाहरणार्थ जैनकुल शब्द ही लीजिए। इससे नये पुराने जितने भी जैन हैं उन सबके समुदाय या परम्पराका बोध होता है। इसीप्रकार अरिहन्तकुल, चक्रवर्तीवंश आदिके विषयमें भी जान लेना चाहिए। विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्वमें कर ही आये हैं। इन सबको कुल या वंश कहनेका आधार क्या है यदि इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि इन सबको कुल या वंश कहनेका कारण एकमात्र किसी परम्पराको सूचित करना मात्र है। आनुपूर्वी शब्दका जो अर्थ होता है वही अर्थ यहाँ पर कुल या वंश शब्दसे लिया गया है। परम्पराको सूचित करनेके लिए आधार कुछ भी मान लिया जाय, चाहे पुत्र-पौत्र सन्ततिको आधार मान लिया जाय, चाहे अन्य किसीको, जिससे अन्वय अर्थात् परम्पराकी सूचना मिलती है उसकी कुल या वंश संज्ञा है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यही कारण है कि साहित्यमें या लोकमें इन शब्दोंका उपयोग केवल पुत्र-पौत्र सन्ततिके अर्थमें न होकर अन्य अनेक प्रकारकी परम्पराओंको सूचित करनेके अर्थमें भी हुआ है।

जैन परम्परामें कुल या वंशको महत्त्व न मिलनेका कारण—

इस प्रकार कुल या वंश शब्दका अर्थ क्या है और साहित्यमें या लोकमें उनका व्यवहार किस आधार पर प्रचलित हुआ इसका विचार किया। अब देखना यह है कि प्रारम्भमें जिस आधार पर कुल या वंशका प्रचलन होता है क्या अन्ततक उनका उसी रूपमें निर्वाह होता है या मध्य में किसी कारणवश उनके सदोष हो जाने पर भी नाम वही चलता रहता है ? इस प्रश्नको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए हम पुत्र-पौत्र सन्ततिके आधार पर कल्पित किये गये किसी एक वंशको लें। सामान्य नियम यह है कि जिस व्यक्तिके नाम पर कुल या वंश प्रचलित होता है उसकी सन्तान परम्परा अन्त तक (जब तक उस व्यक्तिके नाम पर कुल कायम है तब तक) चलनी चाहिए। किन्तु ऐसा कहाँ होता है ? या तो कुछ पीढ़ीके बीतनेके बाद उस कुलके स्त्री या पुरुषमें कोई भीतरी दोष होनेके कारण सन्तान ही उत्पन्न नहीं होती, इसलिए दूसरे कुलके दत्तक पुत्रको लेकर उस कुलका नाम रोशन करना पड़ता है। उसी कुलकी परम्परा चलती रहे इसके लिए यह नियम तो बनाया गया कि दत्तक अपने कुलका होना चाहिए। परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं होता। कभी कुलका बालक ही दत्तक लिया जाता है और कभी अन्य कुलका बालक भी दत्तक ले लिया जाता है। यदि उसी कुलका दत्तक मिल जाता है तब तो रक्तके आधार पर कल्पित किये गए कुलकी परम्परा बनी रहती है, यह मान लिया जाता है। परन्तु जब अन्य कुलका दत्तक लेना पड़ता है तब केवल दत्तक लेने मात्रसे वह कुल आगे भी चलता रहता है यह मानना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर कुलका खण्डित हो जाना अवश्यंभावी है। केवल कुलका नाम चलते रहनेसे क्या लाभ ? बीचमें ही कुलके खण्डित हो जानेका यह एक कारण है। दूसरा कारण है पुरुषके कामवश स्त्रीका दूषित मार्ग पर चले जाना। होता यह है कि स्त्रीको अपने पतिसे सन्तोष न होनेके कारण या बलात्कार आदि अन्य किसी कारणवश वह दूसरे पुरुषके साथ समागम करनेके लिए

बाध्य होती है और इस प्रकार दूसरे पुरुषके निमित्तसे उत्पन्न हुई सन्तान विवक्षित कुलको खण्डित कर देती है। लोकमें उस कुलका नाम तो तब भी चलता रहता है, परन्तु वास्तवमें कुल बदल जाता है। इस सत्यको सबने एक स्वरसे स्वीकार किया है। जैन परम्परामें कुल या वंशको महत्त्व न मिलनेका एक कारण तो यह है।

दूसरा कारण है लौकिक आचार और विचारका बदलते रहना। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अपने प्रारम्भ कालमें जिस कुल या वंशका जो आचार-विचार रहा है, उत्तर कालमें अन्त तक उसका वही आचार-विचार बना रहता है, उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता। जैसा कि पुराणोंसे स्पष्ट है कि प्रारम्भमें सूर्यवंश और चन्द्रवंश आदि प्रसिद्ध वंशोंके जितने भी क्षत्रिय हुए हैं वे सब जैनधर्मके अनुयायी थे। किन्तु उनमेंसे वर्तमान कालमें कितने क्षत्रिय जैनधर्मके अनुयायी दिखलाई देते हैं।

भगवान् महावीरका जन्म ज्ञातृक वंशमें हुआ था इसे इतिहासकार भी मानते हैं। इस समय भी विहार प्रदेशमें उनकी जातिके लोग पाये जाते हैं जिन्हें जथरिया कहते हैं। किन्तु उनके वर्तमान कालीन आचार-विचारको देखकर कोई यह अनुमान नहीं कर सकता कि ये भगवान् महावीर स्वामीके वंशज हैं। जब कि एक ही व्यक्ति अपने जीवनकालमें आचार-विचारको अनेक रूप देता हुआ देखा जाता है, ऐसी अवस्थामें कल्पित कुल या वंशके आधारसे किसी एक व्यक्ति या कुलका आचार-विचार सदा एक रूपमें चलता रहेगा यह कैसे माना जा सकता है।

आचार्य जिनसेनने प्रजामेंसे व्रती श्रावकोंको छाँटकर भरत चक्रवर्तीके द्वारा ब्राह्मण वर्णकी स्थापना कराई। उन्हें दान-सन्मानका अधिकारी बनाया। सामाजिक अपराध बन जाने पर भी वे दण्डके अधिकारी नहीं यह घोषणा कराई। इतना सब होने पर भी वर्तमानमें ऐसे कितने ब्राह्मण हैं जो जैनधर्मका पालन करते हैं ? क्या कभी आँख खोलकर इस बात पर विचार किया है ? सच तो यह है कि जैनधर्मकी प्रारम्भसे जो आध्यात्मिक

प्रकृति रही है उसे भुलाकर वर्तमानमें हम इन कल्पित कुलों, वंशों, जातियों और उपजातियोंको लिये बैठे हैं और इन्हींकी पुष्टिमें जैनधर्मकी चरितार्थता मान रहे हैं।

जैन परम्परामें कुल या वंशको महत्त्व न मिलनेका तीसरा कारण है संस्कारोंकी निःसारता। प्रायः देखा जाता है कि किसी लकड़ीको विधिपूर्वक काटने छीलने पर वह उपयोगी उपकरणका आकार ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि किसी व्यक्ति पर की गई क्रियाओंका ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे वह धीरे-धीरे संस्कार सम्पन्न हो जाता है। वैदिक परम्परामें जो सोलह संस्कार बतलाये गये हैं वे इसी आधार पर कल्पित किये गये हैं। पौराणिक कालमें जैन परम्परा भी इन संस्कारोंको स्वीकार कर लेती है। किन्तु ये संस्कार क्या हैं और इनसे किस प्रकारके व्यक्तित्वका निर्माण होता है, सर्व प्रथम यही यहाँ देखना है। महापुराणमें गर्भान्वय क्रियाएँ तिरेपन बतलाई हैं। प्रारम्भकी कुछ क्रियाएँ ये हैं— गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रियोद्भव, नामकर्म, बहिर्यान, निषद्या, अन्नप्राशन, व्युष्टि, केशवाप, लिपिसंख्यानसंग्रह, उपनीति, व्रत-चर्या, व्रतावतरण, विवाह, वर्णलाभ और कुलचर्या। इन क्रियाओंको कौन कर सकता है इस प्रश्नका समाधान करते हुए वहाँ यह तो नहीं बतलाया है कि इनको शूद्र नहीं कर सकता। किन्तु उपनीति आदि क्रियाओंको शूद्र नहीं कर सकता इस बातका वहाँ अवश्य ही निर्देश किया है। इसका अभिप्राय यह है कि न तो शूद्रको यज्ञोपवीत पहिननेका अधिकार है, न वह विधिपूर्वक विवाह कर सकता है, न स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी आजीविका कर सकता है और न ही वह पूजा आदि धार्मिक कार्य कर सकता है। संक्षेपमें यदि कहा जाय तो इन सब क्रियाओंका सार इतना ही है कि न तो वह विधिपूर्वक श्रावकधर्म स्वीकार कर सकता है और न मुनिधर्म स्वीकार करके मोक्षका अधिकारी हो सकता है। इन क्रियाओंको शूद्र क्यों नहीं कर सकता इसका वहाँ कोई समाधान नहीं किया गया है।

यह तो गर्भान्वय क्रियाओंकी स्थिति है। दीक्षान्वय क्रियायें जो अजैन मनुष्य श्रावक या मुनिधर्मकी दीक्षा लेता है उसके लिए कही गई हैं। वे अड़तालीस हैं। इन क्रियाओंको करनेका अधिकारी कौन हो सकता है इसका प्रारम्भमें कुछ भी समाधान नहीं किया गया है। मात्र वहाँ इतना ही कहा गया है कि जो भव्य पुरुष मिथ्यात्वसे दूषित मार्गको छोड़कर सन्मार्गके सन्मुख होता है उसके लिए ये क्रियाएँ हैं। किन्तु आगे चलकर इन क्रियाओंका सम्बन्ध भी उपनीति क्रिया द्वारा द्विजोंके साथ स्थापित करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैनधर्ममें दीक्षा लेनेका अधिकारी मात्र द्विज है, शूद्र नहीं। यहाँ भी इन क्रियाओंको शूद्र क्यों नहीं कर सकता या दूसरे शब्दोंमें जैनधर्ममें शूद्र क्यों दीक्षित नहीं हो सकता इसका कुछ भी समाधान नहीं किया गया है। आचार्य जिनसेनने महापुराणमें इन क्रियाओंका उपदेश क्यों दिया यह इससे स्पष्ट हो जाता है। इस पर विचार करनेसे विदित होता है कि एक ओर तो इन क्रियाओं द्वारा जैनधर्म का ब्राह्मणीकरण किया गया है और दूसरी ओर शूद्रोंके लिए अब तक जो जैनधर्मका द्वार खुला हुआ था वह सदाके लिए बन्द कर दिया गया है। वस्तुतः जैनधर्ममें ऐसे संस्कारोंको और इनके आधारपर कल्पित किये गए कुल, वंश और जातिप्रथाको रञ्चमात्र भी स्थान नहीं है। इन क्रियाओंसे संस्कारित होकर मनुष्य मोक्षमार्गका पात्र तो नहीं बनता। किन्तु उसमें कुलाभिमान और जात्यभिमान अवश्य जागृत हो उठता है जो जैनधर्मके मूलपर ही कुठाराघात करता है। आचार्य कुन्दकुन्द क्रियाओंकी निःसारताको दिखलाते हुए भावप्राभृतमें कहते हैं—

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥२॥

आत्मोन्नतिमें प्रधान कारण भावलिंग है। वही परमार्थ सत् है। केवल द्रव्यलिंगसे इष्टसिद्धि नहीं होती, क्योंकि जीवमें गुणोत्पादक और दोषोत्पादक एकमात्र जीवोंके परिणाम हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवका उपदेश है।

अपने इस भावको पुष्ट करनेके लिए वे आगे पुनः कहते हैं—

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥३॥

यह जीव भावोंको विशुद्ध करनेके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग करता है। किन्तु बाह्य परिग्रहका त्याग करने पर भी जो आभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त नहीं होता उसका बाह्य परिग्रहका त्याग करना निष्फल है। वे इसी भावको स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं—

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

यह जीव दोनों हाथ लटकाकर और वस्त्रका त्यागकर कोड़ाकोड़ी जन्म तक निरन्तर तपश्चर्या भले ही करता रहे। परन्तु जो भाव रहित है उसे सिद्धि मिलना दुर्लभ है ॥४॥

पहले हम महापुराणमें वर्णित जिन क्रियाओंका उल्लेख कर आये हैं कदाचित् उन्हें सामाजिक दृष्टिसे संस्कार कहनेमें आपत्ति न भी मानी जाय तो भी जैनधर्मके अनुसार उन्हें संस्कार संज्ञा देना उचित नहीं है, क्योंकि उनके कथनमें प्राणीमात्रके कल्याणकी भावना न होकर वे सामाजिक दृष्टिकोणको सामने रखकर ही कही गई हैं। जैनधर्मके अनुसार जिन क्रियाओंके निरन्तर अभ्यासको संस्कार कहते हैं वे भी आत्मकार्यकी सिद्धि होने तक सब जीवोंमें निरन्तर बने ही रहते हैं ऐसा एकान्त नियम नहीं है। किस जीवके वे संस्कार कितने काल तक बने रहें यह मुख्यरूपसे परिणामोंपर अवलम्बित है। एक जीव लगातार उत्तमोत्तम गतियोंको धारण करनेके बाद अन्तमें उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है और वहाँ से पतित होनेके बाद क्रमसे मिथ्यात्वमें जाकर तथा तिर्यञ्चायुका बन्धकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर निगोदका पात्र होता है और दूसरा जीव इसके विपरीत नित्यनिगोदसे निकलकर तथा त्रस-स्थावर सम्बन्धी कुछ पर्याय धारणकर और अन्तमें मनुष्य हो उसी भवसे मोक्षका पात्र होता है। एकमात्र भावों

की महिमाको छोड़कर इसे और क्या कहा जा सकता है। अञ्जन चोरने जीवनभर दुष्कर्म किये। किन्तु अन्तमें काललब्धिके अनुसार निमित्त मिलते ही उसका उद्धार हो गया। इसके विपरीत एक क्षुल्लकने जीवनभर धर्माचरण किया। किन्तु समाधिके समय उसका चित्त किसी फल विशेषमें आसक्त हो जानेके कारण वह मरकर उसी फलमें कीड़ा हुआ। इस प्रकार पूर्वके दो उदाहरणोंके समान इन दो उदाहरणोंमें भी हमें परिणामोंकी ही महिमा दिखलाई देती है। तभी तो कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि।
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या॥
> जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रम्।
> यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥३८॥

मैंने अनेक बार आपका नाम और गुण सुने, अनेक बार आपकी पूजा की और अनेक बार आपको देखा भी। किन्तु मैंने एक बार भी आपको भक्तिपूर्वक अपने चित्तमें धारण नहीं किया, इसलिए हे जनबान्धव! मैं आजतक दुःखका पात्र बना रहा। यह ठीक ही है क्योंकि भावशून्य की गईं क्रियाओंसे मोक्षरूप इष्ट फलकी सिद्धि होना दुर्लभ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्षमार्गके अभिप्रायसे की गईं क्रियाएँ भी जब विफल हो जाती हैं तब जो क्रियाएँ कुलके अभिनिवेशवश की जाती हैं वे सफल कैसे हो सकती हैं। यही कारण है कि जैनधर्ममें कुल या वंश को महत्त्व न देकर इनके अहंकारके त्यागका ही उपदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनधर्म न तो कुलधर्म है और न जातिधर्म ही है। वह तो प्राणीमात्रका हित साधन करनेवाला एकमात्र आत्मधर्म है। लौकिकधर्म और जैनधर्ममें जो अन्तर है, कुलधर्म और जैनधर्ममें वही अन्तर है। कुलचर्यारूपसे जैनधर्मको स्वीकार करने पर जैनधर्मके दर्शन होना तो दुर्लभ है, उसकी छायाके भी दर्शन नहीं होते, क्योंकि आत्मशुद्धिरूप अभि-

प्रायके बिना की गई पूजा, दान, स्वाध्याय, संयम और तपरूप कोई भी क्रिया जैनधर्म संज्ञाको नहीं प्राप्त हो सकती।

कुलशुद्धि और जैनधर्म—

इस प्रकार जैनधर्ममें कुल या वंशको स्थान नहीं है इस स्थितिके रहते हुए भी उत्तरकालीन साहित्यमें कुल शुद्धि पर विशेष बल देकर उसे ही धर्ममें साधक माना गया है। प्रकृतमें विचारणीय यह है कि यह कुलशुद्धि क्या वस्तु है और उसका धर्मके साथ क्या सम्बन्ध है? महापुराणमें कुल का लक्षण इन शब्दोंमें किया है—

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाषते ॥ ८५, पर्व ३९ ॥

पिताकी वंशशुद्धिको कुल कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने कुलाचारका योग्य रीतिसे पालन करते हुए जो पुत्र-पौत्र सन्ततिमें एक रूपता बनी रहती है उसे कुलशुद्धि कहते हैं। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर महापुराणमें कुलावधि क्रियाका निर्देश इन शब्दोंमें किया गया है—

कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः।
तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत् ॥१८१-४०॥

अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजकी कुलावधि क्रिया है। उसकी रक्षा न होने पर उसकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है।

महापुराणमें यह तो कहा है कि जिसका कुल और गोत्र शुद्ध है वही द्विज दीक्षा धारण कर सकता है। परन्तु उसमें उन्हें कुलकी शुद्धि और गोत्रकी शुद्धिसे क्या अभिप्रेत रहा है इसका अलगसे स्पष्टीकरण नहीं किया है। इतना अवश्य है कि सम्पूर्ण व्रतचर्या विधिका निर्देश करते हुए जो कुछ कहा गया है उससे इस बातका पता अवश्य लगता है कि उसमें कुलशुद्धिसे क्या इष्ट है। वहाँ बतलाया है कि जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है, जिसका कुल दूषित नहीं है, जो असि, मषि,

कृषि और वाणिज्य इन चार कर्मोंका आश्रय लेकर अपनी आजीविका करता है, जो निरामिषभोजी है, जिसे अपनी कुल स्त्रीके साथ ही सेवन करनेका व्रत है, जो संकल्पी हिंसाका त्यागी है तथा जो अभक्ष्य और अपेयका सेवन नहीं करता। इस प्रकार जिसकी व्रतपूत शुद्धतर वृत्ति है वह समस्त व्रतचर्या विधिका अधिकारी है।

यहाँ पर जितने विशेषण दिये गये हैं उनमें दो मुख्य हैं—एक तो उसे द्विज होना चाहिए और दूसरे उसे कुलस्त्रीसेवन व्रती होना चाहिए। जिसमें ये दो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं वह शुद्ध कुल है। यदि उसमें इन दोके सिवा अन्य विशेषताएँ नहीं भी हैं तो भी वह दीक्षाके योग्य कुल मान लिया जाता है। नौवीं शताब्दिके बाद उत्तर कालीन कुछ साहित्यमें तीन वर्ण दीक्षाके योग्य हैं यह घोषणा इसी आधार पर की गई है और इसी आधार पर पिण्डशुद्धिका विधान और जातिलोपका निषेध भी किया गया है।

जिस प्रकार समाजकी सुव्यवस्थाके लिए राज्यव्यवस्था और आजीविकाके नियम आवश्यक हैं। उसी प्रकार कौटुम्बिक व्यवस्थाको बनाये रखनेके लिए और समाजको अनाचारसे बचाये रखनेके लिए विवाहविधि या दूसरे प्रकारसे स्त्री-पुरुषोंके ऊपर नियन्त्रण बनाये रखना भी आवश्यक है। मूलतः ये तीनों प्रकारकी व्यवस्थाएँ सामाजिक परम्पराकी अङ्गभूत हैं, इसलिए एक ओर जहाँ समाजशास्त्रके निर्माताओंने अपने-अपने कालके अनुरूप इन पर पर्याप्त विचार किया है वहाँ धर्मशास्त्रकारोंने इन्हें अछूता छोड़ दिया है। मुनिधर्म तो समस्त सामाजिक परम्पराओंका त्याग करनेके बाद ही स्वीकार किया जाता है, इसलिए मुनिधर्मके प्रतिपादक आचार-विषयक ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है। किन्तु जो गृहस्थधर्मके प्रतिपादक आचार ग्रन्थ हैं उनमें भी नौवीं शताब्दिके पूर्व इनका उल्लेख नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि एक तो देश, काल और परिस्थितिके अनुसार ये व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं। दूसरे मोक्ष-

मार्गके साथ इनका रञ्चमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिए कुलशुद्धि और जातिव्यवस्थाको धर्ममें कोई स्थान है और इनका धर्मके साथ निकट सम्बन्ध है यह बात समझमें नहीं आती। यह कथन केवल हमारे मनकी कल्पना नहीं है, अन्य आचार्योंने भी जातिव्यवस्था और कुलशुद्धि पर कठोर प्रहार किया है। प्रकृतमें इस विषयको स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण दे देना पर्याप्त है। इनमेंसे एक उदाहरण अमितिगति-श्रावकाचारका है और दूसरा उदाहरण धर्मपरीक्षाका है। अपने श्रावकाचारमें अमितिगति कहते हैं—'वास्तवमें यह उच्च और नीचपनेका विकल्प ही सुख और दुखका करनेवाला है। कोई उच्च और नीच जाति है और वह सुख और दुख देती है यह कदाचित् भी नहीं है। जैसे बालुको पेलनेवाला लोकनिन्द्य पुरुष कष्ट भोग कर भी कुछ भी फलका भागी नहीं होता वैसे ही अपने उच्चपनेका अभिमान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष धर्मका नाश करता है और सुखको नहीं प्राप्त होता।'

धर्मपरीक्षामें इसी बातको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'ब्राह्मण और ब्राह्मणी सदा शीलसे ही रहें, अनादि कालसे उनके कुटुम्बमें कभी भी स्खलन न हो यह सम्भव नहीं है। वास्तवमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया ये गुण तात्त्विकरूपसे जिस किसी जातिमें विद्यमान हों उसी जातिको सज्जन पुरुष पूजनीय मानते हैं, क्योंकि योजनगन्धा (धीवरी) आदि की कुक्षिसे उत्पन्न हुए व्यास आदि तपस्वियोंकी महापूजा होती हुई देखी गई है, इसलिए सबको तपश्चरणमें अपना उपयोग लगाना चाहिए। नीच जातिमें उत्पन्न होकर भी शीलवान् पुरुष स्वर्ग गये हैं। तथा शील और संयमका नाश करनेवाले कुलीन पुरुष नरक गये हैं। गुणोंसे अच्छी जाति प्राप्त होती है और गुणोंका नाश होनेसे वह नष्ट हो जाती है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको मात्र गुणोंका आदर करना चाहिए। सज्जन पुरुषोंको अपनेको नीच बनानेवाला जातिमद कभी नहीं करना चाहिए और जिससे अपनेमें उच्चपना प्रगट हो ऐसे शीलका आदर करना चाहिए।'

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि आचार्य वीरसेन और पण्डित-प्रवर आशाधरजीने लोकमें प्रचलित कुल और गोत्रको मृषा बतलाया है। इसकी पुष्टिमें पण्डितप्रवर आशाधरजीने अनगारधर्मामृतमें एक श्लोक भी उद्‌धृत किया है। उसमें कहा गया है कि इस अनादि संसारमें कामदेव दुर्निवार है और कुल स्त्रीके अधीन है, इसलिए अलग-अलग जाति माननेमें कोई सार नहीं है। श्लोक इस प्रकार है—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना॥

इतने विवेचनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ आचार्य जिनसेनने जन्मसे वर्णव्यवस्था और कुलशुद्धिका कल्पित व्यूह खड़ा किया है वहाँ दूसरे विचारकोंने उसपर कठोर प्रहारकर उसे छिन्न-भिन्न भी कर दिया है। फिर भी मूल आगमका इस विषयमें क्या अभिप्राय है इसपर साङ्गोपाङ्ग विचार कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि हमारे लिए एकमात्र आदर्श आगम साहित्य ही है, इसके सिवा इस कालमें तथ्यको समझनेके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है।

यह तो आगमसे ही स्पष्ट है कि श्रावकधर्मका पालन केवल मनुष्य ही नहीं करते, तिर्यञ्च भी करते हैं। किन्तु उनमें उनके द्वारा बनाई हुई किसी प्रकारकी सामाजिक व्यवस्था न होनेसे कुलशुद्धिसम्पन्न तिर्यञ्च ही उसका पालन कर सकते हैं, अन्य तिर्यञ्च नहीं यह नहीं कहा जा सकता। आगममें स्पष्ट बतलाया है कि जो गर्भजन्मसे उत्पन्न हुआ आठ वर्षका कर्मभूमिज मनुष्य है वह श्रावकधर्म और मुनिधर्मका अधिकारी है। तथा गर्भजन्म की अपेक्षा जो तीन माहका कर्मभूमिज संज्ञी तिर्यञ्च है वह श्रावकधर्मका अधिकारी है। श्रावकधर्म या मुनिधर्मको स्वीकार करनेके लिए वहाँ इससे अधिक अन्य किसी प्रकारके प्रतिबन्धका निर्देश नहीं किया है। यदि इससे अधिक अन्य किसी प्रकारके प्रतिबन्धकी कल्पना की भी जाती है तो वह उक्त प्रकारके सब तिर्यञ्चोंमें तो सम्भव है ही नहीं यह तो स्पष्ट ही है, उक्त

सब प्रकारके मनुष्योंमें भी वह सम्भव नहीं है यह भी स्पष्ट है, क्योंकि जिन म्लेच्छ मनुष्योंमें त्रैवर्णिकोंके समान सामाजिक व्यवस्था उपलब्ध नहीं होती वे मनुष्य भी श्रावकधर्म और मुनिधर्मके अधिकारी माने गये हैं। इतना ही नहीं, जिन चाण्डालादि अस्पृश्य शूद्रोंको उपनयन और विवाह आदि सामाजिक संस्कारोंके करनेका अधिकार नहीं दिया गया है वे भी व्रतोंको स्वीकार करनेके अधिकारी हैं ऐसी जिनाज्ञा है। तभी तो इस तथ्यको स्वीकार करनेके लिए आचार्य रविषेण बाध्य हुए हैं। वे पद्मपुराणमें कहते हैं—

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११-२०३॥

अर्थात् कोई जाति गर्हित नहीं होती। वास्तवमें गुण कल्याणके कारण होते हैं, क्योंकि जिनेन्द्रदेवने व्रतोंमें स्थित चाण्डालको भी ब्राह्मण-रूपसे स्वीकार किया है।

उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि धर्ममें जाति व्यवस्थाको तो स्थान है ही नहीं, उसके अङ्ग रूप कुलशुद्धिको भी कोई स्थान नहीं है, क्योंकि धर्मका सम्बन्ध मुख्यतया गतिके आश्रयसे होनेवाले परिणामोंके साथ है। कोई मनुष्य अकुलीन है, हीन जातिका है, कोढ़ी है, काना है, लूला है, हीन संस्थानवाला है या हीन संहननवाला है, इसलिए वह चारित्रधर्मको स्वीकार करनेका अधिकारी नहीं है, जो ऐसा मानते हैं, वास्तवमें वे आगमकी अवहेलना कर आत्म-धर्मके स्थानमें शरीरधर्मकी स्थापना करना चाहते हैं। आगममें उपशम सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्तिके समय विशुद्धिलब्धि होती है इस प्रकारका निर्देश किया है इसमें सन्देह नहीं और यह समझमें भी आता है कि जिस समय आत्मामें किसी प्रकारके अलौकिक धर्मका प्रादुर्भाव होता है उस समय वह उस धर्मके योग्य विशुद्धिलब्धिके हुए बिना नहीं हो सकता। पर उसका वह अर्थ कदापि नहीं है जो आचार्य जिनसेनने महापुराणमें

तिरेपन क्रियाओंके प्रसङ्गसे स्वीकार किया है। किन्तु उसका वह तात्पर्य है जिसे वे जयधवलामें उपशमसम्यक्त्व आदिकी उत्पत्तिके कारणोंका व्याख्यान करते हुए स्वीकार करते हैं। अतः जयधवलाके उन्हींके कथनके अनुसार जैनधर्ममें लौकिक कुलशुद्धिको स्थान नहीं है यह मानना ही उत्तम मार्ग है।

जातिमीमांसा

मनुस्मृतिमें जातिव्यवस्थाके नियम—

भारतीय लौकिक जीवनमें कुल और गोत्रके समान जातीय व्यवस्थाको भी बड़ा महत्त्व मिला हुआ है। इसका प्रभाव सभी क्षेत्रोंमें दृष्टिगोचर होता है। अधिकतर मनुष्योंकी बुद्धिमें ही यह बात नहीं आती कि जातिका आश्रय लिए बिना भी कोई कार्य हो सकता है। आत्मशुद्धिमें प्रयोजक ध्यान, तप, संयम और भगवदुपासनारूप धर्मकार्यसे लेकर विवाह आदि प्रत्येक सामाजिक कार्यमें इसका विचार किया जाना वे उपयोगी मानते हैं। वैदिक रामायणमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रके द्वारा शम्बूकका वध इसलिए कराया गया, क्योंकि शूद्रजातिका होनेके कारण उसे तपश्चर्या करनेका अधिकार नहीं था। इसकी उत्पत्तिका मूल कारण जन्मना वर्णव्यवस्था है, इसलिए मूलमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ मानकर इनके अवान्तर भेद अनेक मान लिए गये हैं। मनुस्मृतिमें उत्तरोत्तर जातियाँ कैसे बनती गईं इसका संक्षिप्त इतिहास सुरक्षित है। वहाँ बतलाया है कि जीवत्पतिवाली अन्य स्त्रीके संयोगसे उत्पन्न हुई सन्तानकी कुण्ड संज्ञा होती है, मृत पति-वाली अन्य स्त्रीके संयोगसे उत्पन्न हुई सन्तानकी गोलक संज्ञा होती है,[1]

---

१. अ० ३ श्लो० १७४।

ब्राह्मणका क्षत्रिय कन्यासे विवाह करने पर उत्पन्न हुई सन्तानकी मूर्धावसिक्त संज्ञा होती है, क्षत्रियका वैश्य कन्यासे विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी माहिष्य संज्ञा होती है, वैश्यका शूद्रकन्याके साथ विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी करण संज्ञा होती है,[१] ब्राह्मणका वैश्यकन्याके साथ विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी अम्बष्ठ संज्ञा होती है, ब्राह्मणका शूद्र कन्याके साथ विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी निषाद संज्ञा होती है[२]। क्षत्रियका शूद्र कन्यासे विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी उग्र संज्ञा होती है,[३] क्षत्रियका ब्राह्मण कन्याके साथ विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी सूत संज्ञा होती है, वैश्यका क्षत्रिय कन्यासे विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी मागध संज्ञा होती है, वैश्यका ब्राह्मण कन्याके साथ विवाह करने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी वैदेह संज्ञा होती है,[४] शूद्रका वैश्य कन्याके साथ सम्बन्ध होने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी आयोगव संज्ञा होती है, शूद्रका क्षत्रिय कन्याके साथ संयोग होने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तानकी क्षत्त संज्ञा होती है और शूद्रका ब्राह्मण कन्याके साथ संयोग होने पर उससे उत्पन्न हुई सन्तान की चाण्डाल संज्ञा होती है[५]। तथा ये या इसी प्रकारके अन्य सम्बन्धोंसे उत्पन्न हुई सन्तानें वर्णसंकर होती हैं[६]। वर्णसंकरका लक्षण करते हुए वहाँ कहा है कि जो सन्तान व्यभिचारसे उत्पन्न होती है, जो अपने वर्णकी कन्याको छोड़कर अन्य वर्णकी कन्याके साथ विवाह करनेसे उत्पन्न होती है और जो अपने वर्णके कर्मको छोड़कर अन्य वर्णका कर्म करने लगते हैं उन सबको वर्णसंकर कहते हैं[७]। अतएव मनुस्मृतिमें सवर्ण विवाहको ही प्रशस्त माना गया है[८]। वहाँ काम विवाहको स्थान तो दिया है, परन्तु

---

१. अ० १० श्लो ६। २. अ० १० श्लो० ८। ३. अ० श्लो० ९। ४. अ० १० श्लो० ११। ५. अ० १० श्लो० १२। ६. अ० १० अथसे इति तक द्रष्टव्य। ७. अ० १० श्लो० २४। ८. अ० ३ श्लो० १२।

उसकी निन्दा ही की गई है[1]। वहाँ कौन किस जातिकी कन्याके साथ विवाह करे इसके लिए सामान्य नियम यह आया है कि शूद्रकी एकमात्र शूद्रा स्त्री होती है, वैश्यकी शूद्रा और वैश्या भार्या होती हैं, क्षत्रियकी शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया भार्या होती हैं तथा ब्राह्मणकी चारों वर्णोंकी भार्याएँ हो सकती हैं[2]। इस नियमके अनुसार वहाँ सवर्ण विवाहको धर्म विवाह और असवर्ण विवाहको कामविवाह संज्ञा दी गई है। लोकमें एक एक वर्णके भीतर जो नाना जातियाँ और उपजातियाँ देखी जाती हैं उनका मनुस्मृतिके अनुसार एक आधार तो सवर्ण और असवर्ण विवाह है और दूसरा आधार है उनके अलग-अलग अवान्तर कर्म। किसका क्या कर्म हो इस विषयमें भी मनुस्मृतिकी यह व्यवस्था है कि जिसके कुटुम्बमें आनुवंशिक जो कर्म होता आ रहा है उसकी सन्तानको वही कर्म करनेका अधिकार है। सब अपने-अपने कर्मको करते हुए आश्रमधर्मका योग्य रीतिसे पालन करते हैं इस पर निगाह रखनेका मुख्य कार्य राजाका है, क्योंकि ब्रह्माने उसकी सृष्टि इसी अभिप्रायसे की है[3]।

महापुराणमें जातिव्यवस्थाके नियम—

यह मनुस्मृति के कथनका सार है। इसके प्रकाशमें महापुराणमें जातिव्यवस्थाके जो नियम दिये हैं उन पर विचार कीजिए। यह तो हम आगे चल कर बतलानेवाले हैं कि जैनसाहित्य जातिव्यवस्थाको स्वीकार नहीं करता। उसमें पद पद पर उसकी निन्दा ही की गई है। सर्व प्रथम यदि कोई ग्रन्थ है तो वह महापुराण ही है जिसमें जातिव्यवस्थाको प्रश्रय मिला है। वहाँ मनुष्यजाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यजाति एक है। उसके ब्राह्मण आदि चार भागोंमें विभक्त होनेका एकमात्र कारण आजीविका

---

१. अ० २ श्लो० १५। २. अ० ३ श्लो० १३। ३, अ० ७ श्लो० ३५।

है यह स्वीकार करके भी जन्मसे चार वर्णोंको मान कर जातिव्यवस्थाको प्रथम दिया गया है। वहाँ यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि जातिसंस्कार का मूल कारण तप और श्रुत है। किन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज है। संस्कार तो शूद्रका भी किया जा सकता है ऐसी शंका होने पर उसका परिहार करते हुए वहाँ पुनः कहा गया है कि हमें ऐसा द्विज इष्ट है जो एक तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें ही उत्पन्न हुआ हो। दूसरे जिसका क्रियाओंके द्वारा संस्कार किया गया हो। इसलिए वहाँ पर गर्भान्वय आदि जितनी भी क्रियाएँ बतलाई गई हैं वे सब द्विजातिको लक्ष्य कर ही कही गई हैं (पर्व ३८, श्लो० ४५ से)। इतना अवश्य है कि मनुस्मृतिके समान वहाँ नाना जातियों और नाना उपजातियोंकी उत्पत्तिकी मीमांसा नहीं की गई है। मात्र एक तो विवाह के विषयमें मनुस्मृतिकी उस व्यवस्थाको स्वीकार कर लिया गया है जिसके आधारसे ब्राह्मणकी चारों जातियोंकी भार्याएँ, क्षत्रियकी तीन जातिकी भार्याएँ, वैश्यकी दो जातिकी भार्याएँ और शूद्रकी एकमात्र शूद्रा भार्या हो सकती है। दूसरे मनुस्मृतिके समान वहाँ भी जातिव्यवस्थाका निर्वाह योग्य रीतिसे हो रहा है इस पर समुचित निगाह रखनेका भार राजाके ऊपर छोड़ दिया गया है। वहां यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि जो इस वृत्तिको छोड़ कर अन्य वृत्तिका आश्रय करता है उस पर राजाको नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए, अन्यथा समस्त प्रजा वर्णसंकर हो जायगी।

आदि पुराणमें कर्त्रन्वय क्रियाओंका निर्देश करते हुए सर्व प्रथम सज्जाति क्रिया दी है और उसका लक्षण करते हुए कहा है कि दीक्षाके योग्य कुलमें जन्म होना यही सज्जाति है जिसकी सिद्धि विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिके आश्रयसे होती है। तात्पर्य यह है कि एक ओर तो पिताके अन्वयकी शुद्धिसे युक्त कुल होना चाहिए और दूसरी ओर माताके अन्वयकी शुद्धिसे युक्त जाति होनी चाहिए। जहाँ इन दोनोंका योग मिलने पर सन्तति उत्पन्न होती है वह सन्तति सज्जातिसम्पन्न मानी जाती है। सज्जाति दो प्रकारकी होती

है—प्रथम शरीर जन्मसे उत्पन्न हुई सज्जाति और दूसरी संस्कार जन्मसे उत्पन्न हुई सज्जाति। जिसे शरीर जन्मसे उत्पन्न हुई सज्जाति प्राप्त होती है उसके सब प्रकारके इष्ट अर्थोंकी सिद्धि होती है और जिसे संस्कार जन्मसे उत्पन्न हुई सज्जाति प्राप्त होती है वह भव्यात्मा सचमुचमें द्विज संज्ञाको प्राप्त होता है। इसकी पुष्टिमें आचार्य जिनसेनने कई उदाहरण उपस्थित किये हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार विशुद्ध खनिसे उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मन्त्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है। अथवा जिस प्रकार सुवर्ण उत्तम संस्कारको पा कर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम क्रियाओंके आश्रयसे शुद्ध हो जाता है (पर्व ३९ श्लो० ८१ से)।

उत्तरकालीन जैन साहित्य पर महापुराणका प्रभाव—

जब कोई एक तत्त्व किसी प्रसिद्ध पुरुषके द्वारा किसी कारणसे स्वीकार कर लिया जाता है तब वह उसी पुरुष तक सीमित न रहकर उसकी परम्परा चल पड़ती है। जाति प्रथाके विषयमें भी यही हुआ है। मनुस्मृतिके अनुसार महापुराणमें इस प्रथाको स्वीकार कर लेनेके बाद उत्तरकालीन साहित्यकार भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं जिसके दर्शन हमें किसी न किसी रूपमें उत्तरकालीन जैन साहित्यमें पद-पद पर होते हैं। इसके लिए सर्व प्रथम हम उत्तरपुराणको उदाहरण रूपमें उपस्थित करना इष्ट समझते हैं। प्रकरण जातिमूढ़ताके निषेधका है। गुणभद्र आचार्य यह तो स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार गौ और अश्वमें वर्णभेद और आकृति भेद देखा जाता है उस प्रकार ब्राह्मण आदि चार वर्णके मनुष्योंमें वर्णभेद और आकृतिभेद नहीं दिखलाई देता। तथा ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भधारण करना सम्भव है, इसलिए जिस प्रकार तिर्यञ्चोंमें बिल्ली, कुत्ता, गाय और घोड़ा आदि नामवाली पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं उस प्रकार मनुष्योंमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि नामावली पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं

हैं। तब भी वे जाति (जन्मसे वर्ण व्यवस्था) को स्वीकार कर उसका ऐसा विलक्षण लक्षण करते हैं जिसको पढ़कर बुद्धि चकरा जाती है। वे एक ओर मनुष्योंमें जातिभेदका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे उसे प्रश्रय भी देते हैं यही आश्चर्यकी बात है। वे कहते हैं कि जिनमें जाति तथा गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे तीन वर्ण हैं और बाकीके शूद्र हैं। अपने इस कथनकी पुष्टि करते हुए वे पुनः कहते हैं कि विदेह क्षेत्रमें मोक्ष जानेके योग्य जातिका इसलिए विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर उस जातिमें कारणभूत नामकर्म और गोत्रकर्मसे युक्त जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थ कालमें ही उस जातिकी परम्परा चलती है, अन्य कालोंमें नहीं। वे स्वीकार करते हैं कि जिनागममें मनुष्योंके आश्रयसे वर्ण विभाग इस प्रकार बतलाया गया है (पर्व ७४ श्लो० ४६१ से)।

रत्नकरण्डमें तीन मूढ़ताओंके लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाषण्डिमूढ़ता ये तीन नाम आये हैं। किन्तु उनके स्थानमें आचार्य गुणभद्र पाषण्डिमूढ़ता, देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता जातिमूढ़ता और लोकमूढ़ता इन पाँच मूढ़ताओंको स्वीकार करते हैं। तीन तो वही हैं जिन्हें रत्नकरण्डमें स्वीकार किया गया है। इन्होंने उनमें तीर्थमूढ़ता और जातिमूढ़ता इन दो अन्य मूढ़ताओंको सम्मिलित कर उनकी संख्या पाँच कर दी है। यद्यपि इन दो मूढ़ताओंका समावेश लोकमूढ़तामें हो जाता है, इसलिए कुल मूढ़ताएँ तीन ही हैं इस बातका निर्देश सभी आचार्योंने किया है। फिर भी वे इन दोको स्वतन्त्ररूपसे स्वीकार कर उनका निषेध करना आवश्यक मानते हैं। यहाँ हमें तीर्थमूढ़ताको स्वतन्त्ररूपसे क्यों स्वीकार किया गया इस विषयमें विशेष कुछ नहीं कहना है, क्योंकि उसका यहाँ प्रकरण नहीं है। हाँ, जातिमूढ़ताको स्वतन्त्ररूपसे स्वीकार कर उसका निषेध करने और जाति (जन्मसे वर्ण) का स्वतन्त्र लक्षण करनेके पीछे आचार्य गुणभद्रका क्या हेतु है यह अवश्य ही विचारणीय है।

यह तो सत्य है कि लोकधर्म (रूढिधर्म) का प्रतिपादन करनेवाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें जन्मसे वर्णव्यवस्था (जातिवाद) को स्वीकार किया गया है। साथ ही यह भी सत्य है कि आचार्य जिनसेनने भी जैन-धर्मका ब्राह्मणीकरण करनेके अभिप्रायसे उसे अपने ढंगसे स्वीकार कर लिया है। जहाँ इस सत्यको आचार्य गुणभद्र समझते थे वहाँ उसे स्वीकार करनेसे उत्पन्न होनेवाली बुराईयोंको भी वे जानते थे। ऐसी अवस्थामें वे क्या करें, उनके सामने यह बहुत बड़ा प्रश्न था। एक ओर वे अपने गुरुके पदचिन्हों पर भी चलना चाहते थे और दूसरी ओर वे यथासम्भव तत्त्वकी रक्षा भी करना चाहते थे। विचार कर देखा जाय तो एक प्रकारसे उनके सामने द्विविधाकी स्थिति थी। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य गुणभद्रने इसी द्विविधाकी स्थितिमेंसे अपना मार्ग बनाया है। इसे उनका कौशल ही कहना चाहिए। यही कारण है कि वे लोकमें प्रचलित और मनुस्मृति तथा महापुराण आदि ग्रन्थों द्वारा समर्थित जातिवाद (जन्मसे वर्णव्यवस्था) को लोकमूढता बतला कर एक ओर तो उसका खण्डन करते हैं और दूसरी ओर वे जातिका ऐसा विलक्षण अर्थ करते हैं जिसे किसी न किसी रूपमें अध्यात्म (जैनधर्म) में स्वीकार कर लेने पर उसकी कमसे कम अनेक बुराईयोंसे रक्षा भी हो जाती है। जाति या जन्मसे वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सार यह है कि लोकमें माता-पिताके आलम्बनसे जो ब्राह्मण आदि चार जातियाँ मानी जाती हैं वे वास्तविक नहीं है। यदि ये जातियाँ हैं और आगममें इन्हें स्वीकार किया जाता है तो उनका यही लक्षण हो सकता है कि जिनमें जाति नामकर्म और गोत्रकर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे तीन वर्ण हैं और शेष शूद्र हैं। यद्यपि आचार्य गुणभद्र द्वारा प्रतिपादित जातिके इस लक्षणको स्वीकार कर लेनेमें भी अनेक कठिनाईयाँ दिखलाई देती हैं पर इसके स्वीकार करनेसे इतना प्रत्यक्ष लाभ तो है ही कि इस आधारसे आचार्य जिनसेन द्वारा शूद्रोंके ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध दूर होकर अन्य त्रिवर्णोंके

समान शूद्रोंके लिए भी मुनिधर्म और श्रावकधर्मको स्वीकार करनेका मार्ग खुल जाता है। पण्डित प्रवर आशाधरजी आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्रके कथनके इस अन्तरको समझते थे, इसलिए उन्होंने अपने सागारधर्मामृतमें सर्व प्रथम विद्या और शिल्पसे रहित आजीविकावालोंके कुलको दीक्षाके अयोग्य बतला कर भी अन्तमें यह कहनेका साहस किया है कि उपस्करशुद्धि, आचारशुद्धि और शरीर-शुद्धिके होने पर शूद्र भी ब्राह्मण आदिके समान धर्मको धारण करनेके अधिकारी हैं। इसकी पुष्टिमें उन्होंने जो हेतु दिया है, इसमें सन्देह नहीं कि उस द्वारा जैनधर्मके मूल सिद्धान्तकी अभिव्यक्ति हो जाती है। वे कहते हैं कि लोकमें जो जातिसे हीन माना जाता है उसकी काललब्धि आ जानेपर उसे धर्मको स्वीकार करनेसे कौन रोक सकता है। उल्लेख इस प्रकार है—

> शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्यास्तु तादृशः।
> जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२२-२॥

यहाँ यह स्मरणीय है कि पण्डितप्रवर आशाधरजीने उक्त श्लोककी टीका करते समय आचार्य जिनसेन द्वारा स्वीकृत वर्णका लक्षण उद्धृत न कर आचार्य गुणभद्र द्वारा स्वीकृत वर्णके लक्षणको उद्धृत कर अन्तमें उसे ही अपनी स्वीकृति दी है।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य गुणभद्रने वर्णके इस लक्षण द्वारा धार्मिक दृष्टिसे समाजकी दिशा मोड़नेके लिए और उसमेंसे जातिवादके विषको दूर करनेके लिए नया चरण रखा है। इस द्वारा वे उन समस्त व्याख्याओंको, जो इसके पूर्व आचार्य जिनसेनने की थीं, अस्वीकार कर देते हैं। इसे फैलाकर देखनेपर सूचित होता है कि जो तद्भव मोक्षगामी और उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाले मनुष्य हैं, लौकिक दृष्टिसे चाहे वे नीच कुलमें उत्पन्न हुए हों और चाहे उच्चकुलमें, एकमात्र वे ही

त्रिवर्णी हैं और इनको छोड़कर अन्य और जितने मनुष्य हैं वे चाहे आर्य हों या म्लेच्छ; चाहे अविरती हों या श्रावक और मुनि वे सबके सब शूद्र हैं। धार्मिक दृष्टिसे यदि वर्णव्यवस्था स्वीकार की जाती है तो वह असि आदि कर्मके आधारसे नहीं मानी जा सकती। उसका विचार एकमात्र मोक्षमार्गकी दृष्टिसे ही हो सकता है। सम्भवतः इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर उन्होंने वर्णका उक्त लक्षण किया है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं सोमदेवसूरिने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है। इसलिए वे धर्मके लौकिक और पारलौकिक ये दो भेद करके ब्राह्मणादि जातियोंका सम्बन्ध लौकिक धर्मके साथ स्थापित करते हैं, पारलौकिक धर्म (मोक्षमार्ग) के साथ नहीं। किन्तु एक तो आचार्य गुणभद्र द्वारा किया गया यह लक्षण आगममें मान्य नहीं है, क्योंकि उसमें न तो जीवोंके परिणामरूपसे वर्णको स्वीकार किया गया है और न अलगसे ऐसे जाति नामकर्म और गोत्रकर्म ही बतलाये गये हैं जो मनुष्यकी उस पर्यायमें केवल शुक्लध्यानको उत्पन्न करनेमें हेतु हों। दूसरे वे इस व्याख्याका व्यवहारमें सर्वत्र निर्वाह भी नहीं कर सके हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने पुष्पदन्त जिनका चरित लिखते समय उनके पिताको इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री और क्षत्रियोंमें अग्रणी कहा है। साथ ही उन्होंने विदेह क्षेत्रमें भी गर्भान्वय आदि क्रियाओंका सद्भाव स्वीकार कर लिया है। यह तो सुविदित है कि पुष्पदन्त जिनके पिता उस पर्यायसे मोक्ष नहीं गये हैं, इसलिए वे उक्त व्याख्याके अनुसार क्षत्रिय नहीं ठहरते। फिर भी यहाँ पर आचार्य गुणभद्र उन्हें क्षत्रिय रूपसे स्वीकार करते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि चार वर्णोंकी उस व्याख्याको भी वे लौकिक दृष्टिसे मान्य करते हैं जो इनके गुरु जिनसेनने या अन्य आचार्योंने की है। ये दो उल्लेख हैं। आचार्य गुणभद्रके साहित्यसे ऐसे अन्य उल्लेख भी उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है। इसलिए निष्कर्षरूपमें हमें यह मानना पड़ता है कि न तो आचार्य गुणभद्रका साहित्य ही अपने गुरु

आचार्य जिनसेनके साहित्यके प्रभावसे सर्वथा मुक्त रह सका है और न सोमदेव सूरि या पण्डित प्रवर आशाधरजीका साहित्य ही। वस्तुस्थिति यह है कि उत्तरकालीन चरणानुयोग और प्रथमानुयोगका जितना भी जैन साहित्य उपलब्ध होता है उसमेंसे अधिकतर जैन साहित्य प्रायः इसी मतका समर्थन करता है जो आचार्य जिनसेनको इष्ट है। इतना ही नहीं, कहीं यदि आचार्य जिनसेनके कथनमें कोई महत्त्वकी बात फैलाकर नहीं कही गई है तो उसकी पूर्ति उत्तरकालीन साहित्यकारोंने की है। उदाहरणार्थ मनुस्मृतिमें सवर्ण विवाहको धर्मविवाह और असवर्ण विवाहको कामविवाह कहा है। आचार्य जिनसेन इस विषयमें बहुत स्पष्ट नहीं हैं जो एक कमी मानी जा सकती है। लाटीसंहिताके कर्ता पण्डित राजमलजीको यह कमी खटकी, अतः वे मनुस्मृतिके अनुसार पत्नीके दो भेद करके अपनी जातिकी पत्नीको ही धर्मकार्योंमें अधिकारिणी मानते हैं, भोगपत्नीको नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि अपनी जातिकी विवाहिता पत्नी ही धर्मपत्नी हो सकती है। इतर जातिकी विवाहिता ही क्यों न हो, उसे धर्मपत्नी बनानेका अधिकार नहीं है। उनके मतसे वह भोगपत्नी होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरकालीन जैन साहित्यपर आचार्य जिनसेनके विचारोंकी न केवल गहरी छाप पड़ी है, अपि तु कईने जातिवादके समर्थनका एक प्रकारसे बीड़ा ही उठा लिया था।

जातिवादके विरोधके चार प्रस्थान

पूर्वोक्त विवेचनसे यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य जिनसेनके बाद जैसे-जैसे काल बीतता गया जैनधर्म भी जातिवादका अखाड़ा बनता गया। ब्राह्मणधर्मके समान इसमें भी अनेक युक्तियों और प्रयुक्तियों द्वारा जातिवादका समर्थन किया जाने लगा। गृहस्थोंके आचार व्यवहारमें तो जातिवादका प्रभाव दिखलाई देने ही लगा, मुनियोंका आचार व्यवहार भी उसके प्रभावसे अछूता न रह सका। मुनिजन प्राणीमात्रके साथ

समताका व्यवहार करते हैं यह मुनिधर्मके प्रतिपादनकी शैलीमात्र रह गई। मुनिजीवनमें इसके लिए कोई स्थान न रहा। हिंसादि पापोंके समान तथाकथित अस्पृश्य शूद्रोंका स्पर्श और जातिलोप भी पाप मान लिए गये। यह उपदेश दिया जाने लगा कि जिनधर्मानुयायीको प्रयत्नपूर्वक जातिकी रक्षा करनी चाहिए। तथा जातिका लोप न हो इस विषयमें सावधान रहना चाहिए। जातिमर्यादाकी रक्षाके लिए त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थ लिखे गये और शूद्रोंको धार्मिक क्षेत्रमेंसे इस प्रकार उठाकर फेंक दिया गया जिस प्रकार कोई मनुष्य मरी हुई मक्खीको घीमेंसे निकालकर फेंक देता है।

जैनसाहित्यके अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि लगभग प्रथम शताब्दिके कालसे लेकर जैनधर्मरूपी मयङ्कको जातिवादरूपी राहुने ग्रसना प्रारम्भ कर दिया था। तथा जैनधर्मके अनुसार श्रावकपद और मुदिपदको स्वीकार करनेवाले मनुष्य भावोंके स्थानमें लिङ्गकी प्रधानता मानने लगे थे। सर्वप्रथम हमें इसका आभास आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यसे मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द अपने दर्शनप्राभृतमें इनका विरोध करते हुए कहते हैं—'न देह वन्दनीय है, न कुल वन्दनीय है और न जातिसंयुक्त मनुष्य ही वन्दनीय है। गुणहीन मनुष्यकी मैं कैसे वन्दना करूँ। ऐसा मनुष्य न श्रावक हो सकता है और न श्रमण ही।' वे जातिवाद और कुलवादकी निन्दा करते हुए द्वादशानुप्रेक्षामें पुनः कहते हैं—'जो कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शीलका थोड़ा भी अहङ्कार करता है वह श्रमण मार्दव-धर्मका अधिकारी नहीं हो सकता।' उन्होंने समयप्राभृतमें भावोंके विना मात्र लिङ्गका आग्रह करनेवालोंकी भी बड़ी कटु आलोचना की है। वे कहते हैं कि 'अनेक प्रकारके साधुलिङ्गों और गृहीलिङ्गोंको धारणकर मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि लिङ्ग मोक्षमार्ग है। परन्तु वास्तवमें विचार किया जाय तो लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि देहके प्रति निर्मम हुए अरिहन्त जिन लिङ्गको महत्त्व न देकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गकी उपासना करते हैं।'

साहित्यिक दृष्टिसे इसे हम जातिवादके विरोधका प्रथम प्रस्थान कह सकते हैं, क्योंकि इसके पहले जितने भी साहित्यका निर्माण हुआ है वह मात्र धर्मके आध्यात्मिक और व्यवहार पक्षको उपस्थित करने तक ही सीमित है। उसमें जातिवाद और लिङ्गवादकी हमें गन्ध भी नहीं दिखलाई देती है। इसके दूसरे प्रस्थानका प्रारम्भ मुख्यरूपसे आचार्य समन्तभद्रके कालसे होता है। मालूम होता है कि उनके कालमें जैनधर्मको स्वीकार करनेवाले मनुष्योंमें जातिवादको स्वीकार करनेवालोंकी बहुलता होने लगी थी। गणों और गच्छोंको स्थापित हुए अभी कुछ ही काल गया था। एक ही संघके भीतर विविध आधारोंसे होनेवाले इन नाना प्रकारके भेदोंसे आचार्य समन्तभद्र बड़े दुखी जान पड़ते हैं। इस कारण वे इन भेदोंको सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमें ही बाधक मानने लगे थे। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषणा की कि 'जो ज्ञान, पूजा, कुल जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके महत्त्वको प्रस्थापितकर जैनधर्मको स्वीकार करता है वह सम्यग्दर्शन का भी अधिकारी नहीं हो सकता।' उन्होंने सम्यक्त्वके दोषोंमें इन्हें गिनाकर जातिवाद और कुलवादका तीव्रतासे विरोध करनेमें आचार्य कुन्दकुन्दके अभिप्रायका ही प्रतिनिधित्व किया था। वस्तुतः देखा जाय तो जाति और कुलका अहङ्कार सब गतियोंमें नहीं देखा जाता। यह मानव-जातिकी ही मूढ़ता है कि उसने जातिवाद और कुलवादको स्वीकारकर इन वादों द्वारा मोक्षमार्गको तिरोहित करनेका प्रयत्न किया है। सम्यग्दर्शनके पचीस दोषों में जातिमद आदिकी परिगणना की जानेका यही कारण है, अन्यथा नारकी और तिर्यञ्च क्या जानें कि जाति और कुलका अहङ्कार कैसा होता है? वे तो पर्यायसे ही हीन योनिको प्राप्त हैं, इसलिए उनमें जातिमद और कुलमद आदिकी गन्ध ही नहीं हो सकती। इन मेदोंका सम्बन्ध अनन्तानुबन्धी मानके अन्तर्गत आता है यह ज्ञान हमें आचार्य समन्तभद्रके उक्त उल्लेखसे स्पष्ट ज्ञात होता है, इसलिए इनके जातिवादके विरोधको हमने द्वितीय प्रस्थान संज्ञा दी है।

किन्तु शरीरमें एक बार रोगके प्रवेशकर लेनेपर उसे निकाल बाहर करना आसान काम नहीं है। कभी-कभी तो जितनी अधिक तीव्रताके साथ रोगका उपचार किया जाता है वह उतनी ही अधिक तीव्रतासे बढ़ने भी लगता है। जातिवादरूपी रोगके जैनधर्ममें प्रवेश कर लेनेपर उसका भी यही हाल हुआ है। एक ओर तो मोक्षमार्गपर आरूढ़ साधुसंस्था छिन्न-भिन्न होकर धर्मके आध्यात्मिक पक्षके अनुरूप व्यवहारपक्षपर नियन्त्रण स्थापित करनेवाले प्रभावशाली व्यक्ति दुर्मिल होते गये और दूसरी ओर धर्मका अध्यात्मपक्ष पंगु होकर वह केवल प्राचीन साहित्यमें कैद होकर रह गया। आचार्य पूज्यपाद ऐसे ही नाजुक समयमें हुए हैं जब स्वामी समन्तभद्रके कालमें उत्पन्न हुई स्थितिमें और भी उग्रता आने लगी थी। तात्पर्य यह है कि उनके कालमें जातिवाद और लिङ्गवादको पूरा महत्त्व मिल चुका था, इसलिए आचार्य पूज्यपादको भी इन दोनोंका तीव्ररूपसे विरोध करनेके लिए कटिबद्ध होना पड़ा। वास्तवमें देखा जाय तो इन दोनोंमें प्रगाढ़ सख्यभाव है। इनमेंसे किसी एकको आश्रय मिलनेपर दूसरेको आश्रय मिलनेमें देर नहीं लगती। आचार्य पूज्यपाद इस कारण धर्मकी होनेवाली विडम्बनासे पूर्णरूपसे परिचित थे। यही कारण है कि अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके सम्यक् अभिप्रायको मोक्षमार्गके अनुरूप जानकर उन्होंने भी इनका तीव्र और मर्मस्पर्शी शब्दोंमें निषेध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि—'जाति देहके आश्रयसे देखी जाती है और देह ही आत्माका संसार है, इसलिए जिन्हें जातिका आग्रह है वे संसारसे मुक्त नहीं होते।' इसी तथ्यको दुहराते हुए उन्होंने पुनः कहा कि—'जिन्हें जाति और लिङ्गके विकल्परूपसे धर्मका आग्रह है वे आत्माके परमपद (मोक्ष) को नहीं प्राप्त होते।' यद्यपि इन शब्दों द्वारा आचार्य पूज्यपाद उसी तथ्यको प्रकाशमें लाये हैं जिसका उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने निर्देश किया था, परन्तु इस कथन द्वारा आचार्य पूज्यपाद अपने कालका पूरा प्रतिनिधित्व करते हुए जान पड़ते हैं, इसलिए इसे हम जातिवादके विरोधका तृतीय प्रस्थान कह सकते हैं।

आचार्य पूज्यपादके जैनेन्द्र व्याकरणमें 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम्' यह सूत्र आया है और इस आधारसे कतिपय मनीषी यह कह सकते हैं कि शूद्रवर्णके मनुष्य जिनदीक्षाके अयोग्य हैं इस तथ्यको आचार्य पूज्यपाद भी स्वीकार करते थे, इसलिए यदि शूद्रोंको जिनदीक्षाके अयोग्य कहा जाता है तो इसमें जातिवादका कहाँ प्रवेश हो गया। किन्तु आगे चलकर इस सूत्र पर हम विस्तारके साथ विचार करनेवाले हैं। उससे यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि यह सूत्र आचार्य पूज्यपादकी रचना नहीं होनी चाहिए। तत्काल इतना कहना पर्याप्त है कि आचार्य पूज्यपादके द्वारा ऐसे सूत्रकी रचना होना सम्भव प्रतीत नहीं होता जिससे जैनधर्मके आत्माका ही हनन होता है। आचार्य पूज्यपादकी उक्त रचनामें पर्याप्त हेर-फेर हुआ है यह उसके दो प्रकारके सूत्रपाठोंसे ही विदित होता है, अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि किसीने अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिए इस सूत्रको भी उनके नामपर चढ़ानेकी चेष्टा की है।

यह तो स्पष्ट है कि शरीरमें रोग उत्पन्न होनेपर केवल उसका उपचार करना ही पर्याप्त नहीं होता, किन्तु जिन बाह्य परिस्थितियोंके कारण उसकी उत्पत्ति होती है उनका निराकरण करना भी आवश्यक हो जाता है। जैनधर्ममें जातिवादरूपी रोगके प्रवेश करनेका कारण न तो जैनधर्मका अध्यात्म पक्ष है और न व्यवहार पक्ष ही उसका कारण है। यह संक्रामक रोग है जो बाहरसे आकर जैनधर्ममें प्रविष्ट हुआ है। इस सत्यको आचार्य पूज्यपादके उत्तरकालमें हुए आचार्य जटासिंहनन्दिने और भी अच्छी तरहसे अनुभव किया था। उन्होंने देखा कि अभी तक धार्मिक क्षेत्रमें ही इसका विरोध हुआ है। जो भूमि इसकी जननी है उसे साफ करनेका अभी प्रयत्न ही नहीं हुआ है। उन्होंने यह अच्छी तरहसे अनुभव किया कि यदि हम धार्मिक क्षेत्रको इससे अछूता रखना चाहते हैं तो हमें मुख्यतः सामाजिक क्षेत्रकी ओर विशेष रूपसे ध्यान देना पड़ेगा। न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। जातिवादके विरोधकी उनकी यह भूमिका है। तभी तो इस

भूमिका पर खड़े होकर उच्चस्वरसे वे यह घोषित करनेमें समर्थ हुए कि 'शिष्ट पुरुषोंने मात्र व्यवहार चलानेके लिए दया, रक्षा, कृषि और शिल्प-कर्मके आश्रयसे चार वर्ण कहे हैं। अन्य प्रकारसे ये चार वर्ण नहीं बनते।' जातिवादके विरोधका यह चतुर्थ प्रस्थान है। इनके उत्तरकालमें हुए आचार्य रविषेण, हरिवंशपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन, प्रभाचन्द्र, अमितिगति और शुभचन्द्र आदि अन्य जितने आचार्योंने जातिवादका निषेधकर गुणपक्षकी स्थापना द्वारा अध्यात्मपक्षको बल दिया है उनके उस कथनका समावेश इसी चतुर्थ प्रस्थानके अन्तर्गत होता है।

जातिवाद एक बला है। उसका प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा विरोध होना चाहिए इस तथ्यको अपने-अपने कालकी परिस्थितिके अनुरूप अधिकतर आचार्योंने स्वीकार किया है। पूर्वमें हम जातिवादके विरोधके जिन चार प्रस्थानोंका निर्देश कर आये हैं वे समय-समयपर किये गए उस विरोधके मात्र सूचक हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि जैनधर्मकी भूमिका प्रारम्भसे ही जातिवाद, कुलवाद और लिङ्गवादके विरोधकी रही है, क्योंकि जैनधर्मके अध्यात्मपक्ष और तदनुकूल व्यवहारपक्षके साथ इसकी किसी भी अवस्थामें सङ्गति बिठलाना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि धर्मका सम्बन्ध अपनी-अपनी गतिके अनुसार मोक्षमार्गके अनुरूप होनेवाले आत्मपरिणामोंसे है। उसके होनेमें इनके स्वीकार करनेसे रञ्चमात्र भी सहायता नहीं मिलती।

जातिवादका विरोध और तर्कशास्त्र

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि महापुराण और परकालवर्ती कुछ साहित्यको छोड़कर अन्य जितना प्रमुख जैन साहित्य उपलब्ध होता है उसने जातिवादका विरोध ही किया है। उस द्वारा यह बार-बार स्मरण कराया गया है कि जो मानता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं स्त्री हूँ वह मूढ है—

अज्ञानी है। वास्तवमें यह आत्मा न ब्राह्मण है, न वैश्य है, न क्षत्रिय है, न शूद्र है, न पुरुष है, न नपुंसक है और न स्त्री है। वह तो एकमात्र ज्ञायकस्वभाव है। उसका आश्रय लेनेसे ही उसे परमपदकी प्राप्ति हो सकती है, अन्य प्रकारसे नहीं।

किन्तु जैसे-जैसे जैनधर्ममें जातिवादका प्रभाव बढ़ता गया उसके अनुसार वे सब मान्यताएँ भी साकार रूप लेती गईं जो जातिवादको दृढ़मूल करनेमें सहायक हैं। ब्राह्मण धर्मकी एक मान्यता है कि प्रत्येक वर्णकी उत्पत्ति ब्रह्मासे हुई है। उसीने उनके अलग-अलग कर्तव्य कर्म भी निश्चित किये हैं। इसके विपरीत दूसरी मान्यता है कि सृष्टि अनादि है, अतः ब्राह्मण आदि जातियाँ भी अनादि हैं। ब्राह्मण धर्ममें तो इन मान्यताओंको स्वीकार किया ही गया है, जैनधर्ममें भी ये किसी न किसी रूपमें स्वीकार कर ली गई हैं। महापुराणमें आचार्य जिनसेनने कहा है कि 'नय और तत्त्वको जाननेवाला द्विज दूसरोंके द्वारा रची गई सृष्टिको दूरसे ही त्यागकर अनादि क्षत्रियोंके द्वारा रची गई धर्मसृष्टिकी प्रभावना करे। तथा जो राजा इस सृष्टिको स्वीकार कर लें उन्हें यह कहकर कि तीर्थङ्करोंके द्वारा रची गई यह धर्मसृष्टि ही सनातन है, सृष्टिके कारणोंको प्रकाशमें लावे।'

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि एक तो जन्मसे वर्णव्यवस्थाको स्वीकार करनेके अभिप्रायसे आचार्य जिनसेन अनादि क्षत्रिय शब्दका प्रयोग कर रहे हैं। दूसरे भरत चक्रवर्तीके मुखसे जातिवादकी स्थापना कराकर उसे तीर्थङ्करोंके द्वारा रची गई धर्मसृष्टि बतला रहे हैं। मालूम पड़ता है कि उत्तरकालमें जैन परम्परामें जातियाँ अनादि हैं यह विचार इसी आधारपर पनपा है, इसलिए यहाँपर ब्राह्मणादि जातियोंकी अनादिता किसी प्रकार घटित हो सकती है या नहीं इसी सम्बन्धमें मुख्यरूपसे विचार करना है।

यह तो है कि ब्राह्मण साहित्यमें ब्राह्मणत्व आदि जातियोंको स्वतन्त्र और नित्य पदार्थ मानकर उनकी अनादिता स्वीकार की गई है और जैन

साहित्यमें जिन आचार्योंने जातियोंको अनादि माना है उन्होंने बीज-वृक्ष न्यायके अनुसार उनकी अनादिता स्वीकार की है। इस प्रकार यद्यपि दोनों परम्पराओंने इनको अनादि माननेके कारण पृथक्-पृथक् दिये हैं तब भी किसी भी प्रकारसे जातियोंको अनादि मान लेने पर जो दोष आते हैं वे दोनों परम्पराओंमें समान रूपसे लागू होते हैं इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ ब्राह्मण परम्पराके अनुसार ब्राह्मण माता पिताके योगसे जो सन्तान उत्पन्न होगी उसीमें ब्राह्मणत्व जातिका सम्बन्ध होकर वह बालक ब्राह्मण कहलावेगा। उसमें क्रिया मन्त्रोंके द्वारा ब्राह्मणत्वके संस्कार करनेसे अन्य कोई नवीनता नहीं उत्पन्न होगी। जैसे यह तथ्य है उसी प्रकार जैन परम्परामें भी जो लोग जातियोंको अनादि मानते हैं उनके अनुसार भी ब्राह्मण माता पिताके योगसे उत्पन्न हुआ बालक ही ब्राह्मण कहलावेगा। उसमें क्रिया-मन्त्रोंके द्वारा संस्कार करने पर भी अन्य कोई (जो ब्राह्मण बनानेमें साधक हो ऐसी) नवीनता नहीं उत्पन्न हो सकेगी।

यह एक दोष है। जातियोंको अनादि माननेपर इसी प्रकार और भी बहुतसे दोष आते हैं जिनका परामर्श प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें विस्तारके साथ किया गया है। जैनधर्ममें जातियोंके नित्य पक्षको किसीने भी स्वीकार नहीं किया है, इसलिए वहाँपर यद्यपि नित्य पक्षको स्वीकार करके ही दोष दिखलाए गये हैं, परन्तु सन्तान पक्षको स्वीकार करनेपर भी वही दोष आते हैं, इसलिए उन ग्रन्थोंमें जातियोंकी अनादिता के खण्डनमें जो प्रमाण उपस्थित किए गये हैं उन्हें क्रमांक देकर संक्षेपमें यहाँपर दिखला देना आवश्यक है—

१. क्रियाओंका लोप होनेसे ब्राह्मण आदि जातियोंका लोप होना जैसे ब्राह्मण धर्ममें स्वीकार किया गया है उसी प्रकार जिनसेन प्रभृति आचार्य भी मानते हैं। आचार्य जिनसेनने स्पष्ट कहा है कि जो ब्राह्मणादि वर्ण वालोंके लिए कही गई वृत्तिका उल्लंघनकर अन्य प्रकारसे वृत्तिका आश्रय लेता है उसपर राजाको नियन्त्रण रखना चाहिए, अन्यथा प्रजा वर्णसंकर

हो जायगी। इसते विदित होता है कि ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नहीं हैं।

२. जिस प्रकार गायके साथ अश्वका संयोग होकर सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती, या वटके बीजसे आमकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार ब्राह्मणी के साथ शूद्रका संयोग होकर सन्तान उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु ब्राह्मणीसे शूद्रका संयोग होकर सन्तानकी उत्पत्ति देखी जाती है। इससे भी मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नहीं हैं।

३. ब्राह्मण आदि जातियोंको अनादि माननेपर किसी ब्राह्मणीके वेश्या के घरमें प्रवेश करनेपर उसकी निन्दा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इतने-मात्रसे उसकी जाति खण्डित नहीं हो सकती। परन्तु लोकमें किसी ब्राह्मणी के वेश्या हो जानेपर उसे जातिच्युति मान लिया जाता है। इससे भी विदित होता है कि ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नहीं हैं।

४. ब्राह्मण आदि जातियोंको अनादि माननेपर उनके यज्ञोपवीत आदि संस्कार नहीं करने चाहिए और न इस कारण उन्हें द्विजन्मा ही कहना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि यज्ञोपवीत आदि संस्कार होकर ही उन्हें द्विज संज्ञा प्राप्त होती है। इससे भी मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नहीं हैं।

५. प्रश्न यह है कि ब्राह्मणजाति किसका धर्म है? जीवका स्वाभाविक धर्म तो हो नहीं सकता, क्योंकि सिद्धोंमें इस प्रकारका भेद नहीं देखा जाता। कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ धर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मोंमें भी ब्राह्मणजाति कर्म आदि भेद नहीं देखे जाते। आचार्य जिनसेनने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यजाति एक ही है। इसलिए यह जीवका धर्म तो है नहीं। शरीर का धर्म है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्योंका शरीर औदारिक-शरीर नामकर्मके उदयसे बनता है। परन्तु औदारिकशरीर नामकर्ममें ये

भेद नहीं देखे जाते। कर्मशास्त्रमें भी इन भेदोंका उल्लेख नहीं है। इसलिए यह शरीरका भी धर्म नहीं है। उपनयन आदि संस्कारका धर्म है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसे संस्कारका धर्म माननेपर एक तो संस्कारके पूर्व त्रिवर्णके बालकको शूद्र संज्ञा प्राप्त होती है। दूसरे उपनयन संस्कार शूद्र बालक और कन्यामात्रका भी किया जा सकता है। इससे भी मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नहीं हैं।

६. कोई शूद्र अन्य प्रदेशमें ब्राह्मणरूपसे प्रसिद्धि प्राप्तकर ब्राह्मणपदको प्राप्त कर लेता है। इससे भी माल्र्म पड़ता है कि ब्राह्मण आदि अनादिसिद्ध स्वतन्त्र जातियाँ नहीं हैं।

ये कुछ दोष हैं जो ब्राह्मण आदि जातियोंको अनादि माननेपर प्राप्त होते हैं। इनको अनादि माननेपर इसी प्रकार और भी बहुतसे दोष आते हैं, इसलिए प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जन्मसे वर्णव्यवस्था का खण्डनकर एकमात्र कर्मसे ही उसकी स्थापना की गई है। किन्तु इस कथनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कोई भी मनुष्य असत् प्रवृत्ति करने के लिए स्वतन्त्र है। मात्र इस कथनका यह तात्पर्य है कि जिनकी समीचीन प्रवृत्ति है वे तो आचारका सम्यक् प्रकारसे पालन करें ही। साथ ही लोकमें जो पतित शूद्र माने जाते हैं उन्हें भी सब प्रकारके सम्यक् आचारके पालन करनेका अधिकार है। आचार किसी वर्णविशेषकी बपौती नहीं है। जिससे उसपर किसी एक वर्णका अधिकार माना जाय और किसीको उससे बहिष्कृत रखा जाय। जातिवाद वास्तवमें ब्राह्मणधर्मकी देन है। जैनधर्ममें उसे थोड़ा भी स्थान नहीं है। यह जानकर हमें सबके साथ समान व्यवहार करना चाहिए और सबको ऊपर उठानेमें प्रयत्नशील होना चाहिए यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

वर्णमीमांसा

षट्कर्म व्यवस्था और तीन वर्ण

साधारणतः आजीविका और वर्ण ये पर्यायवाची नाम हैं, क्योंकि वर्णोंकी उत्पत्तिका आधार ही आजीविका है। जैन पुराणोंमें बतलाया है कि कृतयुग के प्रारम्भमें कल्पवृक्षोंका अभाव होनेपर प्रजा क्षुधासे पीड़ित होकर भगवान् ऋषभदेवके पिता नाभिराजके पास गई। प्रजाके दुखको सुनकर नाभिराज ने यह कह कर कि इस संकटसे प्रजाका उद्धार करनेमें भगवान् ऋषभदेव विशेषरूपसे सहायक हो सकते हैं, उसे उनके पास भेज दिया। क्षुधासे आर्त प्रजाके उनके सामने उपस्थित होनेपर उन्होंने उसे असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मोंका उपदेश दिया। इससे तीन वर्णोंकी उत्पत्ति हुई। जो असि विद्याको सीखकर देशकी रक्षा करते हुए उस द्वारा अपनी आजीविका करने लगे वे क्षत्रिय कहलाये। जो कृषिकर्म और वाणिज्यकर्मको स्वीकार कर उनके आश्रयसे अपनी आजीविका करने लगे वे वैश्य कहलाये और जो विद्या और शिल्पकर्मका आश्रय कर उनके द्वारा अपनी आजीविका करने लगे वे शूद्र कहलाये। मषिकर्म किस वर्णका मुख्य कर्म था इसका स्पष्ट निर्देश हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यह सर्वसाधारण कर्म रहा हो यह सम्भव है। कृष्यादि कर्मोंमें ऋषभनाथ जिनने प्रजाको लगाया इस मतका उल्लेख सर्व प्रथम स्वामी समन्तभद्रने किया है। इसके बाद अधिकतर पुराणकारोंने इस कथनकी पुष्टि की है। साथ ही वे स्पष्ट शब्दोंमें यह भी घोषित करते हैं कि ऋषभ जिनने केवल छह कर्मोंका ही उपदेश नहीं दिया। किन्तु उन्होंने उन कर्मों के आधारसे तीन वर्णोंकी स्थापना भी की। मात्र हरिवंशपुराण, वराङ्गचरित्र और यशस्तिलकचम्पू इसके अपवाद हैं। वाराङ्गचरितमें बतलाया है कि एक दिन सभामें बैठे हुए वराङ्ग सम्राट्ने मलिनचित्तवाले सभासदों के मनोविनोदके लिए जन्मसे वर्ण व्यवस्थाका निषेध करते

हुए कर्मसे वर्णव्यवस्थाका समर्थन किया। उसमें षट्कर्मव्यवस्था और तीन वर्ण कबसे लोकमें प्रसिद्ध हुए तथा इनकी परिपाटी किसने चलाई यह कुछ भी नहीं बतलाया गया है। इसी प्रकार यशस्तिलकचम्पूमें यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्णाश्रमधर्म आगमसम्मत नहीं है। वेद और मनुस्मृति आदिके आधारसे यह लोकमें प्रसिद्ध हुआ है। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि कमसे-कम स्वामी समन्तभद्रके कालसे जैन परम्परामें यही मत अधिक प्रसिद्ध है कि षट्कर्मव्यवस्थाके आदि स्रष्टा भगवान् ऋषभदेव ही हैं। तथा पुराणकालमें वे तीन वर्णोंके स्रष्टा भी मान लिए गये।

सोमदेवसूरि और चार वर्ण

यह तो सुविदित है कि सोमदेवसूरि अपने कालके बड़े भारी लोक-नीतिके जानकार विद्वान् हो गये हैं। यशस्तिलकचम्पू जैसे महाकाव्य और नीतिवाक्यामृत जैसे राजनीतिगर्भित शास्त्रका प्रणयन कर उन्होंने साहित्यिक जगत्में अमर कीर्ति उपार्जित की है। इस द्वारा उन्होंने संसारको यह स्पष्टरूपसे दिखला दिया है कि स्वाध्याय और ध्यानमें रत जैन साधु भी लोकनीतिके अधिवक्ता हो सकते हैं। क्या राजनीति और क्या समाजतन्त्र इनमेंसे जिस विषयको उन्होंने स्पर्श किया है उसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थोंके समान खोलकर रख दिया है यह उनकी प्रतिभाकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनके साहित्यका आलोढन करनेसे उनमें जो गुण दृष्टिगोचर होते हैं उनमें निर्भयनामक गुण सबसे प्रधान है। जिस तत्त्वका उन्होंने विवेचन किया है उसपर वे निर्भयताकी छाप बराबर छोड़ते गये हैं। लौकिकधर्मका जैनीकरण करते हुए भी व्यामोहवश उसे वे जैन आगमसम्मत माननेके लिए कभी भी तैयार नहीं हुए। उन्होंने यह उपदेश अवश्य दिया है कि जैनोंके लिए सब लौकिकविधि प्रमाण है और इस लौकिकविधिके भीतर वे जातिवादके उन सब तत्त्वोंको प्रश्रय देनेमें पीछे नहीं रहे हैं जो ब्राह्मण धर्मकी देन है। पर उन्होंने यह उपदेश यह कहकर

नहीं दिया है कि यह वीतराग भगवान् महावीरकी वाणी है, उसे इस रूपमें प्रमाण मानकर आचरणमें लाओ। किन्तु यह कहकर उसका उपदेश दिया है कि लौकिक दृष्टिसे इसे प्रमाण मान लेनेमें व्रत और सम्यक्त्वकी हानि नहीं है। स्पष्ट है कि उन्होंने पारलौकिक (जैन) धर्मसे लौकिक (ब्राह्मण) धर्मको पृथक् करके ही उसका विधान किया है। न तो वे स्वयं अंधेरेमें हैं और न दूसरोंको अंधेरेमें रखना ही चाहते हैं। यद्यपि सर्वप्रथम आचार्य जिनसेनने ही ब्राह्मणधर्मके क्रियाकाण्डको अपनाया है। परन्तु आचार्य जिनसेनकी प्रतिपादनशैलीसे इनकी प्रतिपादनशैलीमें मौलिक अन्तर है। आचार्य जिनसेन जहाँ भरत चक्रवर्ती जैसे महापुरुषको माध्यम बनाकर ब्राह्मणधर्मके लौकिक क्रियाकाण्डको मुख्यता देकर श्रावकधर्म और मुनिधर्मको गौण करनेका प्रयत्न करते हुए प्रतीत होते हैं वहाँ सोमदेवसूरि उसे अपनानेके लिए इस मार्गको पसन्द नहीं करते। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह सब क्रियाकाण्ड जैन आगममें नहीं है, श्रुति और स्मृतिमें है। इतना अवश्य है कि लौकिक दृष्टिसे इसे स्वीकार कर लेने पर न तो सम्यक्त्वमें दोष आता है और न व्रतोंकी ही हानि होती है। यही कारण है कि लौकिक और पारलौकिक धर्मके विषयमें तथा वर्णव्यवस्थाके विषयमें उन्होंने जो विचार रखे हैं वे सुस्पष्ट स्थितिको अभिव्यक्त करनेवाले होनेसे मननीय हैं। यशस्तिलकचम्पूमें वे कहते हैं—

'गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका है—लौकिकधर्म और पारलौकिकधर्म। लौकिकधर्मका आधार लोक है और पारलौकिक धर्मका आधार आगम है। ब्राह्मण आदि सब जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रियाएँ भी अनादि हैं। इसमें वेद और शास्त्रान्तरों (ब्राह्मण, आरण्यक और मनुस्मृति आदि) को प्रमाण मान लेनेमें हमारी (जैनोंकी) कोई हानि नहीं है। रत्नोंके समान वर्ण अपनी अपनी जातिके आधारसे ही शुद्ध हैं। किन्तु उनके आचार-व्यवहारके लिए जैनागमविधि उत्तम है। संसार भ्रमणसे मुक्तिका कारण वेद आदि द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रमधर्मको मानना उचित नहीं है और संसार

का व्यवहार स्वतःसिद्ध होते हुए उसमें आगमकी दुहाई देना भी व्यर्थ है। ऐसी सब लौकिक विधि, जिससे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होती और व्रतोंमें दूषण नहीं लगता, जैनोंको प्रमाण है।'

अपने इस कथनकी पुष्टिमें वे नीतिवाक्यामृतमें पुनः कहते हैं—

'चार वेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष ये छह उनके अङ्ग हैं। ये दस तथा इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्यास्थान त्रयी कहलाते हैं। त्रयीके अनुसार वर्ण और आश्रमोंके धर्म और अधर्मकी व्यवस्था होती है। स्वपक्षमें अनुराग होनेसे तदनुकूल प्रवृत्ति करते हुए सब मिल कर लोकव्यवहारमें अधिकारी हैं। धर्मशास्त्ररूप स्मृतियाँ वेदार्थका संग्रह करनेवाली होनेसे वेद ही हैं। अध्ययन, यजन और दान ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके समान धर्म हैं। तीन वर्ण द्विजाति हैं। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह ये मात्र ब्राह्मणोंके कर्म हैं। प्राणियोंकी रक्षा करना, शस्त्र द्वारा आजीविका करना, सज्जनोंका उपकार करना, दीनोंका उपकार करना और रणसे विमुख नहीं होना ये क्षत्रियोंके कर्म हैं। कृषि आदिसे आजीविका करना, निष्कपटभावसे यज्ञ आदि करना, अन्नशाला खोलना, प्याउका प्रबन्ध करना, धर्म करना और वाटिका आदिका निर्माण करना ये वैश्योंके कर्म हैं। तीन वर्णोंके आश्रयसे आजीविका करना, बढ़ईगिरी आदि कार्य करना तथा नृत्य, गान और भिक्षुओंकी सेवा-शुश्रूषा करना ये शूद्रवर्णके कर्म हैं। जिनके यहाँ एक बार परिणयन व्यवहार होता है वे सच्छूद्र हैं। जिनका आचार निर्दोष है; जो गृह, पात्र और वस्त्र आदिकी सफाई रखते हैं तथा शरीरको शुद्ध रखते हैं वे शूद्र हो कर भी देव, द्विज और तपस्वियोंकी परिचर्या करनेके अधिकारी हैं। क्रूरभावका त्याग अर्थात् अहिंसा, सत्यवादिता, परधनका त्याग अर्थात् अचौर्य, इच्छापरिमाण, प्रतिलोम विवाह नहीं करना और निषिद्ध स्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य रखना यह चारों वर्णोंका समान धर्म है। जिस प्रकार सूर्यका दर्शन सबको समानरूपसे होता है उसी प्रकार अहिंसा आदि उक्त

धर्म सबके लिए साधारण है। मात्र विशेष अनुष्ठानमें नियम है। अर्थात् प्रत्येक वर्णका धर्म अलग अलग है। अपने-अपने आगममें जो अनुष्ठान कहा है वह यतियोंका स्वधर्म है। अपने धर्मका व्यतिक्रम होने पर यतियोंको अपने आगममें जो प्रायश्चित्त कहा है वह विधेय है। जो जिस देवका श्रद्धालु हो वह उस देवकी प्रतिष्ठा करे। भक्तिके बिना की गई पूजाविधि तत्काल शापका कारण होती है। तथा वर्णाश्रमवालोंकी अपने आचारसे च्युत होने पर त्रयीके अनुसार शुद्धि होती है।'

यह सोमदेव सूरिका कथन है जो उन्हींके शब्दोंमें यहाँ पर उपस्थित किया गया है। वे लौकिकधर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्मका आधार एकमात्र श्रुति (वेद) और स्मृति (मनुस्मृति)को मानते हैं। वे यह स्वीकार नहीं करते कि तीन वर्णोंकी स्थापना भगवान् ऋषभदेवने और ब्राह्मणवर्णकी स्थापना भरत चक्रवर्तीने की थी। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है यह बहुत सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेवने प्रजाको मात्र कृषि आदि कर्मों का उपदेश दिया हो और कालान्तरमें आजीविकाके कारण संघर्षकी स्थिति उत्पन्न होने पर क्रमसे वर्णव्यवस्थाका विकाश होकर उनके अलग अलग कर्म निश्चित हुए हों। यह जैनोंमें प्राचीन कालसे स्वीकृत रही है या ब्राह्मणधर्मके सम्पर्कसे भारतवर्षमें इसका प्रचार हुआ है यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्मकी वर्णाश्रमधर्म संज्ञा नहीं है, आठवीं-नौवीं शताब्दिके पूर्वके जैन साहित्यमें किसी भी प्रकारसे चार वर्ण और उनके अलग अलग कर्मोंका उल्लेख तक नहीं हुआ है, आठवीं शताब्दिसे लेकर जिन्होंने इनका उल्लेख किया भी है वे परस्परमें एकमत नहीं हैं और योग्यताके आधार पर जैनधर्ममें जो रत्नत्रयधर्मके प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया है उसके साथ इसका मेल नहीं खाता। इससे तो ऐसा ही मालूम पड़ता है कि वर्णाश्रमधर्म पूर्व कालमें जैनोंमें कभी भी स्वीकृत नहीं रहा है। यह ब्राह्मणधर्मकी प्रकृति और स्वरूपके अनुरूप होनेसे उसीकी अपनी विशेषता है। यद्यपि यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि आचार्योंमें इस

प्रकारका मतभेद तो श्रावकोंके बारह व्रतों और अन्य तत्त्वोंके प्रतिपादनमें भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरणको श्रावक के बारह व्रतोंके अन्तर्गत मानते हैं। जब कि अन्य आचार्य उसका बारह व्रतोंके बाहर स्वतन्त्ररूपमें उल्लेख करते हैं। इसलिए यदि वर्णाश्रमधर्मके विषयमें जैनाचार्योंमें परस्परमें मतभेद देखा जाता है तो इतने मात्रसे वह पूर्व कालमें जैनोंमें स्वीकृत नहीं रहा है यह कैसे कहा जा सकता है? प्रश्न मार्मिक है। उसका समाधान यह है कि जैनाचार्योंमें जैसा मतभेद श्रावकोंके बारह व्रतों या अन्य तत्त्वोंके प्रतिपादन करनेमें देखा जाता है, यह मतभेद उस प्रकारका नहीं है। वह मतभेद मात्र प्रतिपादनकी शैली पर आधारित है जब कि यह मतभेद तात्त्विक भूमिकाके आश्रित है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए हम एक उदाहरण देते हैं।

इस समय हमारे देशमें डा० राजेन्द्रप्रसादजी राष्ट्रपति और पण्डित जवाहरलाल नेहरु प्रधान मन्त्री हैं। इस विषयमें यदि योग्यताके आधार से विचार किया जाय तो दोनों ही राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री बननेके लायक हैं। इतना ही नहीं, विश्वका कोई भी व्यक्ति धर्म, जाति और देशभेदका विचार किये बिना इन पदोंको प्राप्त करनेका अधिकारी है। इसे और भी स्पष्ट करके कहा जाय तो यह कहनेमें संकोच नहीं होता कि विश्वका प्रत्येक मनुष्य धार्मिक और लौकिक दृष्टिसे उच्चसे उच्च पद प्राप्त करनेका अधिकारी है। इतना ही नहीं, विश्वके अन्य जिन प्राणियोंमें धर्माधर्मको समझनेकी योग्यता है वे भी अपनी-अपनी नैसर्गिक परिस्थितियोंके अनुरूप अपने-अपने जीवनमें धर्मका विकाश कर सकते हैं। धर्म धारण करनेका ठेका केवल अमुक वर्गके मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। यह जैनधर्मकी भूमिका है। इसी भूमिकासे उसने चारों गतियोंमें यथायोग्य धर्मको स्वीकार किया है जिसका विस्तृतरूपसे विचार हम पहले कर आये है।

किन्तु लौकिक भूमिका इससे भिन्न है। उसका विकाश मुख्यतया दो सिद्धान्तोंके आश्रयसे हुआ है—एक राजतन्त्र और दूसरा गणतन्त्र।

राजतन्त्रमें जन्मसे ही एक व्यक्ति समाजके सञ्चालनका और राज्यका कर्ता धर्ता मान लिया गया है। समाजको उसमें ननु न च करनेका अधिकार नहीं है। ब्राह्मणधर्मके अनुसार वर्णाश्रम धर्मकी स्थापना मुख्यतया इसी भूमिका पर हुई है। एक शूद्र मनुष्य ब्राह्मण वर्णके कर्तव्योंका पालन क्यों नहीं कर सकता इस प्रश्नको वहाँ कोई अवकाश नहीं है। यदि वह जन्मसे शूद्र है तो उसे जीवनभर शूद्र वर्णके लिए निश्चित किये गये धर्मका पालन करना ही होगा, अन्यथा वह राजाके द्वारा उसी प्रकार दण्डका अधिकारी है जिस प्रकार कोई व्यक्ति हिंसादि पाप करने पर उसका अधिकारी होता है। यह वर्णाश्रमधर्मकी भूमिका है। किन्तु जैनधर्ममें इस भूमिकाके लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इस भूमिकाके अनुसार योग्यता, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और स्वावलम्बनके सिद्धान्तका सर्वथा हनन होता है। अतएव ब्राह्मणधर्म वर्णव्यवस्थाको जिस प्रकार जन्मसे स्वीकार करता है उस प्रकार जैनाचार्य उसे जन्मसे स्वीकार नहीं करते। वे इसे मोक्षमार्गके सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन इसके अपवाद हैं। परन्तु इसके साथ सोमदेव सूरिके कथनानुसार यह भी निश्चित है कि जन्मसे वर्णव्यवस्थाका कथन न तो ऋषभदेवने किया था और न भरत चक्रवर्तीने ही। उसका आधार ये महापुरुष न होकर श्रुति और स्मृति ही हैं।

लौकिक व्यवस्थाका दूसरा आधार गणतन्त्र है। यह तो मानी हुई बात है कि कौन व्यक्ति क्या बने और क्या न बने इसके निर्णयका अधिकार दूसरेके हाथमें नहीं है। किन्तु जहाँ पर सामाजिक व्यवस्थाका प्रश्न है। अर्थात् सबको मिलकर बाह्य साधनोंके आधारसे परस्पर निर्वाहकी ऐहिक व्यवस्था करनी होती है वहाँ पर प्रत्येक व्यक्तिकी एक समान योग्यताको स्वीकार करनेके बाद भी उसके सञ्चालनके लिए सबके सहयोगसे कुछ ऐसे नियम बनाये जाते हैं जो किसी हद तक प्रत्येक व्यक्तिकी आकांक्षा पूर्तिमें सहायक होते हैं। साथ ही किसी हद तक सब व्यक्तियोंपर नियन्त्रण भी स्थापित

करते हैं। यह व्यवस्था ब्राह्मणधर्मके सर्वथा विरुद्ध है इसमें सन्देह नहीं। जैनधर्मकी अपेक्षा इतना ही कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें यह ग्राह्य न होकर भी सामाजिक क्षेत्रमें व्यवहारसे मान्य ठहराई गई है। इसलिए ऋषभदेवने तीन वर्णकी और भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मणवर्णकी स्थापना जैसा कि सोमदेव सूरि कहते हैं एक तो की न होगी और यदि की भी होगी तो वह ऊपरसे नहीं लादी गई होगी। किन्तु उन्होंने कर्मके अनुसार नामकरण करके यह प्रजाके ऊपर छोड़ दिया होगा कि वह अपने-अपने कर्मके अनुसार उस-उस वर्णको स्वीकार कर ले।

साररूपमें यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि महापुराणमें जो जन्मसे वर्णव्यवस्था और गर्भाधानादि तिरेपन क्रियाओं का उपदेश है उसे सोमदेव सूरि भरत चक्रवर्तीके द्वारा उपदिष्ट धर्म नहीं मानते। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह लौकिक विधि है, इसलिए इसे वेद और मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंके आधारसे प्रमाण मानना चाहिए। आत्मशुद्धिमें प्रयोजक जैनागमके आधारसे इसे प्रमाण मानना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि शूद्रोंका उपनयन आदि संस्कार नहीं हो सकता, वे अध्ययन, यजन और दान आदि कर्म करनेके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें यज्ञोपवीत पूर्वक श्रावकधर्मकी दीक्षा और मुनिदीक्षा नहीं दी जा सकती; वे स्वयं चाहें तो संन्यास पूर्वक मरण होने तक एक शाटकव्रतको स्वीकार करके रहें इत्यादि जितना कथन आचार्य जिनसेनने किया है वह सब कथन सोमदेव सूरिके अभिप्रायानुसार उन्होंने वेद और मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंके आधारसे ही किया है, उपासकाध्ययनसूत्रके आधारसे नहीं। ऋषभनाथ तीर्थङ्करने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जब ब्राह्मणवर्ण और गर्भान्वय आदि क्रियाओंका उपदेश ही नहीं दिया था। बल्कि भरत चक्रवर्तीके द्वारा पृच्छा करने पर उन्होंने इस चेष्टाको एक प्रकारसे अनुचित ही बतलाया था, इसलिए उपासकाध्ययन सूत्रमें ब्राह्मणवर्ण और गर्भान्वय आदि क्रियाओंका समावेश होना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि गणधरोंने बारह अङ्गोंमें केवल तीर्थङ्करोंकी

दिव्यध्वनिका ही संग्रह किया है, भरत चक्रवर्ती आदिके उपदेशका नहीं। इसलिए विचार कर देखा जाय तो इस सम्बन्धमें सोमदेव सूरिने जो कुछ भी कहा है वह यथार्थ प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि वर्णाश्रमधर्म जैनधर्म का अङ्ग नहीं है, और इसलिए हम वर्णाश्रमधर्मके आधारसे शूद्रोंके धर्म सम्बन्धी नैसर्गिक अधिकारोंका अपहरण नहीं कर सकते। हम यहाँ उनके यज्ञोपवीत पहिनने या न पहिनने, विवाह सम्बन्धी रीति रिवाज और आजीविकाके साधनोंके विषयमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे, क्योंकि ये सब सामाजिक व्यवस्थाके अङ्ग हैं, धार्मिक व्यवस्थाके अङ्ग नहीं। इसलिए इस सम्बन्धमें सामाजिक संस्थाओंको ही निर्णय करनेका अधिकार है और वे कर भी रही हैं। पर आत्मशुद्धिके लिए पूजा करना, दान देना, शास्त्र-स्वाध्याय करना तथा गृहस्थधर्म और मुनिधर्मको स्वीकार करना आदि जितने धार्मिक कर्तव्य हैं, जैनागमके अनुसार वे उनके अधिकारी रहे हैं, हैं और रहेंगे। आगमकी और धर्मकी दुहाई दे कर जो उनको इन कर्मोंसे रोकनेकी चेष्टा करते हैं, वास्तवमें वे धर्म और आगमकी अवहेलना करते हैं, वे नहीं जो उनके इन नैसर्गिक अधिकारोंको स्वीकार करते हैं।

शूद्र वर्ण और उसका कर्म—

चार वर्णोंमें एक वर्ण शूद्र है यह हम पहले ही बतला आये हैं। साथ ही वहाँ पर उसके विद्या और शिल्प इन दो कर्मोंका भी उल्लेख कर आये हैं। किन्तु शूद्रवर्णके मात्र ये ही कर्म हैं इस विषयमें मतभेद देखा जाता है, अतः यहाँपर इस विषयकी साङ्गोपाङ्ग चरचा कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टिसे विचार करते समय सर्व प्रथम हमारी दृष्टि वराङ्गचरित पर जाती है। उसमें अन्य वर्णोंके कर्मोंका निर्देश करते हुए शूद्रवर्णका एकमात्र शिल्पकर्म बतलाया गया है। उसके बाद पद्मपुराणका स्थान है।

जटासिंहनन्दिके समान आचार्य रविषेण जन्मसे किसी वर्णको स्वीकार नहीं करते इसीसे तो स्पष्ट है कि उन्होंने जन्मसे वर्णव्यवस्थाका बड़े ही समर्थ शब्दोंमें

खण्डन किया है। वे कहते हैं कि 'वेदमन्त्र और अग्निसे संस्कारित होकर शरीरमें कोई अतिशय उत्पन्न हो जाता है यह बात हमारे ज्ञानके बाहर है। मनुष्य, हाथी, गधा, गाय और घोड़ा इसप्रकारका जातिभेद तो है, पर मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकारका जातिभेद नहीं है, क्यों कि तथाकथित दूसरी जातिके मनुष्य द्वारा दूसरी जातिकी स्त्रीमें गर्भ धारण करना और उससे सन्तानकी उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। पशुओंमें प्रयत्न करने पर भी एक जातिका पशु दूसरी जातिकी स्त्रीके साथ संयोग कर सन्तान उत्पन्न नहीं करता। किन्तु सब मनुष्योंकी स्थिति इससे भिन्न है, इसलिए जन्मसे वर्ण न मान कर कर्मके आधारसे वर्ण मानना ही उचित है।' यह उनके कथनका सार है। इतना कहनेके बाद उन्होंने चार वर्ण लोकमें क्यों प्रसिद्ध हुए इसके कारणका निर्देश करते हुए वैश्यवर्ण और शूद्रवर्णके विषयमें कहा है कि 'जिन्होंने लोकमें शिल्पकर्ममें प्रवेश किया उनकी भगवान् ऋषभदेवने वैश्य संज्ञा रखी और जो श्रुत अर्थात् सदागमसे भाग खड़े हुए उन्हें उन्होंने शूद्र शब्द द्वारा सम्बोधित किया।' दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी कहा है कि 'जो क्षत्रिय और वैश्यवर्णके कर्मोंको सुनकर लज्जित हुए और नीचकर्म करने लगे वे शूद्र कहे गये। प्रेष्य आदि उनके अनेक भेद हैं।' इसके बाद हरिवंशपुराणका स्थान है। इसमें शूद्रवर्णके कर्मका निर्देश करते हुए बतलाया है कि 'जो लोकमें शिल्पादि कर्म करने लगे वे शूद्र कहलाये।' हरिवंशपुराणके अनुसार भगवान् ऋषभदेवने तीन वर्णोंकी उत्पत्ति की ऐसा बोध नहीं होता, क्यों कि उसमें भगवान् ऋषभदेवने छह कर्मोंका उपदेश दिया यह कहनेके बाद 'आपत्तिसे रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय हो गये, वाणिज्यके योगसे वैश्य होगये और शिल्पादिके सम्बन्धसे शूद्र हो गये' इतना ही कहा है।

इसके बाद महापुराणका स्थान है। इसमें बतलाया है कि 'आदि ब्रह्मा ऋषभदेवने छह कर्मोंका उपदेश देनेके बाद तीन वर्णोंकी सृष्टि की।' शूद्रवर्णका कर्म बतलाते हुए वहाँ कहा है कि 'जो क्षत्रिय और वैश्यवर्णकी

शुश्रूषा करते हैं वे शूद्र कहलाये। इनके दो भेद हैं–कारु और अकारु। कारु शूद्रोंके भी दो भेद हैं–स्पृश्य और अस्पृश्य। जो प्रजाके बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं और नाई आदि स्पृश्य शूद्र हैं।' आगे पुनः चार वर्णोंके कर्मोंका निर्देश करते हुए शूद्रोंके विषयमें वहाँ बतलाया है कि 'नीचवृत्तिमें नियत हुए शूद्रोंको आदि ब्रह्मा ऋषभदेवने अपने दोनों पैरोंके आश्रयसे रचा।' शूद्रोंके कारु और अकारु तथा स्पृश्य और अस्पृश्य ये भेद केवल महापुराणमें ही किये गये हैं। महापुराणके पूर्ववर्ती वराङ्गचरित, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणमें ये भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। महापुराणमें विवाह, जातिसम्बन्ध और परस्पर व्यवहार आदिके विषयमें और भी बहुतसे नियम दृष्टिगोचर होते हैं जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती आचार और पुराणग्रन्थोंमें नहीं किया गया है। शूद्रोंका उपनयन आदि संस्कार नहीं करना चाहिए, आर्य षट्कर्मके भी वे अधिकारी नहीं है। तथा दीक्षा योग्य केवल तीन वर्ण हैं इन सब बातोंका विधान भी महापुराणमें ही किया गया है, इससे पूर्ववर्ती किसी भी आचार और पुराण ग्रन्थमें नहीं। स्पष्ट है कि शूद्रवर्ण और विवाह आदिके विषयमें ये सब परम्पराएँ महापुराण कालसे प्रचलित हुई हैं।

इसके बाद उत्तरपुराणका स्थान है। इसमें जो मनुष्य शुक्लध्यानको नहीं प्राप्त होते उन सबको शूद्र कहा है। इस लक्षणके अनुसार इस पञ्चम कालमें चारों वर्णोंके जितने भी मनुष्य हैं वे सब शूद्र ठहरते हैं। इतना ही नहीं, चतुर्थकालमें जो मनुष्य शुक्लध्यानको नहीं प्राप्त हुए वे भी शूद्र ठहरते हैं। आचार्य गुणभद्रने शूद्रवर्ण और इतर तीन वर्णोंके मध्य भेदक रेखा शुक्लध्यानके आधारसे खींची है यह इसका तात्पर्य है। पण्डित प्रवर आशाधर जी इसी व्याख्याको प्रमाण मानते हैं।

उत्तरपुराणके बाद यशस्तिलकचम्पूका स्थान है। इसके कर्ता सोमदेवसूरिने स्पष्ट कह दिया है कि चार वर्ण और उनके कर्म यह सब लौकिक धर्म है और इसका आधार वेद और मनुस्मृति आदि ग्रन्थ हैं।

जैन आगममें मात्र अलौकिक धर्मका उपदेश है जो इससे सर्वथा भिन्न है। इतने विवेचनसे निष्कर्ष रूपमें जो तथ्य सामने आते हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. तीन वर्णोंके कर्मके विषयमें प्रायः सब आचार्य एकमत हैं। केवल पद्मपुराणके कर्ता आचार्य रविषेण वैश्योंका मुख्य कर्म शिल्प बतलाते हैं।

२. शूद्रवर्णके कर्मके विषयमें आचार्योंमें मतभेद है। वराङ्गचरितके कर्ता जटासिंहनन्दि और हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेन शिल्पको शूद्र वर्णका कर्म बतलाते हैं। तथा पद्मपुराणके कर्ता रविषेण और महापुराणके कर्ता जिनसेन नीच वृत्तिको शूद्रवर्णका कर्म बतलाते हैं। आचार्य जिनसेनने यह तो नहीं कहा कि विद्या और शिल्प ये शूद्र वर्णके कर्म हैं। किन्तु इनके द्वारा आजीविका करनेवालेको वे दीक्षाके अयोग्य बतलाते हैं इससे विदित होता है कि इन कर्मोंको करनेवालेको भी वे शूद्र मानते रहे हैं।

३. आचार्य गुणभद्र चारों वर्णोंके कर्मोंका निर्देश न कर केवल इतना ही कहते हैं कि जिनमें शुक्लध्यानके हेतु जातिनामकर्म और गोत्रकर्म पाये जाते हैं वे तीन वर्ण हैं और शेष सब शूद्र हैं। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भरत और ऐरावत क्षेत्रमें तीन वर्णोंकी सन्तति केवल चतुर्थ कालमें प्रचलित रहती है। इसलिए उनके मतानुसार तात्पर्य रूपमें यह मान सकते हैं कि इन क्षेत्रोंमें चतुर्थ कालके सिवा अन्य कालोंमें सब मनुष्य मात्र शूद्र होते हैं।

४. सोमदेव सूरि जैनधर्ममें वर्ण व्यवस्थाको स्वीकार ही नहीं करते। वे इसे लौकिक धर्म कहकर इसका सम्बन्ध वेद और मनुस्मृतिके साथ स्थापित करते हैं।

५. यह तो चार वर्णोंको स्वीकार करने और न करने तथा उनके कर्मोंके विषयमें मतभेदकी बात हुई। दूसरा प्रश्न वर्णोंको जन्मसे मानने और न माननेके विषयमें है। सो इस विषयमें एकमात्र महापुराणके कर्ता

जिनसेनको छोड़कर पूर्वोक्त शेष सब आचार्य वर्ण व्यवस्थाको जन्मसे न मानकर कर्मसे ही मानते हैं। श्रावकधर्म और मुनिधर्मकी दीक्षाके विषयमें भी यही हाल है। अर्थात् महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन एकमात्र यह मानते हैं कि शूद्र वर्णके मनुष्य श्रावकधर्म और मुनिधर्मकी दीक्षाके अयोग्य हैं। किन्तु पूर्ववर्ती और उत्तर कालवर्ती शेष आचार्य ऐसा नहीं मानते। सोमदेवसूरि और पण्डित प्रवर आशाधरजीने यदि शूद्रोंको दीक्षाके अयोग्य कहा भी है तो वह केवल सामाजिक दृष्टिसे ही मोक्षमार्गकी दृष्टिसे नहीं। उक्त समस्त कथनका निष्कर्ष यह है कि जैनधर्ममें वर्ण व्यवस्थाको रञ्चमात्र भी स्थान नहीं है। यदि जैनधर्मके अनुयायी लौकिक दृष्टिसे उसे स्वीकार भी करते हैं तो उसे कर्मके आधारसे ही स्वीकार किया जा सकता है, जन्मसे नहीं।

वर्ण और विवाह—

समाजमें विवाहका उतना ही महत्त्व है जितना अन्य कर्मोंका। जिस प्रकार आजीविकाकी समुचित व्यवस्था किये बिना समाजमें स्थिरता आनेमें कठिनाई जाती है उसी प्रकार स्त्रियों और पुरुषोंके परस्पर सम्बन्धका समुचित विचार किये विना स्वस्थ और सदाचारी समाजका निर्माण होना असम्भव है। मोक्षमार्गमें जहाँ भी ब्रह्मचर्य अणुव्रतका उल्लेख आया है वहाँ पर केवल इतना ही कहा गया है कि व्रती श्रावकको स्वस्त्रीसन्तोष या परस्त्रीत्यागका व्रत स्वीकार करना मोक्षमार्गकी सिद्धिमें प्रयोजक है। किन्तु वहाँपर स्वस्त्री किसे माना जाय और परस्त्री किसे इसका कोई विवेक नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि इसी व्रतके अतीचार प्रकरणमें 'विवाह' और 'परिगृहीत' शब्द आते हैं। इसलिए इस आधार से यह माना जा सकता है कि विवाहिता या परिगृहीता स्त्री ही स्वस्त्री हो सकती है, अन्य स्त्री नहीं। तो भी ब्रह्मचर्य अणुव्रतमें परविवाहकरणकी परिगणना अतीचार रूपसे की जानेके कारण विदित होता है कि विवाह

धर्मका अङ्ग न होकर सामाजिक व्यवस्थाका अङ्ग है। यद्यपि उत्तरकालीन सागारधर्मामृत और लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंमें कन्याके लक्षण, वरके लक्षण और स्वजातिमें विवाह आदि विधि-विधानोंका भी निर्देश किया गया है। तथा त्रिवर्णाचारमें इस पर एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा गया है। परन्तु इतने मात्रसे विवाहको मोक्षमार्गमें प्रयोजक चारित्रका अङ्ग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि महापुराणमें जैनधर्मका ब्राह्मणीकरण कर देनेके बाद ही चारित्रका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थोंमें विवाहके सम्बन्धमें इस प्रकारका विधि-विधान किया गया है। इसके पूर्वकालवर्ती आचार ग्रन्थोंमें नहीं।

इस विषयको और स्पष्टरूपसे समझनेके लिए पूजाका उदाहरण लीजिए। पूजाका दूसरा नाम कृतिकर्म है। इसका करना गृहस्थ और मुनि दोनोंके लिए आवश्यक है। प्रारम्भमें गृहस्थ पूजामें बाह्य जलादि द्रव्यका भी आश्रय लेता है। किन्तु जैसे जैसे वह बाह्य परिग्रहका त्याग करता जाता है वैसे वैसे वह बाह्य जलादि द्रव्यका आश्रय छोड़ता जाता है और अन्तमें वह भी मुनिके समान मन, वचन और कायके आश्रयसे पूजा करने लगता है। यह पूजाविधि है जो परम्परया मोक्षमें प्रयोजक होनेसे मोक्षमार्गका अङ्ग मानी जाती है। किन्तु इसप्रकार किसी भी शास्त्रकारने विवाहको मोक्षमार्गका अङ्ग नहीं बतलाया है। प्रत्युत यह एक हद तक कामवासना की तृप्तिका साधन होनेसे संसारका ही प्रयोजक माना गया है। परविवाहकरण अतीचार पर टीका करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजी कहते हैं कि 'जिसने स्वस्त्रीसन्तोष अणुव्रत या परस्त्रीत्याग अणुव्रत लिया है उसने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं अपनी स्त्रीके सिवा न तो अन्य स्त्रीके साथ मैथुनकर्म करूँगा और न कराऊँगा। ऐसी अवस्थामें परविवाहकरण और मैथुनकरण इनमें कोई फरक न रहनेसे व्रती श्रावकके लिए वह निषिद्ध ही है।' पण्डित जीके ये वचन वस्तुस्थितिके सूचक हैं। विवाह होने मात्रसे कोई ब्रह्मचर्याणु-व्रती नहीं मान लिया जाता। हिंसा न करने, झूठ न बोलने, चोरी न करने

और अर्थके अर्जन करनेके कुछ सामाजिक नियम हैं। यदि कोई गृहस्थ उन नियमोंको पालन करते हुए जिस प्रकार उस उस अणुव्रतको धारण करनेवाला नहीं हो जाता उसी प्रकार सामाजिक विधिके अनुसार केवल विवाह करने तथा उचित रीतिसे उसका पालन करनेमात्रसे कोई ब्रह्मचर्याणुव्रती नहीं हो जाता। पुराणोंमें खदिरभीलकी कथा आई है। अन्य मनुष्योंको मुनिवन्दनाके लिए जाते हुए देख कर वह भी उनके साथ मुनिवन्दनाके लिए जाता है। मुनिद्वारा सबको धर्मोपदेश देनेके बाद किसीने कोई व्रत लिया और किसीने कोई व्रत लिया। यह देख कर उसकी भी इच्छा व्रत लेनेकी होती है। वचनालाप द्वारा यह जान लेने पर कि इसने अपने जीवनमें काक पक्षीका वध कभी नहीं किया है, मुनिमहाराजने उसे जीवनपर्यन्तके लिए काक पक्षीके वध न करनेका ही नियम दिया। इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि जब तक किसी अपेक्षासे संयमको पुष्ट करनेवाली कोई विधि मोक्षमार्गके अभिप्रायसे नहीं स्वीकार की जाती तब तक वह धर्मका अङ्ग नहीं बन सकती। यही कारण है कि किसी भी आचार्यने विवाहको धार्मिक अनुष्ठानमें परिगणित नहीं किया है। इतना ही नहीं, व्रती श्रावकका 'स्व' का किया गया विवाह भी वैसे ही धार्मिक अनुष्ठान नहीं माना जायगा जैसे उसका धनका अर्जन करना या अणुव्रतोंकी मर्यादाके भीतर असत्य बोलना धार्मिक अनुष्ठान नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार विवाह एक सामाजिक प्रथा है यह ज्ञात हो जाने पर इस बातका विचार करना आवश्यक है कि समाजमें केवल सवर्ण विवाह ही मान्य रहे हैं या असवर्ण विवाहोंको भी वही मान्यता मिली है जो सवर्ण विवाहोंको मिलती आई है। हरिवंशपुराणमें कन्याका विवाह किसके साथ हो ऐसा ही एक प्रश्न वसुदेवका स्वयंवर विधिसे रोहिणीके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गसे उठाया गया है। वहाँ बतलाया है कि जब गायकके वेषमें उपस्थित वसुदेवके गलेमें रोहिणीने वरमाला डाल दी तब कुलीनता और अकुलीनताको लेकर

बड़ा हंगामा उठ खड़ा हुआ। स्वयंवर मण्डपमें उपस्थित हुए राजाओंमें तरह तरहकी बातें होने लगीं। कोई इसका समर्थन करने लगे और कोई इसे अपना पराभव मानने लगे। अन्तमें सबको क्षुभित देखकर वसुदेवने कहा कि 'स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या योग्य वरका वरण करती है। वहाँ कुलीनता और अकुलीनताका सवाल ही खड़ा नहीं होता। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो लोकमें कुलीन माना जाता है वह सुभग ही होता है और जो अकुलीन माना जाता है वह दुर्भग ही होता है। कुलीनता और अकुलीनताके साथ सौभाग्य और दुर्भाग्यका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतएव लोग शान्त हों।' हरिवंशपुराणके इस कथनसे विदित होता है कि प्राचीन कालसे ही विवाहमें योग्य सम्बन्धका विचार होता आया है, कुलीनताका नहीं।

यद्यपि पुराण साहित्यमें कुछ अपवादोंको छोड़ कर अधिकतर उदाहरण सवर्ण विवाहके ही मिलते हैं और एक दृष्टिसे ऐसा होना उचित भी है। किन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि समाजमें असवर्ण विवाह कभी मान्य ही नहीं रहे हैं तो उसका ऐसा विचार करना ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें सवर्ण विवाहके साथ असवर्ण विवाहके उदाहरण तो पाये ही जाते हैं। साथ ही ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि व्यभिचारजात कन्याके साथ विवाह होने पर भी न तो समाजमें कोई रुकावट डाली जाती थी और न उन दोनोंके धार्मिक अधिकार छिननेका ही प्रश्न खड़ा होता था।

हरिवंशपुराणमें चारुदत्त और वसन्तसेनाकी कथा आई है। वसन्तसेना वेश्या पुत्री होते हुए भी उसके साथ चारुदत्तने विवाह किया था। वहाँ वसन्तसेनाके द्वारा अणुव्रतधर्म स्वीकार करनेका भी उल्लेख है। इससे थोड़ी भिन्न एक दूसरी कथा उसी पुराणमें आई है। उसमें बतलाया है कि वीरक श्रेष्ठीकी स्त्री वनमालाको राजा सुमुखने बलात् अपने घरमें रख लिया और उसे पटरानी पद पर प्रतिष्ठित किया। कालान्तरमें उन दोनोंने

मुनिको विधिपूर्वक आहार देकर और पुण्यबन्ध कर उत्तम भोगभूमि प्राप्त की। लगभग इसी प्रकारकी एक कथा प्रद्युम्नचरितमें आती है। उसमें बतलाया है कि हेमरथ राजाकी पत्नी चन्द्रप्रभाको राजा मधुने बलात् अपहरण कर उसे पट्टरानी बनाया और कालान्तरमें दोनोंने मुनिधर्म और आर्यिकाके व्रत स्वीकार कर सद्गति पाई। ये ऐसे उदाहरण हैं जो अपने में स्पष्ट हैं। यहाँ पर अन्तके दो उदाहरण हमने केवल यह बतलानेके लिए उपस्थित किये हैं कि ऐसे व्यक्ति भी, जिन्होंने सामाजिक नियमोंका उल्लंघन किया है, धर्म धारण करनेके पात्र माने गये हैं। इससे धार्मिक विधि-विधानोंका सामाजिक रीति-रिवाजोंके साथ सम्बन्ध नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेपमें उक्त कथनका सार यह है कि मनुस्मृति आदि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें विवाहके जो नियम दिये गये हैं उन्हें महापुराणके समयसे लेकर जैन परम्परामें भी स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु इतने मात्रसे पूर्व-कालमें उन नियमोंका उसी रूपमें पालन होता था यह नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि विवाह सामाजिक प्रथा होनेसे देश, काल और परिस्थितिके अनुसार समाजकी सम्मतिपूर्वक उसमें परिवर्तन होता रहता है। महापुराणका यह वचन कि 'किसी कारणसे किसी कुटुम्बमें दोष लग जाने पर राजा आदिकी सम्मतिसे उसे शुद्ध कर लेना चाहिए।' इसी अभिप्रायको पुष्ट करता है।

स्पृश्यास्पृश्य विचार—

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि महापुराणके पूर्व कालवर्ती जितना जैन पुराण साहित्य उपलब्ध होता है उसमें शूद्रके स्पृश्य और अस्पृश्य ये भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। मात्र सर्वप्रथम महापुराणकी कुछ प्रतियोंमें पाये जानेवाले दो श्लोकोंमें शूद्रके इन भेदोंकी चरचा की गई

है। वहाँ गृहस्थ अवस्थामें राज्य पदका भोग करते हुए भगवान् ऋषभदेव के मुखसे कहलाया गया है कि कारु और अकारुके भेदसे शूद्र दो प्रकार के हैं। धोबी आदि कारु शूद्र हैं और उनसे भिन्न शेष सब अकारु शूद्र हैं। कारु शूद्र स्पृश्य और अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके हैं। जो प्रजासे बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं और नाई आदि स्पृश्य शूद्र हैं। शूद्र वर्णके इन भेदोंकी चरचा श्रुतसागर सूरिने षट्प्राभृतकी टीकामें की है। तथा त्रैवर्णिकाचारमें भी स्पृश्य शूद्रोंके कुछ भेद दृष्टिगोचर होते हैं! कहीं कहीं कारु शूद्रोंके भोज्य शूद्र और अभोज्य शूद्र इन भेदोंका भी उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह है कि महापुराणके बाद किसी न किसी रूपमें उत्तर-कालीन जैन साहित्यमें शूद्रवर्णके स्पृश्य और अस्पृश्य भेदोंको स्वीकार कर लिया गया है। साथ ही महापुराणमें शूद्रोंको यत्किञ्चित् जो भी धार्मिक अधिकार दिये गये हैं उनमें किसी किसीने और भी न्यूनता कर दी है। उदाहरणार्थ महापुराणमें शूद्रमात्रके लिए एक शाटकव्रतका उल्लेख है। किन्तु प्रायश्चित्तचूलिकाकार यह अधिकार सब शूद्रोंका नहीं मानते। वे कहते हैं कि कारुशूद्रोंमें जो भोज्य शूद्र हैं उन्हें ही क्षुल्लक व्रतकी दीक्षा देनी चाहिए। यहाँ यह स्मरणीय है कि महापुराणमें शूद्रवर्णके अवान्तर भेद राज्यपदका भोग करते हुए भगवान् ऋषभदेवके मुखसे कराये गये हैं और उन्हें एक शाटकव्रत तकका धर्माधिकार भरतचक्रवर्तीके मुखसे दिलाया गया है। यही कारण है कि महापुराणसे उत्तरकालमें जैन-धर्मके मर्मज्ञ गुणभद्र, सोमदेव और आशाधर प्रभृति जो भी कतिपय आचार्य और विद्वान् हुए हैं उन्होंने इस धार्मिक हस्तक्षेपको पूरे मनसे स्वीकार नहीं किया है। इतना ही नहीं, त्रैवर्णिकाचारके कर्ता सोमसेन भट्टारक तकको आगमविहित सत्यका अपलाप करनेमें असमर्थ होनेसे यह स्वीकार करना पड़ा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण क्रियाओंके भेदसे कहे गये हैं। जैनधर्मके पालन करनेमें दत्तचित्त ये सब बन्धुके समान हैं अर्थात् रत्नत्रयधर्मको पालन करनेकी दृष्टिसे इनमें नीच-ऊच-

पनका कोई भेद नहीं है। इस अर्थको व्यक्त करनेवाला त्रैवर्णिकाचारका वचन इस प्रकार है—

> विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
> जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥१४२॥ अ० ७॥

जो जिसकी प्रकृति नहीं होती है उसपर बाहरसे प्रकृतिविरुद्ध यदि कोई वस्तु थोपी जाती है तो उसका जो परिणाम होता है ठीक वही परिणाम जैनधर्मपर जन्मसे वर्णव्यवस्थाके थोपनेका हुआ है। किसी मनुष्यको मल-मूत्र साफ करते समय या चाण्डाल आदिका कर्म करते समय न छुआ जाय इसमें किसीको बाधा नहीं है। किन्तु इतने मात्रसे वह और उसका वंश सर्वदा अछूत बना रहे और वह धार्मिक अनुष्ठान द्वारा आत्मोन्नति करनेका अधिकारी न माना जावे इसे जैनधर्म स्वीकार नहीं करता। सोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतमें लिखा है कि जिनका आचार शुद्ध है; जो गृह, पात्र और वस्त्रादिकी शुद्धिसे युक्त हैं तथा स्नान आदि द्वारा जिन्होंने अपने शरीरको भी शुद्ध कर लिया है वे शूद्र होकर भी देव, द्विज और तपस्वियोंकी पूजा आदि कर्मको करनेके अधिकारी हैं। पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी सागारधर्मामृतमें इस सत्यको स्वीकार किया है। धर्म आत्माकी परिणति विशेष है। वह बाह्य शुद्धिके समय होता है और अन्य कालमें नहीं होता ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार किसी साधुके मल-मूत्र आदिके त्यागद्वारा शरीरशुद्धिके कालमें साधुधर्मका सद्भाव देखा जाता है उसी प्रकार वह रोगादि निमित्तवश या अन्य किसी कारणवश साधुके बाह्य मलसे लिप्त अवस्थामें भी देखा जाता है। वह बाह्य मलसे लिप्त है, इसलिए मुनिधर्म उससे छुटकारा पा लेता है और शरीर शुद्धिसम्पन्न है, इसलिए उसका मुनिधर्म पुनः लौट आता है ऐसा नहीं है। बाह्य शुद्धिको स्थान अवश्य है किन्तु उसकी एक मर्यादा है।

साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंमें अदन्तधावन और अस्नान ये दो मूलगुण बतलाये हैं। साधुको आहार लेनेके पूर्व या बादमें दाँतों और जिह्वाकी सफाई नहीं करनी चाहिए। भोजनके अन्तमें वह कुरला द्वारा उनकी सफाई करनेका भी अधिकारी नहीं है। जलादि जिस पदार्थको वह मुख द्वारा ग्रहण करता है उसका उपयोग वह जिह्वा आदिकी सफाईके लिए नहीं कर सकता। यदि भोजनके मध्यमें अन्तराय होता है तो वह अन्तिम जलको भी ग्रहण नहीं कर सकता। वह किसी भी अवस्थामें अँगुली, नख और तृणादि द्वारा दाँतोंमें लगे हुए मलको दूर नहीं कर सकता। इतना करने पर ही साधु द्वारा अदन्तधावन मूलगुणका पालन करना सम्भव माना जाता है। अस्नान मूलगुणके पालन करनेकी भी यही विधि है। मलके तीन भेद हैं—जल्ल, मल और स्वेद। जो मल शरीरके समस्त भागोंको ढक लेता है उसे जल्ल कहते हैं। पुरीष मूत्र, थूक और खखार आदिको मल कहते हैं तथा पसीनाको स्वेद कहते हैं। साधुका शरीर इन तीनों प्रकारके मलोंसे लिप्त होने पर भी वह स्नान नहीं करता। लोकमें जो पदार्थ अशुचि या अस्पृश्य माना जाता है उसका स्पर्श होने पर या शरीरसे संलग्न रहने पर साधु उसे दूर करनेके अभिप्रायसे भी स्नान नहीं करता यह उक्त कथनका तात्पर्य है। कितने ही साधु अपने लोकोत्तर उक्त गुणके कारण मलधारी देव इस उपाधिसे विभूषित किये गये। इसका भी यही कारण प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकमें जिसे बाह्य शुद्ध कहते हैं, साधुके जीवनमें उसके लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए यह तो सुनिश्चित है कि साधुके मनमें यह व्यक्ति या अन्य कोई पदार्थ स्पृश्य है और यह अस्पृश्य है ऐसा विकल्प ही नहीं उठ सकता और यह ठीक भी है, क्योंकि उसने लोकमें प्रसिद्ध लोकाचाररूप धर्मका परित्याग कर परिपूर्णरूपसे आत्मधर्मको स्वीकार किया है, इसलिए शरीरादिके आश्रयसे संस्कार करनेकी जितनी विधियाँ हैं उनका वह मन, वचन और कायसे पूरी तरह त्याग कर देता है।

यह तो मुनिधर्ममें बाह्यशुद्धिकी स्थिति है। अब गृहस्थधर्ममें बाह्य-शुद्धिको कहाँ कितना स्थान है इस पर विचार कीजिये। गृहस्थ धर्मकी कुल कक्षाएँ ग्यारह हैं। आर्यिका अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करती हैं, परन्तु उनका समावेश गृहस्थधर्मके अन्तर्गत होकर भी उन्हें एक शाटिका-मात्र परिग्रहको छोड़कर अन्य सब आचार मुनिके समान करना पड़ता है। वे भी मुनिके समान न स्नान करती हैं और न दतौन आदि द्वारा जिह्वा और दाँतोंको साफ करती हैं। जिस साड़ीको उन्होंने पहिना है उसे ही निरन्तर पहिने रहती हैं। वर्षा आदिके निमित्तसे उसके गीली हो जानेपर एकान्तमें उसे सुखा कर पुनः पहिन लेती हैं। तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ स्वीकृत एक साड़ीको छोड़कर अन्य किसी प्रकारका वस्त्र स्वीकार नहीं करतीं। स्वीकृत साड़ीके जीर्ण होकर फट जाने पर आचार्यकी अनुज्ञापूर्वक ही वे दूसरी साड़ीको स्वीकार करती हैं। यह आर्यिकाओंका शुद्धिसम्बन्धी लौकिक धर्म है। ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओंका शुद्धिसम्बन्धी लौकिक धर्म लगभग इसी प्रकारका है। यद्यपि इन तीनोंके मूलगुणोंमें अस्नानव्रत और अदन्तधावन व्रत सम्मिलित नहीं हैं, इसलिए ये इन व्रतोंका पूरी तरहसे पालन नहीं करते। परन्तु इतना अवश्य है कि इनमेंसे जिसके लिए एक या दो जितने वस्त्र स्वीकार करनेकी विधि बतलाई है वह उनसे अधिक वस्त्रोंको नहीं रखता। प्रथमादि प्रतिमासे लेकर दसवीं प्रतिमा तकके अन्य गृहस्थोंके लिए भी इसी प्रकार अलग-अलग जो नियम बतलाये हैं उन नियमोंके अन्तर्गत रहते हुए ही वे लौकिक धर्म-का आश्रय करते हैं। तात्पर्य यह है कि लोकाश्रित व्यवहारशुद्धि धर्मका आवश्यक अङ्ग नहीं है। वह तो जहाँ जितनी आत्माकी त्यागरूप निर्मल परिणतिरूप धर्मके रहते हुए अविरोधरूपसे सम्भव है, की जाती है। किन्तु उसके करनेसे न तो गुणोत्कर्ष होता है और नहीं करनेसे न गुणहानि होती है। वास्तवमें गुणोत्कर्ष और गुणहानिका कारण आत्माका निर्मल और मलिन परिणाम है। अतः जैनधर्ममें आत्माके अन्तरङ्ग परिणामोंकी

सम्हाल पर ही बल दिया गया है, स्नानादिरूप बाह्यशुद्धि पर नहीं। इस भावको व्यक्त करनेवाला यशस्तिलक चम्पूका यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः।
धर्मपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत्॥

आश्वास ८, पृ० ३७३।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दर्भ, पुष्प और अक्षत आदिसे की गई वन्दनादि विधि न तो धर्मके लिए होती है और दर्भ आदि द्वारा वन्दनादि विधि नहीं करना न अधर्मके लिए होती है उसी प्रकार स्नान आदि विधि न धर्मके लिए है और उसका नहीं करना अधर्मकारक भी नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकतर आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक प्रति दिन वस्त्र बदलते हैं। शरीरका स्नान आदि द्वारा संस्कार करते हैं। वस्त्रका प्रक्षालन स्वयं या अन्यके द्वारा कराते हैं, एकाधिक वस्त्र और चटाई आदि रखते हैं, कमण्डलु और चटाई आदिको लेकर चलनेके लिए गृहस्थ और भृत्य आदिका उपयोग करते हैं। इतना ही नहीं, उनके पास और भी अनेक प्रकारका परिग्रह देखा जाता है। परन्तु उनकी इस सब प्रवृत्तिको न तो उस पदके अनुरूप ही माना जा सकता है और न ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला व्यक्ति मोक्षमार्गी ही हो सकता है। एक प्रकारसे देखा जाय तो वर्तमानकालमें अधिकतर मुनि, आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक इस सबने अन्तरङ्ग परिणामोंकी तो बात छोड़िए, बाह्य आचार तकको तिलाञ्जलि दे दी है। साधुका गृहस्थोंका आमन्त्रण प्राप्तकर विवक्षित नगरादिके लिए गमन करना, जुलूस और गाजे-बाजेके साथ नगरमें प्रवेश करना, ऐसे स्थानपर, जहाँ सबका प्रवेश निषिद्ध है और जो अनावृत द्वार नहीं है, ठहरना, गृहस्थोंके द्वारा निर्दिष्ट स्थानपर मल और मूत्र आदिका विसर्जन करना तथा अपने साथ मोटर, साइकिल और भृत्य आदिको रखकर चलना यह सब मुनिधर्मकी विडम्बना नहीं है तो और क्या है? परन्तु वर्तमानमें यह सब चलता

है। गृहस्थ भी इन सब कार्योंमें खूब रस लेते हैं। यदि इन सब कार्योंको प्रोत्साहन देनेके लिए किसी साधु या त्यागीको साधन सम्पन्न गृहस्थ मिल जाते हैं तो कहना ही क्या है। इसे समयकी बलिहारी ही कहनी चाहिए। यहाँ पर इन सब बातोंके निर्देश करनेका हमारा अभिप्राय इतना ही है कि जहाँ हम बाह्यशुद्धिके नामपर धर्ममें विपरीतता लाये हैं वहाँ हमने और भी अनेक प्रकारकी विपरीतताओंको प्रश्रय देकर धर्मकी दिशा ही बदल दी है।

माना कि गृहस्थ स्नान करता है, मुख प्रक्षालन करता है, स्वच्छ-वस्त्र रखता है तथा सफाईके और भी अनेक कार्य करता है। किन्तु इतने मात्रसे उसके ये सब कार्य धर्म नहीं माने जा सकते। लौकिक शुद्धिका अर्थ ही बाह्य शुद्धि है जो आरम्भके बिना सम्भव नहीं है। इनके सिवा गृहस्थ आवश्यकतावश और भी अनेक प्रकारके आरम्भ करता है। वह व्यापार करता है, खेती-बाड़ी करता है, राज्य या सभा सोसाइटीका सञ्चालन करता है, विवाह करता है, सन्तानोत्पत्तिके लिए प्रयत्न करता है, अपनी सन्तानकी शिक्षा आदिका प्रबन्ध करता है, धन सञ्चयकर उसका संरक्षण करता है और नहीं मालूम कितने कार्य करता है तो क्या उसके इन सब कार्योंकी धर्म कार्योंमें परिगणना की जा सकती है ? यदि कहा जाय कि ये सब आरम्भ हैं। इनके करनेमें एक तो जीववध होता है और दूसरे ये मोक्षमार्गमें प्रयोजक न होकर संसारके ही बढ़ानेवाले हैं, इसलिए इन्हें करनेसे धर्मकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि यह बात है तो विचार कीजिए कि स्नान आदिको धर्म कैसे माना जा सकता है। अर्थात् नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि जिसे हम बाह्य शुद्धि कहते है उसका धर्म अर्थात् मोक्षमार्गके साथ रञ्चमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें जैनधर्मका मुख ही स्नान आदि आरम्भके त्यागकी ओर है। इसलिए स्नान आदिको धर्मसंज्ञा नहीं दी जा सकती है। यही कारण है कि गृहस्थधर्ममें भी जहाँ पर्व दिनोंमें उपवास आदिका विधान किया गया है

वहाँ स्नान आदिका पूरी तरहसे निषेध ही किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि मोक्षमार्गमें जिस प्रकार स्नान आदिके लिए कोई स्थान नहीं है उसी प्रकार छूत और अछूतपनके लिए भी कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जैनधर्म वर्णाश्रम धर्म नहीं है, इसलिए इसमें यह मनुष्य स्पृश्य है और यह मनुष्य अस्पृश्य है इसके लिए रञ्चमात्र भी स्थान नहीं हो सकता। तथा यह कारण बतलाकर किसीको धर्माधिकारसे वञ्चित भी नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मणवर्ण मीमांसा

ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्ति

पहले हम तीन वर्णोंकी मीमांसा कर आये हैं। एक चौथा वर्ण ब्राह्मण है। अन्य वर्णोंके समान इस वर्णका भी आगमसाहित्यमें और पुराण कालसे पूर्वके आचार ग्रंथोंमें नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। इस आधारसे यदि वर्णव्यवस्थाको जैन परम्परामें पुराणकालकी देन कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। पुराणोंमें सर्व प्रथम इसका नामोल्लेख आचार्य जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितमें किया है। वहाँ उन्होंने जन्मसे ब्राह्मणवर्णकी बड़े ही कठोर शब्दोंमें भर्त्सना करते हुए उनके जीवनका सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। जन्मसे कोई वर्ण हो सकता है इसके वे तीव्र विरोधी हैं। उनके मतसे लोकमें जो दयाका पालन करते हैं वे ही ब्राह्मण हैं। वराङ्गचरितके बाद क्रमसे पद्मपुराण हरिवंशपुराण और महापुराणका स्थान है। इन तीनों पुराणोंमें ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्ति लगभग एक प्रकारसे बतलाई गई है। इन पुराणोंके कथनका सार यह है कि दिग्विजयके बाद सुखपूर्वक राज्य करते हुए भरतचक्रवर्तीके मनमें एक बार जिनधर्मानुयायी गृहस्थोंका आदर-सत्कार करनेका विचार आया। तदनुसार

उसने देश-देशान्तरसे व्रती श्रावकोंको आमन्त्रित किया। तथा उनकी परीक्षाके लिए उसने मुख्य राजप्रसादके सामनेके प्रांगणमें जौ आदि धान्योंके नव अंकुर उत्पन्न कराये। भरतचक्रवर्तीने आमन्त्रणकी घोषणा गाँव-गाँव ढिंढोरा पिटवाकर कराई थी, इसलिए धनके लोभवश व्रती श्रावकोंके साथ बहुतसे अव्रती गृहस्थ भी चले आये। किन्तु जो अव्रती गृहस्थ थे वे तो हरित अंकुरोंको कूचते हुए राजप्रसादमें प्रवेश करने लगे और जो व्रती गृहस्थ थे वे बाहर ही खड़े रहे। यह देखकर भरतचक्रवर्तीने अव्रती गृहस्थोंको तो बाहर निकलवा दिया और व्रती गृहस्थोंको दूसरे मार्ग से भीतर बुलवाकर न केवल उन्हें दान सम्मानसे सम्मानित किया। किन्तु व्रती गृहस्थोंकी 'ब्राह्मण' इस नामवाली एक सामाजिक उपाधि स्थापित की और इस बातकी पहिचानके लिए कि ये रत्नत्रयधारी गृहस्थ हैं उन्हें हेमसूत्र या रत्नत्रय सूत्र नामक सामाजिक चिह्नसे चिह्नित किया। जैन पुराणोंके अनुसार यह ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्तिका संक्षिप्त इतिहास है।

ब्राह्मणवर्ण और उसका कर्म—

यह तो स्पष्ट है कि भरतचक्रवर्तीने जिन व्रती श्रावकोंको आमन्त्रितकर 'ब्राह्मण' इस नामकी उपाधि दी थी और दानादि सम्मानसे सम्मानित किया था वे इसके पूर्व क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्णके ही मनुष्य थे। 'ब्राह्मण' उपाधि मिलनेके बाद ही वे लोकमें ब्राह्मण कहे जाने लगे और अपनी पहिचानके लिए रत्नत्रयसूत्र धारण करने लगे थे। प्रकृतमें विचारणीय यह है कि वे इसके बाद भी पहलेके समान अपनी आजीविका करते रहे या भरतचक्रवर्तीने उनकी आजीविका भी बदल दी? जहाँतक वराङ्गचरित, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणसे इस प्रश्नका सम्बन्ध है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्रती श्रावकोंके लोकमें ब्राह्मण इस नामसे प्रसिद्ध हो जानेपर भी वे अपनी आजीविका असि आदि षट् कर्मसे ही करते रहे। इतने मात्रसे उनकी आजीविका नहीं बदल गई। वराङ्गचरित आदि उक्त

पुराणोंमें ब्राह्मणोंकी स्वतन्त्र आजीविकाका निर्देश नहीं करनेका यही कारण है। इतना अवश्य है कि भरत चक्रवर्तीके दृष्टान्त द्वारा आचार्य रविषेण और द्वितीय जिनसेन इतना अवश्य ही सूचित करते हैं कि व्रती श्रावकोंका अन्य गृहस्थोंको समय-समयपर दानादिके द्वारा उचित सम्मान अवश्य करते रहना चाहिए ताकि वे निराकुलतापूर्वक अपनी आजीविका करते हुए मोक्षमार्गमें लगे रहें। किन्तु महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन इस मतसे सहमत नहीं जान पड़ते। इस मामलेमें वे मनुस्मृतिका अनुसरण करते हुए उनकी आजीविकाके साधनरूपसे याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह इन तीन कर्मोंका अलगसे उल्लेख करते हैं। यहाँपर यह बात अवश्य ही ध्यानमें रखनी चाहिए कि यद्यपि ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्तिके समय तो महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन मात्र व्रती श्रावकोंको ब्राह्मणरूपसे स्वीकार करते हैं, किन्तु बादमें वे इसे भी एक स्वतन्त्र जाति मान लेते हैं। इसलिए उनके सामने अन्य जातियोंके समान इस जातिके स्वतन्त्र कर्मका प्रश्न खड़ा होना स्वाभाविक है और इसीलिए उन्होंने मनुस्मृतिके अनुसार ब्राह्मण जातिके याजन आदि कर्म बतलाये हैं। परन्तु इनके पूर्ववर्ती अन्य पुराणकारोंके सामने इस प्रकारकी विकट समस्या उपस्थित ही नहीं थी, क्योंकि उनके मतानुसार यदि कोई व्रतोंको स्वीकारकर ब्राह्मण कहलाने लगता है तो इतनेमात्रसे उसे अपनी पुरानी आजीविका छोड़नेका कोई कारण नहीं है। स्पष्ट है कि पद्मपुराण और हरिवंशपुराणके अनुसार ब्राह्मण यह संज्ञा लोकमें जन्म या कर्मके आधारसे प्रचलित न होकर व्रतोंके आधारसे प्रचलित हुई थी, अतः जैनमतानुसार ब्राह्मणवर्णका असि आदि छह कर्मोंके सिवा अन्य कोई स्वतन्त्र कर्म रहा है यह नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि यदि क्षत्रिय व्रतोंको स्वीकारकर ब्राह्मण बनता है तो वह असि कर्मसे अपनी आजीविका करता रहता है, यदि वैश्य व्रतोंको स्वीकारकर ब्राह्मण बनता है तो वह कृषि और वाणिज्य कर्मसे अपनी आजीविका करता रहता है और यदि शूद्र व्रतोंको स्वीकारकर ब्राह्मण

बनता है तो वह विद्या और शिल्पकर्म द्वारा अपनी आजीविका करता रहता है। ब्राह्मण स्वतन्त्र वर्ण न होकर क्षत्रियादि तीन वर्णोंके आश्रयसे है। केवल व्रतोंको स्वीकार करनेके कारण यह पद योजित किया गया है, अतः जैन मान्यतानुसार ब्राह्मणवर्णका क्षत्रियादि तीन वर्णोंके कर्मको छोड़कर अन्य स्वतन्त्र कोई कर्म नहीं हो सकता यही निश्चित होता है। भगवान् ऋषभदेवने आजीविकाके साधनरूप कर्म ही केवल छह बतलाये हैं। इससे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है।

एक प्रश्न और उसका समाधान—

महापुराणमें ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिके प्रसंगसे जो कथा दी गई है उसमें बतलाया गया है कि भरत महाराजने सब राजाओंके पास यह खबर भेजी कि आप लोग अलग-अलग अपने-अपने सदाचारी इष्ट अनुजीवियोंके साथ हमारे यहाँ होनेवाले उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिए आमन्त्रित किये जाते हैं। इस परसे बहुतसे विद्वान् यह अर्थ फलित करते हैं कि भरत महराजने केवल सब राजाओं और उनके सगे सम्बन्धियोंको ही आमन्त्रित किया था, शूद्रोंको नहीं। किन्तु उनका ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि अनुजीवी शब्दका अर्थ सगे सम्बन्धी न होकर आश्रित जन होता है। इसलिए मालूम पड़ता है कि भरत महराजने केवल राजाओं और उनके सगे सम्बन्धियोंको ही आमन्त्रित नहीं किया होगा। किन्तु राजाओंके आश्रयसे रहनेवाले जितने भी सदाचारी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे उन सबको आमन्त्रित किया होगा। महापुराणके पूर्व कालवर्ती पद्मपुराणमें बतलाया है कि मुनिजन अपने शरीरमें ही निस्पृह होते हैं, वे उद्दिष्ट आहारको भी ग्रहण नहीं करते यह जान कर भरत महराजने आदर सत्कार करनेके अभिप्रायसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंको आमन्त्रित किया। हरिवंश पुराणमें भी लगभग यह बात दुहराई गई है। इससे भी विदित होता है कि भरत महाराजने केवल सदाचारी क्षत्रियों या क्षत्रियों और वैश्योंको

ही आमन्त्रित नहीं किया होगा। किन्तु उस समय क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंमें जितने सम्यग्दृष्टि श्रावक होंगे उन सबको आमन्त्रित किया होगा। पद्मपुराण और हरिवंशपुराणसे तो इस बातका भी पता लगता है कि भरत महराजने यह आमन्त्रण राजाओंके पास न भेज कर सीधा जनतामें प्रचारित कराया था। अतः जिन्हें यह शंका है कि ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति केवल क्षत्रिय और वैश्योंमेंसे की गई थी उन्हें इस समाधान द्वारा अपने भ्रमको दूर कर लेना चाहिए। यह बात दूसरी है कि बादमें महापुराणकारने जन्मसे वर्णव्यवस्थाको स्वीकार कर जो व्रतोंको धारण करते हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं इस मान्यता पर एक प्रकारसे पानी ही फेर दिया है।

यज्ञोपवीत मीमांसा

महापुराणमें यज्ञोपवीत—

यज्ञोपवीत क्या है और उसे कौन वर्णका मनुष्य धारण करनेका अधिकारी है इस प्रश्नका विस्तृत विचार करनेवाला महापुराण प्रथम ग्रन्थ है। वहाँ इसे ब्रह्मसूत्र, रत्नत्रयसूत्र और यज्ञोपवीत आदि कई नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि सर्वज्ञदेव की आज्ञाको प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वह उसके व्रतोंका चिह्न है। वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है। तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणोंरूप जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है।[1] उन्होंने ब्राह्मणवर्ण की उत्पत्तिके प्रसङ्गसे यह भी लिखा है कि भरत महाराजने पद्मनामको निधिसे प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तक की संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामक सूत्रोंसे उन ब्राह्मणोंको चिह्नित किया।[2] इस

१. प० ३९, श्लो० ९४-९५। २. प० ३८, श्लो० २१।

द्वारा आचार्य जिनसेन यह सूचित करते हैं कि एक प्रतिमावाले ब्राह्मणको भरत महाराजने एक सूत्रसे चिह्नित किया और दो प्रतिमावाले ब्राह्मणको दो सूत्रोंसे चिह्नित किया। इसी प्रकार प्रतिमा क्रमसे एक एक सूत्र बढ़ाते हुए अन्तमें ग्यारह प्रतिमावाले ब्राह्मणको ग्यारह सूत्रोंसे चिह्नत किया। उपनीति क्रियाका कथन करनेके प्रसङ्गसे उन्होंने भरत महाराजके मुखसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्णवाले मनुष्य उपनीति आदि संस्कारोंके अधिकारी हैं यह कहला कर यह भी सूचित किया है कि ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करते समय भरत महाराजने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंमेंसे व्रती श्रावकोंको चुन कर ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी। किन्तु उन्हें उपदेश देते समय उन्होंने इस व्यवस्थाको समाप्त कर जन्मसे वर्णव्यवस्था स्वीकार कर ली। तदनुसार उन्होंने उपनीतिसंस्कारके आश्रयसे भरत महाराजके मुखसे ये नियम कहलवाये कि प्रथम ही जिनालयमें जाकर जिसने अर्हिन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालकको व्रत देकर उसका मौंजीबन्धन करना चाहिए। जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद धोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारोंसे रहित है तथा जो व्रतोंके चिन्हस्वरूप यज्ञपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहा गया है। उस समय उसका चारित्रोचित अन्य नाम भी रखा जा सकता है। उस समय बड़े वैभववाले राजपुत्रको छोड़कर सबको भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्रको भी नियोगवश अन्तःपुरमें जाकर किसी पात्रमें भिक्षा लेनी चाहिए। भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो उसका कुछ हिस्सा देवको अर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करना चाहिए[1]।' इसके कितने लरका यज्ञोपवीत होता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने व्रतचर्या संस्कारका निरूपण करते हुए कहा है कि उसका सात लरका गुथा हुआ यज्ञोपवीत होता है[2]।

---

१. पर्व ३८, श्लो० १०५–१०८। २. पर्व ३८, श्लो० ११२।

महापुराणमें व्रतावतार क्रियाका विवेचन करते हुए यह भी बतलाया है कि जब उक्त ब्रह्मचारी विद्याध्ययन कर चुकता है तब वह उन समस्त चिह्नोंको छोड़ देता है जो उसके व्रतचर्या क्रियाके समय पाये जाते हैं। इस परसे वहुतसे मनीषी यह आशंका करते हैं कि बादमें उसके यज्ञोपवीत भी नहीं पाया जाता। स्वयं आचार्य जिनसेनने इस सम्बन्धमें कुछ भी निर्देश नहीं किया है, इसलिए इस प्रकारकी शंका होना स्वाभाविक है। किन्तु दीक्षान्वय क्रियाओंमें भी एक उपनीति क्रिया कही गई है और उसमें यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे जैनधर्ममें नवदीक्षित हो और चाहे कुल परम्परासे जैनी हो, आचार्य जिनसेनके अभिप्रायानुसार यज्ञोपवीतका धारण करना द्विजमात्रके लिए आवश्यक है। पहले ब्राह्मण वर्णकी स्थापनाके समय भी आचार्य जिनसेनने यज्ञोपवीतका उल्लेख किया है। इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

प्रकृतमें विचारणीय यह है कि प्रत्येक गृहस्थ कितने लरका यज्ञोपवीत धारण करे, क्योंकि ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिका निर्देश करते समय तो आचार्य जिनसेनने भरत चक्रवर्तीके मुखसे यह कहलाया है कि जिस गृहस्थने जितनी प्रतिमाएँ स्वीकार की हों उसे उतने लरका यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए और आगे कर्त्रन्वय क्रियाओंका निर्देश करते समय उन्होंने तीन लरके यज्ञोपवीतका उल्लेख किया है, इसलिए प्रत्येक गृहस्थके मनमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इनमेंसे किस वचनको प्रमाण मान कर चला जाय? प्रश्न कुछ जटिल है और महापुराणमें इसका समाधान भी नहीं किया गया है। प्रत्युत दिखाई यह देता है कि जहाँ पर आचार्य जिनसेनको जो इष्ट प्रतीत हुआ वहाँ पर उन्होंने उसकी मुख्यतासे वर्णन कर दिया है। पूर्वापर अविरोधता कैसे बनी रहे इसका उन्होंने ध्यान नहीं रखा है। परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान कालमें जितने श्रावक हैं उनमेंसे एक भी श्रावक महापुराणमें प्रतिपादित विधिके अनुसार यज्ञोपवीत धारण नहीं करता। इसके विपरीत प्रायः तीन लरके यज्ञोपवीतका सर्वत्र

प्रचार देखा जाता है। तथा जो विवाहित गृहस्थ हैं वे एक अपना और एक अपनी पत्नीका इस प्रकार तीन-तीन लरके दो यज्ञोपवीत धारण करते हुए भी देखे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महापुराणके बाद प्रायः अधिकतर लेखकोंने यज्ञोपवीत और गर्भाधानादि क्रियाओंको स्वीकार कर लिया है। आचार्य जिनसेनके साथ उन सबके कथनका सार यह है कि पूजा करने और दान देनेका वही तीन वर्णका गृहस्थ अधिकारी है जिसने यज्ञोपवीतको धारण किया है।

पद्मपुराण और हरिवंशपुराण—

यज्ञोपवीतके पक्षमें महापुराण और उसके उत्तर कालवर्ती साहित्यका यह मत है। किन्तु इससे भिन्न एक दूसरा विचार और है जो महापुराणके पूर्वकालवर्ती पद्मपुराण और हरिवंशपुराणमें वर्णित है। इन दोनों पुराण ग्रन्थोंमें इसे यज्ञोपवीत नहीं कहा गया है। तीन वर्णके प्रत्येक मनुष्यको इसे धारण करना चाहिए यह भी इन पुराण ग्रन्थोंसे नहीं विदित होता। महापुराणमें गर्भान्वय आदि जिन क्रियाओंका विवेचन दृष्टिगोचर होता है उनकी इन पुराणकारोंको जानकारी थी यह भी इन पुराणोंसे नहीं जान पड़ता। भरत महाराजने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की यह मान्यता महापुराणसे पूर्व की है, इसलिए इसका उल्लेख इन पुराणोंमें अवश्य हुआ है। किन्तु व्रतोंका चिह्न मानकर सब ब्राह्मणोंको यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए इस मतसे ये पुराणकार सहमत नहीं जान पड़ते। उन्होंने इसका जो विवरण उपस्थित किया है वह बड़ा ही दिलचस्प जान पड़ता है। पद्मपुराणके कर्ता आचार्य रविषेण उसे मात्र आभूषण मानते हुए प्रतीत होते हैं। उनके इसके विषयमें कहे गये 'सरत्नेन चामीकरमयेन सूत्रचिह्नेन' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इन शब्दोंका अर्थ होता है—'रत्न युक्त स्वर्णमय सूत्रचिह्न'। विचार कीजिए, इन शब्दोंका फलितार्थ रत्न जटित स्वर्णमय हारके सिवा और क्या हो सकता है। आज-कल जब किसी

खास समारम्भमें सम्मिलित होनेके लिए निश्चित व्यक्ति आमन्त्रित किये जाते हैं तो उनके वस्त्रके अग्रभागमें सामनेकी ओर पदक आदि लगानेकी पद्धति है। पद्मपुराणके अनुसार ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करते समय भरत महराज द्वारा स्वीकार की गई पद्धति लगभग इसी प्रकार की जान पड़ती है। भरत महाराज सब प्रकारके साधनसम्पन्न देवोपनीत नौ निधियोंके स्वामी चक्रवर्ती राजा थे, इसलिए उन्होंने पदक आदिका उपयोग न कर उसके स्थानमें अपने अनुरूप रत्नजटित स्वर्णहारका उपयोग किया होगा यह सम्भव है। इससे अधिक इसे अन्य किसी प्रकारका महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यह आचार्य रविषेणके कथनका सार है।

हरिवंशपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनके कथनका फलितार्थ लगभग इसी प्रकारका है। किन्तु उसमें थोड़ा फरक है। वे इसे रत्नत्रयसूत्ररूपसे स्वीकार करके भी उसे न तो धागोंका बना हुआ मानते हैं और न स्वर्णसूत्र ही मानते हैं। वे मात्र इतना स्वीकार करते हैं कि भरत महाराजने काकणीरत्नके आश्रयसे सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको रत्नत्रयसूत्रसे चिह्नित किया। सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको यह चिह्नित करनेका कार्य क्या हो सकता है इस बातका निर्णय करनेके लिए हमें सर्व प्रथम काकणीरत्नके कार्यके ऊपर दृष्टिपात करना होगा। महापुराणमें ऐसे दो स्थल हमारी दृष्टिमें आये हैं जिनसे काकणी रत्नके कार्योंपर प्रकाश प्रड़ता है। प्रथम स्थल विजयार्ध पर्वतकी गुफामें प्रकाश करनेके प्रसंगसे आया है। वहाँ बतलाया है कि भरत महाराजकी आज्ञासे गुफाकी दोनों ओर की भित्तियों पर काकणीरत्न का आश्रय लेकर सूर्य और चन्द्र उकेरे गये[1]। दूसरा स्थान वृषभाचल पर्वत पर भरत महाराज द्वारा अपनी प्रशस्ति लिखानेके प्रसङ्गसे आया है। वहाँ काकणीरत्न द्वारा प्रशस्ति उकेरी गई यह बतलाया गया है[2]। ये दो प्रमाण हैं जो काकणी रत्नके कार्य पर प्रकाश डालते है। जिस

---

१. प० ३२, श्लो० १५। २ प० ३२, श्लो० १४१।

समय भरत महाराज सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको छाँट-छाँट कर अपने महलमें प्रवेश करानेमें लगे हुए थे उस समय वे उनके मस्तक आदि अङ्ग-विशेषमें काकणी रत्नके द्वारा रत्नत्रयके प्रतीकरूप तीन लकीरें उकेरते जाते होंगे। हरिवंशपुराणमें इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है उसका यही भाव प्रतीत होता है। जिस प्रकार भारतीय नारियाँ अपने हाथ आदिमें गुदना गुदाती हैं। या कोई शिवभक्त अपने मस्तक पर त्रिपुंड्रका चिह्न अङ्कित करा लेते हैं, हरिवंशपुराणके आधारसे भरत महाराज द्वारा की गई यह क्रिया लगभग इसी प्रकार की जान पड़ती है।

यह उक्त दोनों पुराणोंके कथनका सार है। इससे हमें एक नया प्रकाश मिलता है जिस पर अभी तक सम्भवतः बहुत ही कम विचारकोंका ध्यान गया है। इन उल्लेखोंके आधारसे हम यह मान सकते हैं कि भरत महाराजने ब्राह्मणवर्णकी स्थापना करते समय हार पहिनाने या तीन लकीरोंको उकीरने की जो भी क्रिया की होगी उसका महत्त्व तात्कालिक रहा होगा। मोक्षमार्गके अभिप्रायसे व्रतोंको स्वीकार करनेवाले गृहस्थको इसका किसी भी रूपमें अन्धानुकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। यज्ञोपवीत अपनेमें एक परिग्रह है। इसलिए व्रतोंके चिन्हरूपमें इसे धारण करनेका उपदेश त्रिकालमें नहीं दिया जा सकता। मालूम पड़ता है कि एकमात्र इसी अभिप्रायसे इन पुराणकारोंके मतानुसार भरत महाराजने व्रतोंके चिन्हरूपमें यज्ञोपवीतका विधान नहीं किया होगा।

निष्कर्ष—

यज्ञोपवीतके विषयमें परस्पर विरोधी ये विचार हैं जो जैनपुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जैन-परम्परामें यह विधि कभी भी प्रचलित नहीं रही है। केवल लोकरूढ़ि देखकर इसका कथन भरत महाराजके मुखसे कराया गया है। यज्ञोपवीतको जैनधर्ममें स्वीकार नहीं करनेका यह एक कारण तो है ही। साथ ही और भी अनेक कारण हैं

जिनको देखते हुए जैनधर्ममें यज्ञोपवीतको स्थान नहीं मिल सकता। खुलासा इस प्रकार है—

१. प्राचीन जैन साहित्यमें 'यज्ञ' शब्द न तो व्रतोंके अर्थमें आता है और न पूजाके अर्थमें ही उपलब्ध होता है। 'यज्ञ' इस शब्द द्वारा मुख्यतया ब्राह्मण धर्मके क्रियाकाण्डका ही बोध होता है। २. भगवान् ऋषभदेवने तीन वर्णकी स्थापना करते समय क्षत्रिय और वैश्योंको वर्णके चिह्नरूपसे यज्ञोपवीत धारण करनेका उपदेश नहीं दिया था। ३. प्रतिमाओंके कथन में और खासकर ग्यारहवीं प्रतिमाके कथनमें खण्डवस्त्र और लंगोटीके साथ यज्ञोपवीतका कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। ४. श्रावकके व्रतों को स्त्रियाँ और तिर्यञ्च भी धारण करते हैं। परन्तु उनके व्रतका चिह्न क्या हो इसका कहीं विधान देखनेमें नहीं आया। ५. गृहस्थ स्त्रियाँ देवपूजा करती हैं और मुनियोंको आहार भी देती हैं। यदि यज्ञोपवीतके बिना कोई गृहस्थ इन कार्योंको करनेका अधिकारी नहीं है तो उनसे ये कार्य कैसे कराये जाते हैं। ६. जिन प्रमुख प्राचीनतम पुराणोंमें यज्ञोपवीतका उल्लेख है वे इसके स्वरूप, कार्य और आकार आदिके विषयमें एकमत नहीं है। ७. तथा सोमदेवसूरि चार वर्णोंके कर्मके साथ यज्ञोपवीतविधिको लौकिक बतलाकर इसमें वेद और मनुस्मृति आदिको प्रमाण मानते हैं। धार्मिक विधिरूपसे वे इसका समर्थन तो छोड़िए, उल्लेख तक नहीं करते। ये व इसी प्रकार के और भी बहुतसे तथ्य हैं जो हमें यह माननेके लिए बाध्य करते हैं कि जैनधर्ममें मोक्षमार्गकी दृष्टिसे तो यज्ञोपवीतको स्थान है ही नहीं। सामाजिक दृष्टिसे भी इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसे धारण करना और इसका उपदेश देना मात्र ब्राह्मणधर्मका अन्धानुकरण है।

यह तो सुविदित बात है कि आजसे लगभग ३० वर्ष पूर्व उत्तर भारत और गुजरातमें यज्ञोपवीतका नाम मात्रको भी प्रचार नहीं था। कुछ व्रती श्रावकोंके शरीरपर ही इसके कभी कभी दर्शन हो जाते थे। दक्षिण भारतमें भी इसका सार्वत्रिक प्रचार था यह भी नहीं कहा जा सकता। न

तो श्रावकोंकी इसके प्रति आस्था ही थी और न वे इसे पहिनना आवश्यक ही मानते थे। इसके सार्वत्रिक प्रचारका कारण वर्तमान साधु समाज और कुछ पण्डित ही हैं। उन्होंने ही श्रावकोंके मनमें यह धारणा पैदा की है कि जो श्रावक यज्ञोपवीत धारण नहीं करता वह न तो साधुको आहार देनेका अधिकारी है और न जिनेन्द्रदेवकी पूजा ही कर सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभी साधु और पण्डित यज्ञोपवीतके पक्षपाती हैं। आचार्य सूर्यसागर महाराज इस कालमें सबसे महान् आचार्य हो गये हैं। उन्होंने मोक्षमार्गमें इसे कभी भी उपयोगी नहीं माना है। बहुतसे विचारक पण्डितोंका भी यही मत है।

अबसे लगभग ३०० वर्ष पहिले नाटक समयसार आदि महान् ग्रन्थोंके रचयिता पण्डितप्रवर आशाधरजी हो गये हैं। उन्होंने 'अर्धकथानक' नामकी एक पद्यबद्ध आत्मकथा लिखी है। उसमें उन्होंने अपनी मुख्य-मुख्य जीवनघटनाएँ लिपिबद्ध की हैं। उसके अनुसार एक बार वे अपने एक मित्र और श्वसुरके साथ भटक कर एक चोरोंके गाँवमें पहुँच गये। वहाँ रक्षाका और कोई उपाय न देख कर उन्होंने रात्रिको ही धागा बँट कर यज्ञोपवीत पहिन लिए और माटीका तिलक लगा कर ब्राह्मण बन गये। जिन शब्दोंमें उन्होंने इस घटनाको चित्रित किया है यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

'सूत काढ़ि डोरा बट्यो, किए जनेऊ चारि।
पहिरे तीनि तिहूँ जने, राख्यो एक उबारि॥
माटी लीनी भूमिसों, पानी लीनो ताल।
विप्र भेष तीनों बनें, टीका कीनों भाल॥

ये उनके शब्द है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत जैन परम्परामें कभी भी स्वीकृत नहीं रहा है और यह उचित भी है, क्योंकि मोक्षमार्गमें इसका रञ्चमात्र भी उपयोग नहीं है। तथा जिससे समाजमें ऊँच-नीचका भाव बद्धमूल हो ऐसी समाजिक व्यवस्थाको भी जैनधर्म स्वीकार नहीं करता।

जिनदीक्षाधिकार मीमांसा

आगम साहित्य—

भगवान् महावीर स्वामीकी वाणीका मूल अंश जो कुछ भी बच सका वह षट्खण्डागम और कषायप्राभृतमें सुरक्षित है इस तथ्यको सब आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। साहित्यिक दृष्टिसे तो इनका महत्त्व है ही, जीवन निर्माणमें भी इनका बड़ा महत्त्व है। चौदह मार्गणाएँ, चौदह गुणस्थान, संयमस्थान, संयमासंयमस्थान, सम्यक्त्व, जीवोंके भेद-प्रभेद, कर्मोंके भेद-प्रभेद और उनका उदय, उदीरणा, संक्रमण, अपकर्षण, बन्ध और सत्त्व आदि विविध अवस्थाएँ तथा कर्मोंकी क्षपणा आदि प्रक्रिया आदि विविध विषयोंको ठीक रूपसे हम इनके आधारसे ही जान पाते हैं। अन्धकारमें भटकनेवाले मनुष्यको प्रकाशकी उपलब्धिसे जो लाभ होता है वही लाभ हम संसारी जन इन महान् आगमग्रन्थोंके स्वाध्याय, मनन और अनुभवनसे उठाते हैं। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि वर्तमानकालमें जैनधर्मका सही प्रतिनिधित्व करनेवाला एकमात्र यही मूल साहित्य है। यह वह कसौटी है जिसपर हम तदितर साहित्यको कसकर खरे और खोटेका ज्ञान कर सकते हैं। इस प्रकार आगमसाहित्यमें जहाँ जैनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जीवादि तत्त्वोंपर विविध प्रकारसे प्रकाश डाला गया है वहाँ मोक्षमार्गके अङ्गभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके अधिकारी कौन-कौन जीव हैं, यह बतलाते हुए लिखा है कि जिसका संसारमें रहनेका अधिकसे अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल शेष है और जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त है उसके यदि देशनालब्धि आदि चार लब्धियोंपूर्वक करणलब्धि होती है तो सर्वप्रथम वह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। यदि वह जीव कर्मभूमिज तिर्यञ्च है तो संयमासंयमको और कर्मभूमिज मनुष्य है तो संयमासंयम या संयमको भी उत्पन्न कर सकता है। इतना अवश्य है कि

इन भावोंको उत्पन्न करनेवाला यदि मनुष्य है तो उन्हें उत्पन्न करते समय उसकी आयु आठ वर्षकी अवश्य होनी चाहिए। इससे कम आयुवाले मनुष्यको संयमासंयम और संयमधर्मकी प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्वके लिए यह नियम है कि यदि पर्यायान्तरसे वह साथमें आया है तो यह नियम लागू नहीं होता। किन्तु यदि वर्तमान पर्यायमें उसे उत्पन्न किया है तो उसे उत्पन्न करते समय भी उसकी आयु आठ वर्षकी अवश्य होनी चाहिए। किन्तु संसारमें रहनेका काल कमसे कम शेष रहनेपर यह जीव सम्यग्दर्शनादिको उत्पन्न करता है तो पूर्वोक्त अन्य नियमोंके साथ उसका मनुष्य होना आवश्यक है। ऐसा मनुष्य अन्तर्मुहूर्तके भीतर इन सम्यग्दर्शन आदिको उत्पन्न कर मोक्षका अधिकारी होता है। आगम साहित्यमें इन भावोंको उत्पन्न करनेके लिए उक्त नियमोंके सिवा अन्य कोई नियम नहीं बतलाये गये हैं। इतना अवश्य है कि आगम साहित्यमें जिन मनुष्यादि पर्यायोंमें इन भावोंकी उत्पत्ति होती है उनका विचार आध्यात्मिक दृष्टिसे किया गया है, शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे नहीं, इसलिए अध्यात्मके अनुरूप शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करनेवाले छेदशास्त्र आदि चरणानुयोगके ग्रन्थोंमें बतलाया गया है कि कर्मभूमिज मनुष्योंमें भी जो शरीरसे योनि आदि अवयववाले मनुष्य हैं जिन्हें कि लोकमें स्त्री कहते हैं और योनि व मेहन आदि व्यक्त चिह्नोंसे रहित जो मनुष्य हैं जिन्हें कि लोकमें हिजड़ा व नपुंसक कहते हैं, इन दोनों प्रकारके मनुष्योंको सम्यक्त्व और संयमासंयमभावकी प्राप्ति तो हो सकती है। किन्तु इन्हें उस पर्यायमें रहते हुए संयमभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यह मूल आगम साहित्य व उसके अङ्गभूत साहित्यका अभिप्राय है। इसमें वस्तुभूत आध्यात्मिक योग्यता और शारीरिक योग्यताके आधारसे ही विचार किया गया है। चार वर्णसम्बन्धी लौकिक मान्यताके आधारसे नहीं, क्योंकि वह न तो जीवनकी आध्यात्मिक विशेषता है और न शारीरिक विशेषता ही है। आजीविका आदि लौकिक व्यवहारके

लिए कल्पित होनेसे वह वस्तुभूत नहीं है, इसलिए उसके आधारसे वहाँ विचार होना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि चार वर्ण सम्बन्धी मान्यता ऐसी है जो कभी लोकमें प्रचलित रहती है और कभी नहीं भी रहती है। मनुष्यादिगतिसम्बन्धी जो आध्यात्मिक योग्यता है और योनि-मेहन आदि सम्बन्धी जो शारीरिक योग्यता है वह किसीके मिटाये नहीं मिट सकती। यदि कोई ऐसा आन्दोलन करे कि हमें मनुष्यों और तिर्यञ्चोंको जातियोंको मिटा कर एक करना है या स्त्री-पुरुष भेद मिटा कर एक करना है तो ऐसा कर सकना आन्दोलन करनेवालोंके लिए सम्भव नहीं है। पर इसके स्थानमें कोई ऐसा आन्दोलन करे कि आगे चार वर्ण नहीं चलने देना है या चारके स्थानमें तीन, दो या एक वर्ण रखना है या मनुष्योंकी आजीविका आदि की व्यवस्था अन्य प्रकारसे करनी है तो आन्दोलन करनेवाले इस योजनामें सफल हो सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यादि-गतिसम्बन्धी आध्यात्मिक योग्यता और योनि-मेहन आदि शारीरिक योग्यता के समान चार वर्णोंकी मान्यता वास्तविक नहीं है। इसलिए किस वर्णवाला मनुष्य कितने संयमको धारण कर सकता है इसका विचार आगम साहित्यमें न तो किया ही गया है और न किया ही जा सकता है।

इस विषयको थोड़ा इस दृष्टिसे भी देखिए। षट्खण्डागम जीवस्थान चूलिकाअनुयोगद्वारमें गत्यागतिका विचार करते हुए जिस प्रकार देवगतिसे आकर मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए जीवमें संयमासंयम और संयम आदिको धारण करनेकी पात्रताका निर्देश किया है उसी प्रकार नरकगतिसे आकर मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए जीवमें भी संयमासंयम और संयम आदिको धारण करनेकी पात्रताका भी निर्देश किया है। जिन्होंने आगमका अभ्यास किया है वे यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि नरकमें अशुभ तीन लेश्याएँ और ऊपरके देवोंमें शुभ तीन लेश्याएँ पाई जाती हैं। तथा नारकी जीव पापबहुल और कल्पवासी देव पुण्यबहुल होते हैं। एक यह भी नियम है कि नरकसे निकलकर मनुष्यगतिमें आनेपर अन्तर्मुहूर्त कालतक वही

लेश्या बनी रहती है। किसी हदतक यही नियम देवपर्यायसे आनेवालेके लिए भी है। अब विचार कीजिए कि वर्तमानमें जो चार वर्णोंकी व्यवस्था चल रही है उसके आधारसे नरकसे निकलनेवाला वह पापबहुल अशुभ लेश्यावाला जीव महापुराणके अनुसार किस वर्णमें उत्पन्न होगा और देवपर्यायसे निकलनेवाला वह पुण्यबहुल शुभ लेश्यावाला जीव किस वर्णमें उत्पन्न होगा। संयमासंयम या संयमको दोनों ही प्राप्त करनेवाले हैं। किन्तु नरक और देवगतिमें दोनों ही मिथ्यादृष्टि रहे हैं। आगममें यह नियम तो अवश्य किया है कि नरकसे निकलकर कोई जीव नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं होता। यह नियम भी किया है कि नरक और देवगतिसे निकलकर कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च ही होता है। साथ ही देवोंके लिए यह नियम भी किया है कि दूसरे कल्पतकके देव एकेन्द्रिय भी होते हैं। किन्तु वहाँ यह नियम नहीं किया है कि नरक या स्वर्गसे निकलनेवाला अमुक योग्यतावाला जीव तीन वर्णमें उत्पन्न होता है और अमुक योग्यतावाला जीव शूद्रवर्णमें उत्पन्न होता है, इसलिए संसारी छद्मस्थ प्राणियों द्वारा कल्पित इन वर्णोंके आधारसे मोक्षमार्ग सम्बन्धी किसी भी प्रकारकी व्यवस्था बनाकर उसको प्रमाण मानना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि यही मान लिया जाता है कि पापी और अशुभलेश्यावाले जीव शूद्र होते हैं तथा पुण्यात्मा और शुभलेश्यावाले जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होते हैं तो विचार कीजिए, नरकसे निकलनेवाला वह अशुभ लेश्यावाला पापी जीव जो संयमको धारण कर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला है शूद्रवर्णमें उत्पन्न होगा या नहीं? इसके साथ सम्भव होनेसे इतना और मान लीजिए कि अपनी जवानीकी अवस्थामें वह अञ्जनचोरके समान सातों व्यसनोंका सेवन करेगा और जिनागमके मार्गसे दूर भागनेका प्रयत्न करेगा। किन्तु जीवनके अन्तमें काललब्धि आनेपर एक क्षणमें सन्मार्गपर लगकर बेड़ा पार कर लेगा। यदि कहा जाता है कि ऐसा जीव शूद्रवर्णमें उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न होगा तो

तीन वर्ण उत्तम हैं और शूद्रवर्ण निकृष्ट है यह किस आधारसे माना जाय। यदि यह कहा जाता है कि ऐसा जीव शूद्रवर्णमें ही उत्पन्न होगा तो शूद्रवर्णवाला मनुष्य संयमको धारणकर मोक्ष नहीं जा सकता इस मान्यताको स्थान कैसे दिया जा सकता है ? यह कहना कि ऐसा जीव पाप-बहुल और अशुभ लेश्यावाला होकर भी आगे संयमको धारणकर मोक्ष जानेवाला है, इसलिए वह तीन वर्णके मनुष्योंमें ही उत्पन्न होगा, कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका नियामक कोई आगम वचन नहीं उपलब्ध होता। दूसरे तीन वर्णके मनुष्य ही मोक्ष जाते हैं यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि जो म्लेच्छ वर्णव्यवस्थाको ही स्वीकार नहीं करते वे भी संयमको धारणकर मोक्ष जाते हैं यह माना गया है। तथा जिस जातिमें लौकिक कुलशुद्धिका कोई नियम नहीं है उस जातिका मनुष्य मुनि रूपसे लोकमान्य होता हुआ वर्तमान कालमें भी देखा गया है। इसलिए स्पष्ट है कि आगम साहित्यमें संयमासंयम और संयमको धारण करनेके जो नियम बतलाये हैं वे अपनेमें परिपूर्ण हैं। उनमें न्यूनाधिकता करना चक्रवर्ती राजाकी बात तो छोड़िए, सकल संयमको धारण करनेवाले छद्मस्थ साधुके अधिकारके बाहरकी बात है। नियम तो केवली भगवान् भी नहीं बनाते। वे तो वस्तुमर्यादाका उद्घाटनमात्र करते हैं। इसलिए उनके विषयमें भी यह कहना समीचीन होगा कि वे भी उन नियमोंको न्यूनाधिक नहीं कर सकते, क्योंकि जो एक केवलीने देखा और कहा है वही अनन्त केवलियोंने देखा और कहा समझना चाहिए। सोमदेवसूरिके द्वारा आगमाश्रित जैनधर्मको अलौकिक धर्म कहनेका भी यही कारण है ?

आचार्य कुन्दकुन्द और मूलाचार—

यह आगम साहित्यका अभिप्राय है। इसके उत्तरकालवर्ती आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्य और मूलाचारका अभिप्राय भी इसी प्रकारका है। प्रवचनसारका चारित्र अधिकार, नियमसार और मूलाचार ये चरणानुयोगके

मौलिक ग्रन्थ हैं, इसलिए इनका महत्त्व और भी अधिक है। इनमें प्रधानतासे मुनि-आचारका ही प्रतिपादन किया गया है। भावप्राभृतमें यह गाथा आई है—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताइ य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

यह गाथा भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्गके अन्योन्य सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। भावलिङ्गकी प्राप्ति मिथ्यात्व आदि अन्तरङ्ग परिणामोंके त्याग से होती है और द्रव्यलिङ्गकी प्राप्ति मुनि पदके योग्य अन्तरङ्ग परिणामोंके साथ वस्त्रादिके त्यागपूर्वक बाह्य लिङ्गको धारण करनेसे होती है। लोकमें यह कहा जाता है कि पहले दीपक जलाओगे तभी तो प्रकाश होगा। यदि दीपक ही नहीं जलाओगे तो प्रकाश कहाँसे होगा। यह मानी हुई बात है कि दीपक जलाना और प्रकाशका होना ये दोनों कार्य एक साथ होते हैं। फिर भी इनमें कार्य-कारण भाव होनेसे यह कहा जाता है कि पहले दीपक जलाओगे तभी प्रकाश होगा। आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त गाथा द्वारा यही भाव व्यक्त किया है। वे अन्तरङ्ग संयमरूप परिणामको कारण और बाह्य लिङ्ग धारणको उसका कार्य बतलाकर यह प्रकट करना चाहते हैं कि बाह्य लिङ्ग तभी मुनिलिङ्ग माना जा सकता है जब उसके साथ अन्तरङ्गमें संयमरूप परिणाम हों। अन्यथा केवल द्रव्यलिङ्गको धर्म अर्थात् मोक्षमार्गमें कोई स्थान नहीं है।

इतने विवेचनसे दो बातें सामने आती हैं—एक भाव संयमकी, जिसका विवेचन आगम साहित्यमें विस्तारके साथ किया गया है और दूसरी भाव संयमके साथ होनेवाले द्रव्यसंयम की, जिसका विचार प्रवचनसार और मूलाचार आदिमें किया गया है। यह तो सिद्धान्त है कि अन्य द्रव्यको न कोई ग्रहण करता है और न कोई छोड़ता है। केवल यह जीव अन्य द्रव्य को ग्रहण करने और छोड़नेके भाव करता है। यह जीव अपने भावोंका

स्वामी है, इसलिए उन्हींका कर्ता हो सकता है। अज्ञानी अवस्थामें वह अज्ञानमय भावोंका कर्ता बनता है और ज्ञानी होने पर वह ज्ञानमय भावों का कर्ता होता है। ऐसी वस्तु-व्यवस्था है। इसके रहते हुए उपचारसे यह कहा जाता है कि इसने अन्य द्रव्यको ग्रहण किया, इसने अन्य द्रव्यको छोड़ा। अन्य द्रव्यको छोड़ा इसका आशय इतना ही है कि अब तक इसकी अन्य द्रव्यमें जो स्वामित्वकी बुद्धि बनी हुई थी उसका त्याग किया। प्रकृतमें भावसंयमकारणक द्रव्यसंयम होता है ऐसा कहनेका भी यही अभिप्राय है। आचार्य कुन्दकुन्द और वट्टकेर स्वामीने इस सम्यक् अभिप्रायको समझकर प्रवचनसार और मूलाचारमें द्रव्यलिङ्गकी व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जब यह जीव भावसंयमके सम्मुख होता है तब उस भावको अपने कुटुम्बियों और इष्टमित्रोंके समक्ष प्रकटकर उनकी सम्मतिपूर्वक घरसे विमुख हो आचार्यकी शरणमें जाकर उनके समक्ष अपने उत्कृष्ट भावलिङ्गके साथ द्रव्यलिङ्गको प्रकट करता है। चरणानुयोगमें मुनिलिङ्गको प्रकट करनेकी यह पद्धति है। इसके बाद साधुका आचार-व्यवहार किस प्रकारका होता है इसका विचार उक्त आचार ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ किया गया है।

यह तो मानी हुई बात है कि जिसके भव्यत्व भावका विपाक होता है वह जीव अन्तरङ्ग परिणामोंके होनेपर सम्यक्त्व आदिको धारण करनेका अधिकारी होता है। ऐसा जीव यदि देव, नारकी भोगभूमिज तिर्यञ्च और भोगभूमिज मनुष्य होता है तो उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त तिर्यञ्च होता है तो उसके सम्यग्दर्शन या इसके साथ संयमासंयम भाव प्रकट होता है और यदि कर्मभूमिज गर्भज मनुष्य होता है तो उसके सम्यग्दर्शन या इसके साथ संयमासंयम या संयमभाव प्रकट होता है। इसके लिए इसे इक्ष्वाकु आदि कुलमें और ब्राह्मण आदि जातियोंमें उत्पन्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रवचनसार, नियमसार और मूलाचारमें किस कुल, वर्ण

और जातिवालेको सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है और किस कुल, वर्ण और जातिवालेको इसकी प्राप्ति नहीं होती इसका उल्लेख नहीं होनेका यही कारण है। कुल और जातिका जहाँ प्रसङ्ग आया है उनका आचार्य कुन्दकुन्द आदिने निषेध ही किया है।

इन ग्रन्थोंके बाद रत्नकरण्डका स्थान है। उसमें मुख्यरूपसे गृहस्थ धर्मका प्रतिपादन किया गया है। उसका समग्ररूपसे अवलोकन करनेपर भी यही निश्चय होता है कि जैनपरम्परामें मोक्षमार्गमें कुल, वर्ण और जातिको कोई स्थान नहीं है। इसी कारणसे उसमें मुनिदीक्षाके प्रसङ्गसे वर्ण और जातिका नामोल्लेख न करके केवल इतना ही कहा गया है कि मोहरूपी अन्धकारका अभाव होनेपर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति पूर्वक सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ साधु पुरुष हिंसादिके त्यागरूप सम्यक्चारित्रको प्राप्त होता है।

व्याकरण साहित्य—

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्रके काल तक दिगम्बर जैन परम्परा अपने मूलरूपमें आई है। आचार्य पूज्यपादके सर्वार्थसिद्धि आदि धार्मिक साहित्यका अवलोकन करनेसे भी यही निष्कर्ष निकलता है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद अपने कालके बहुत बड़े आगमज्ञ आचार्य हो गये हैं। तभी तो उनके मुखसे वे वचन प्रकाशमें आये थे जिनके द्वारा जाति और लिङ्गकी तीव्रतासे निन्दा की गई है। इतना ही नहीं, उन्होंने इन वचनों द्वारा जाति और लिङ्गके विकल्प करने मात्रको मोक्ष-मार्गका परिपन्थी बतलाया है। इस प्रकार एक ओर मोक्षमार्गमें उपयोगी पड़नेवाले उनके साहित्यकी जहाँ यह स्थिति है वहाँ उनके व्याकरणमें 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम्' सूत्रको पढ़कर आश्चर्य होता है। वर्तमान कालमें जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठ उपलब्ध होते हैं—एक महावृत्तिमान्य और दूसरा शब्दार्णवमान्य। दोनों सूत्रपाठोंमें जितना अधिक साम्य है उतना ही अधिक वैषम्य भी है। कुछ विद्वान् महावृत्तिमान्य सूत्रपाठको प्रमुख स्थान

देते हैं। किन्तु शब्दार्णवके समान महावृत्तिका रचनाकाल ही बहुत बादका है और यह काल जातिवादके आधारपर जैन साहित्यमें नई धारणाओं और मान्यताओंके प्रवेशका रहा है, इसलिए महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दिको अविकलरूपमें मूल सूत्रपाठ उपलब्ध हो गया होगा यह कह सकना बहुत कठिन है। इतना स्पष्ट है कि यह सूत्र दोनों सूत्रपाठोंमें समानरूपसे पाया जाता है, इसलिए अनेक विपरीत कारणोंके रहते हुए यह कह सकना सम्भव नहीं है कि सूत्रपाठमें इसका समावेश अन्य किसीने किया होगा या लौकिक धर्मके निर्वाहके लिए आचार्य पूज्यपादने स्वयं इसकी रचना की होगी। फिर भी कुछ तथ्योंको देखते हुए हमारा मत इस पक्षमें नहीं है कि महावृत्ति और शब्दार्णवमें जिस रूपमें यह सूत्र उपलब्ध होता है, आचार्य पूज्यपादने इसकी उसी रूपमें रचना की होगी। कारणोंका विचार आगे करनेवाले हैं। जो कुछ भी हो, इस आधारसे कुछ विद्वान् अधिकसे अधिक यह धारणा बना सकते हैं कि आचार्य पूज्यपादके कालमें जैन परम्परामें इस मान्यताको जन्म मिल चुका था कि शूद्रवर्णके मनुष्य मुनिदीक्षाके अधिकारी नहीं हैं। परन्तु न तो आचार्य पूज्यपादने ही इस मान्यताको धर्मशास्त्रका अङ्ग बनानेका प्रयत्न किया और न महापुराणके रचयिता आचार्य जिनसेनने ही इसे सर्वज्ञकी वाणी बतलाया। आचार्य पूज्यपादने तो इसे अपने व्याकरण ग्रन्थमें स्थान दिया और आचार्य जिनसेनको अन्य कोई आलम्बन नहीं मिला तो भरत चक्रवर्तीके मुखसे इसका प्रतिपादन कराना इष्ट प्रतीत हुआ। इस स्थितिके रहते हुए भी हैं ये उल्लेख मोक्षमार्गकी प्रक्रियासे अनभिज्ञ अल्प प्रज्ञावाले मनुष्योंके चित्तमें विडम्बनाको पैदा करनेवाले ही।

अब थोड़ा शब्द शास्त्रकी दृष्टिसे इसके इतिहासको देखिए। वर्तमान कालमें जितने व्याकरण उपलब्ध होते हैं उनमें पाणिनि व्याकरण सबसे पुराना है। ईसवी पूर्व ५वीं शताब्दी इसका रचनाकाल माना जाता है। इसमें एक सूत्र आता है—

शूद्राणामनिरवसितानाम् ॥२।४।१०॥

इसका शब्दार्थ है—'अनिरवसित शूद्रवाची शब्दोंका द्वन्द्वसमासमें एकवद्भाव होता है।' मालूम पड़ता है कि पाणिनि कालमें शूद्र दो प्रकार के माने जाते थे—अनिरवसित शूद्र और निरवसित शूद्र। पाणिनिने यहाँपर शूद्रोंके लिए स्पृश्य और अस्पृश्य शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है यह ध्यान देने योग्य बात है।

पाणिनि व्याकरणपर सर्वप्रथम भाष्यकार पतञ्जलि ऋषि माने जाते हैं। ये ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दीमें हुए हैं। उक्त सूत्रकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

अनिरवसितानामित्युक्ते—कुतोऽनिरवसितानाम्? आर्यावर्तादनिरवसितानाम्। कः पुनरार्यावर्तः? प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनादक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्। यद्येवं किष्किन्धगन्धिकं शकयवनं शौर्यक्रौञ्चमिति न सिद्धयति। एवं तर्ह्यार्यनिवासादनिरवसितानाम्। कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति। एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायास्तेष्वभ्यन्तराश्चाण्डाला मृतपाश्च वसन्ति। तत्र चण्डालमृतपा इति न सिद्धयति। एवं तर्हि याज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम्। एवमपि 'तक्षायस्कारं रजकतन्तुवायम्' इति न सिद्धयति। एवं तर्हि पात्रादनिरवसितानाम्। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुद्धयति तेऽनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुद्धयति ते निरवसिता इति।

यहाँपर पतञ्जलि ऋषिने 'अनिरवसित' शब्दके चार अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ आर्यावर्तसे अनिरवसित किया है। किन्तु इस अर्थके करनेपर 'किष्किन्धगन्धिकं शकयवनं शौर्यक्रौञ्चम्' ये प्रयोग नहीं बनते, इसलिए इसे बदलकर दूसरा अर्थ आर्यनिवाससे अनिरवसित किया है। किन्तु इस अर्थके करनेपर 'चाण्डालमृतपाः' यह प्रयोग नहीं बनता, इसलिए इसे बदलकर तीसरा अर्थ यज्ञसम्बन्धी कर्मसे अनिरवसित किया है। किन्तु इस अर्थके करनेपर 'तक्षायस्कारं रजकतन्तुवायम्' ये प्रयोग नहीं बनते, इसलिए उन्हें चौथा अर्थ करना पड़ा है। इसमें उन्होंने बतलाया है कि

जिनके द्वारा भोजन करनेपर भोजनके प्रयोगमें लाया गया पात्र संस्कार करनेसे शुद्ध हो जाता है वे अनिरवसित शूद्र हैं और ऐसे शूद्रोंके वाची जितने शब्द हैं उनका द्वन्द्व समास करनेपर एकवद्भाव हो जाता है। यहाँपर व्यतिरेखमुखेन उन्होंने यह भी प्रकट कर दिया है कि जिनके द्वारा भोजन करनेपर भोजनके उपयोगमें लाया गया पात्र संस्कार करनेसे भी शुद्ध नहीं होता वे निरवसित शूद्र हैं। इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि निरवसित शूद्रोंके वाची शब्दोंका द्वन्द्व समास करनेपर एकवद्भाव नहीं होता। अनिरवसित शब्दका अर्थ करते हुए पतञ्जलि ऋषिने जितने उदाहरण उपस्थित किये हैं उनको देखते हुए मालूम पड़ता है कि वे किष्किन्ध, गन्धिक, शक, यवन, शौर्य, क्रौञ्च, तक्ष, अयस्कार, रजक और तन्तुवाय इन जातियोंको अनिरवसित शूद्र मानते रहे हैं। इससे यह भी मालूम पड़ता है कि उस कालमें आवश्यकता होनेपर इन जातियोंके पात्रादिका उपयोग ब्राह्मण आदि आर्य लोग करते रहे हैं। निरवसित शूद्रोंके उन्होंने चाण्डाल और मृतप ये दो उदाहरण दिए हैं। उनके द्वारा की गई अन्तिम व्याख्यासे यह भी मालूम पड़ता है कि उनके कालमें ब्राह्मण आदि आर्य लोग इन जातियोंके पात्र आदि अपने उपयोगमें नहीं लाते थे।

यह पतञ्जलि ऋषिके कालकी स्थिति है। उनके बाद पाणिनिकृत व्याकरणपर काशिका, लघुशब्देन्दुशेखर तथा सिद्धान्तकौमुदी आदि जितनी व्याख्याएँ लिखी गई हैं इन सबके कर्ताओंने अनिरवसित शब्दका एकमात्र वही अर्थ मान्य रखा है जिसे अन्तमें पतञ्जलि ऋषिने स्वीकार किया है।

जैन व्याकरणोंमें भी शाकटायन व्याकरण तो पातञ्जल भाष्यका ही अनुसरण करता है, इसलिए उसके विषयमें तत्काल कुछ नहीं लिखना है। मात्र जैनेन्द्र व्याकरणकी स्थिति इससे कुछ भिन्न है, क्योंकि उसमें पाणिनिके 'शूद्राणामनिरवसितानाम्' इस सूत्रके स्थानमें 'वर्णेनार्हद्रूपा-

योग्यानाम्' यह सूत्र उपलब्ध होता है। इसकी व्याख्या करते हुए महावृत्ति में कहा गया है कि जो वर्णसे अर्हद्रूपके अयोग्य हैं उनके वाची शब्दोंका द्वन्द्व समास करनेपर एकवद्भाव होता है। यही बात शब्दार्णवचन्द्रिकामें भी कही गई है। प्रकृतमें यह स्मरणीय है कि यहाँपर एकवद्भावको लिए हुए सब उदाहरण स्पृश्य शूद्रजातियोंके ही दिए गये हैं। यथा—तक्षायस्कारम्, कुलालवरुटम्।

यह हम मान लेते हैं कि शाकटायन व्याकरणकी रचना जैनेन्द्र व्याकरणके बादमें हुई है। इसलिए यह सन्देह होता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें निबद्ध उक्त सूत्र शाकटायन व्याकरणके बादका होना चाहिए। अन्यथा शाकटायन व्याकरणमें इसके अनुकूल या प्रतिकूल कुछ न कुछ अवश्य कहा गया होता। सोचनेकी बात है कि शाकटायन व्याकरणके कर्ता जैन आचार्य होकर पातञ्जल भाष्यका अनुसरण तो करें परन्तु जैनेन्द्र व्याकरण के एक ऐसे विशिष्ट मतका जो उनकी अपनी परम्पराको व्यक्त करनेवाला हो, उल्लेख तक न करें यह भला कैसे सम्भव माना जाय ?

यह कहना हमें कुछ शोभनीय नहीं प्रतीत होता कि शाकटायनके कर्ता यापनीय थे, इसलिए सम्भव है कि उन्होंने इस मतका उल्लेख न किया हो, क्योंकि एक तो व्याकरणमें केवल अपने सम्प्रदायमें प्रचलित शब्दों या प्रयोगोंकी ही सिद्धि नहीं की जाती है। दूसरे वे दिगम्बर न होकर यापनीय थे यह प्रश्न अभी विवादास्पद है। तीसरे समग्र जैनसाहित्यका अध्ययन करनेसे विदित होता है कि 'शूद्र वर्णके मनुष्य मुनि दीक्षा लेकर मोक्षके अधिकारी हैं' इस विषयमें जैन परम्पराके जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें मतभेद नहीं रहा है। इन सम्प्रदायोंमें मतभेद के मुख्य विषय सवस्त्र मुनिदीक्षा, स्त्रीमुक्ति और केवलीकवलाहार ये तीन ही रहे हैं। इसलिए दिगम्बर तार्किकोंने इन्हीं तीन विषयोंके विरोधमें लिखा है। शूद्रोंकी दिगम्बर दीक्षाके विरोधमें उन्होंने कुछ लिखा हो ऐसा हमारे देखनेमें अभी तक नहीं आया है। तथा 'शूद्र दीक्षा नहीं ले सकता' इस वचनको

किसी आचार्यने भगवान् की दिव्यध्वनि कहा हो यह भी हमारे देखनेमें नहीं आया है। उत्तरकालीन कुछ लेखकोंने यद्यपि इस मान्यताको धर्मशास्त्रका अङ्ग बनाया है। परन्तु वह आचार्य जिनसेनके कथनका अनुवादमात्र है; इसलिए यही ज्ञात होता है कि जैनेन्द्र व्याकरणका उक्त सूत्र शाकटायन व्याकरणके बादका होना चाहिए। जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रोंमें उलट-फेर हुआ है, उससे ऐसा होना सम्भव भी प्रतीत होता है। इस सूत्रको जैनेन्द्र व्याकरणका असली सूत्र न माननेका एक कारण और हैं। जो आगे दिया जाता है—

पतञ्जलि ऋषिने वर्णव्यवस्थाको नहीं स्वीकार करनेवाली शक और यवन आदि अन्य जातियोंको 'पात्र्यशूद्रों' (स्पृश्यशूद्रों) में ही परिगणित कर लिया है। ब्राह्मण परम्परामें पातञ्जलभाष्यके सिवा अन्य साहित्यके देखनेसे भी यही विदित होता है कि उनमें तीन वर्णवाले मनुष्योंके सिवा अन्य जितने मनुष्य हैं उनकी परिगणना एकमात्र शूद्रवर्णके अन्तर्गत ही की गई है। मनुस्मृतिमें मनुमहाराज स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं। मनुष्योंकी एक चौथी जाति और है जिसे शूद्र कहते है। इसके सिवा अन्य पाँचवां वर्ण नहीं है। उल्लेख इस प्रकार है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥१०–४

इसलिए द्वन्द्व समासमें शक और यवन आदि अन्य जातियोंको भी अनिरवसित शूद्रोंमें परिगणित करके उनके वाची शब्दोंका एकवद्भाव उन्होंने स्वीकार किया है। यद्यपि जैनेन्द्र व्याकरणके उक्त सूत्रके अनुसार भी यह व्यवस्था बन जाती है इसे हम स्वीकार करते हैं। किन्तु इसे स्वीकार करनेपर म्लेच्छ मनुष्योंकी शूद्रोंमें परिगणना हो जानेके कारण शूद्रोंके समान उनके लिए भी मुनिदीक्षाका निषेध हो जाता है। यह एक ऐसी आपत्ति है जिसका उक्त सूत्रके वर्तमान स्वरूपमें रहते हुए वारण

करना सम्भव नहीं है। यहाँ यह कहना हमें उचित प्रतीत नहीं होता कि अन्यत्र जिन म्लेच्छोंके लिए मुनिदीक्षाका विधान किया गया है वे शक और यवन आदिसे भिन्न हैं, क्योंकि स्वयं पूज्यपाद आचार्य तत्त्वार्थसूत्रके 'आर्याम्लेच्छाश्च' (२-३६) सूत्रकी व्याख्या करते हुए म्लेच्छोंके अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज ये दो भेद करके कर्मभूमिज म्लेच्छोंमें शक, यवन, शवर और पुलिन्द आदि मनुष्योंकी ही परिगणना करते हैं। उनकी दृष्टिमें शक, यवन आदिके सिवा अन्य कोई कर्मभूमिज म्लेच्छ थे ऐसा उनके द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धिसे ज्ञात नहीं होता। सर्वार्थसिद्धिका वह उल्लेख इस प्रकार है—

'म्लेच्छा द्विविधाः—अन्तर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति।......ते एते अन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च शकयवनशवरपुलिन्दादयः।'

यह तो स्पष्ट है कि व्याकरण जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना करनेवाला कोई भी विचारक ऐसे किसी नियमको सूत्रबद्ध नहीं करेगा जो सदोष हो, उसमें भी एक निर्दोष सूत्रके सामने रहते हुए ऐसा करना तो और भी असम्भव है। हमारा यह सुनिश्चित मत है कि आचार्य पूज्यपाद उन आचार्योंमें नहीं माने जा सकते जो चलती हुई कलमसे कुछ भी लिख दें। आगम रक्षाका उनके ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रहा है और उन्होंने धर्मशास्त्रका निरूपण करनेवाले स्वरचित ग्रन्थोंमें उसका पूरी तरहसे निर्वाह भी किया है। यद्यपि आचार्य अभयनन्दिने ऐसे शब्द प्रयोगोंको जो उक्त सूत्रकी कक्षामें आकर भी एकवद्भावको लिए हुए नहीं हैं, 'न दधिपयआदीनि ॥१।४।९०॥' इस सूत्रकी परिधिमें स्वीकार कर लिया है यह सत्य है। परन्तु इतने मात्रसे उस दोषका वारण नहीं होता जिसका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं। इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जैन आगम परम्पराका विरोधी होनेसे एक तो इस सूत्रकी रचना स्वयं आचार्य पूज्यपादने की नहीं होगी। और कदाचित् उन्होंने इसकी रचना की भी होगी तो वह मोक्षमार्गकी दृष्टिसे न लिखा जाकर

केवल लौकिक मान्यताके अनुसार होनेवाले वचनप्रयोगोंकी पुष्टि करनेके लिए ही लिखा गया होगा। इतना सब होने पर भी जो सरलता और वचन प्रयोगके नियम बनानेकी निर्दोष पद्धति हमें पाणिनि व्याकरणके उक्त सूत्रमें दृष्टिगोचर होती है वह बात जैनेन्द्र व्याकरणके उक्त सूत्रमें नहीं दिखाई देती, क्योंकि पाणिनि व्याकरणका उक्त सूत्र केवल शब्दशास्त्रके अनुसार नियम बनाने तक ही सीमित न होकर अपने धर्मशास्त्रकी भी रक्षा करता है। जब कि जैनेन्द्र व्याकरणका उक्त सूत्र शब्द शास्त्रके अनुसार ऐसे निर्दोष नियमका प्रतिपादन नहीं करता जो उक्त प्रकारके सब शूद्रवाची शब्दोंपर लागू किया जा सके। यही कारण है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें अस्पृश्य शूद्रवाची शब्दोंकी परिगणना अन्यत्र दधि पय आदि गणपाठमें करनी पड़ी है। इतना ही नहीं, इस द्वारा आगम रक्षाका तो यत्किञ्चित् भी ध्यान नहीं रखा गया है, अन्यथा उक्त सूत्रका जो स्वरूप वर्तमानमें दृष्टिगोचर होता है वह अन्य प्रकारसे ही निर्मित किया गया होता।

यह तो प्रकट सत्य है कि श्रमण वेदोंको तो धर्मशास्त्रके रूपमें मानते ही नहीं थे, वर्णाश्रमधर्मको भी नहीं मानते थे। जो भी श्रमणोंकी शरणमें आता था, जातिपाँतिका विचार किये बिना उसे शरण देनेमें वे रञ्चमात्र भी संकोच नहीं करते थे। जो उपासकधर्मको स्वीकार करना चाहता था उसे वे उपासकधर्ममें स्वीकार कर लेते थे और जो उनके समान श्रमणधर्मको स्वीकार करनेके लिए उद्यत दिखलाई देता था उसे वे श्रमण बना लेते थे। यह उनका मुख्य कार्यक्रम था जो ब्राह्मणोंको स्वीकार नहीं था। श्रमणों और ब्राह्मणोंके मध्य मूल विरोधका कारण यही रहा है। यह सनातन विरोध था जिसका परिहार होना उसी प्रकार असम्भव माना जाता था जिस प्रकार सर्प और नौलेके प्रकृतिगत विरोधको दूर करना असम्भव है। इस विरोधकी जड़ केवल कार्यक्रम तक ही सीमित न होकर अपने-अपने आगमसे सम्बन्ध रखती थी, इसलिए दोनोंमेंसे कोई भी न तो

अपने-अपने आगमका त्याग करनेके लिए तैयार था और न अपने-अपने आगमके अनुसार निश्चित किये गए कार्यक्रमको ही छोड़नेके लिए तैयार था। यह वस्तुस्थिति है जिसकी स्वीकृति हमें पातञ्जलभाष्यके इन शब्दोंमें दृष्टिगोचर होती है—

येषां च विरोधः शाश्वतिकः [२।४।९।] इत्यस्यावकाशः—श्रमण-ब्राह्मणम् ।

पाणिनि ऋषिने वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु और शकुनि आदि वाची शब्दोंका द्वन्द्व समास करने पर विकल्पसे एकवद्भाव स्वीकार किया है, इसलिए यह प्रश्न उठा कि ऐसी अवस्थामें 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इस सूत्रके लिए कहाँ अवकाश है। पतञ्जलि ऋषि इसी प्रश्नका समाधान करते हुए 'श्रमणब्राह्मणम्' इस उदाहरणको उपस्थित करते हैं। इस प्रसङ्गमें दिये गये इस उदाहरण द्वारा उन्होंने वही शाश्वतिक विरोधकी बात स्वीकार की है जिसका हम इसके पूर्व अभी उल्लेख कर आए हैं। यद्यपि पाणिनि व्याकरणके अन्य टीकाकार 'येषां च विरोधः' इत्यादि सूत्रकी टीका करते हुए 'श्रमणब्राह्मणम्' इस उदाहरणका उल्लेख नहीं करते। परन्तु पतञ्जलि ऋषिको इस सूत्रको चरितार्थ करनेके लिए 'श्रमण ब्राह्मणम्' इसके सिवा अन्य उदाहरण ही नहीं दिखलाई दिया यह स्थिति क्या प्रकट करती है? इससे स्पष्ट मालूम होता है कि पतञ्जलि ऋषि और अन्य टीकाकारोंके मध्यकालमें विरोधकी स्थितिको शमन करनेवाली परिस्थितिका निर्माण अवश्य हुआ है। यह कार्य दोनोंकी ओरसे किया गया है यह तो हम तत्काल निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। परन्तु जैनेन्द्र व्याकरणके उक्त सूत्रकी साक्षीमें यह अवश्य ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि श्रमणों और ब्राह्मणोंके मध्य पुराने कालसे चले आ रहे इस विरोधके शमनका कार्य सर्व प्रथम इस सूत्रके द्वारा किया गया है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसे यहाँ हम स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट कर रहे हैं। इसकी पुष्टिमें प्रमाण यह है कि सर्व प्रथम पाणिनि ऋषिने यह सूत्र अनिरवसित शूद्रोंके लिए वचन-

प्रयोगमें किये जानेवाले एकवद्भावको दिखलानेके अभिप्रायसे बनाया। उसके बाद पतञ्जलि ऋषिने अनिरवसित शूद्र शब्दका अर्थ पात्र्यशूद्र किया। जिसे पाणिनि व्याकरणके अन्य टीकाकारोंने तो मान्य रखा ही, जैन-व्याकरणकार शाकटायनने भी उसी अर्थकी पुष्टि की। इस प्रकार एक विवक्षित अर्थमें चला आ रहा यह सूत्र जैनेन्द्र व्याकरणमें रूपान्तरित होकर दृष्टिगोचर होता है यह क्या है? यह तो स्पष्ट है कि श्रमणों और ब्राह्मणोंके मध्य अन्य तीन वर्णोंको लेकर विवाद नहीं था, क्योंकि इन तीन वर्णोंको कर्मसे मान लेनेपर जो सामाजिक और आध्यात्मिक अधिकार मिलना सम्भव था वे जन्मसे वर्ण व्यवस्थाके स्वीकार करनेपर भी उन्हें मिले हुए थे। इससे व्यवहारमें इन तीन वर्णोंके मध्य परस्पर हीन भावका सवाल खड़ा नहीं होता था। मुख्य विवाद तो शूद्रोंको लेकर ही था। ब्राह्मणोंका कहना था कि शूद्र वर्णको ईश्वरने शेष तीन वर्णोंकी सेवाके लिए ही निर्मित किया है। यही उनकी आजीविका है और यही उनका धर्म है। श्रमणोंका कहना था कि वे दुर्बलता वश भले ही श्रम और अन्यकी सेवा द्वारा अपनी आजीविका करते हों परन्तु यह उनका धर्म नहीं हो सकता। धर्ममें उनका वही अधिकार है जो अन्य वर्णवालोंको मिला हुआ है। श्रमणों और ब्राह्मणोंका यह विवाद अनादि था और इसका कहीं अन्त नहीं दिखलाई देता था। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणके उक्त सूत्रमें किये गये परिवर्तन द्वारा उस विरोधका शमन किया गया है।

मध्यकालीन जैन साहित्य—

अब जैनेन्द्र व्याकरणके बादके मध्यकालीन जैन साहित्यको देखें कि उसमें इस विचारको कहाँ तक प्रश्रय मिला है। इस दृष्टिसे सर्व प्रथम हमारा ध्यान वराङ्गचरित पर जाता है। यह प्रथम महाकाव्य है जिसमें कर्मसे वर्ण व्यवस्थाकी स्थापना कर ब्राह्मणोंको आड़े हाथों लिया गया है। स्पष्ट है कि इसका लक्ष्य आगमिक है। यह शूद्र होनेके कारण किसी व्यक्तिको मुनिदीक्षाके अयोग्य घोषित नहीं करता।

दूसरा स्थान भट्टाकलङ्कके विविध विषयोंपर लिखे गये साहित्यका है। यह साहित्य जितना विशाल है उतना ही वह अध्ययन और मनन करने योग्य है। जैन परम्परामें जिन कतिपय आचार्योंकी प्रमुखरूपसे परिगणना की जाती है उनमें एक आचार्य भट्टाकलङ्कदेव भी हैं। इनके साहित्यमें सैद्धान्तिक विषयोंकी गहनरूपसे तात्त्विक मीमांसा की गई है। जैनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा एक भी विषय नहीं मिलेगा जिसपर इनकी सूक्ष्म दृष्टि न गई हो। इन्होंने 'तन्निसर्गाधिगमाद्वा' सूत्रकी व्याख्या करते (त० सू० १, ३) हुए यह तो स्वीकार किया कि ब्राह्मणधर्ममें शूद्रोंको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं दिया गया है। यदि उसी प्रकार जैनधर्ममें शूद्रोंको मुनिदीक्षा लेने या जैन आगम पढ़नेका अधिकार न होता तो उसके स्थानमें अपने आगमका उल्लेख ये अपने ग्रन्थोंमें न करते यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि भी आगमिक रही है और इसलिए इन्होंने भी शूद्र होनेके कारण किसी व्यक्तिको मुनिधर्मके अयोग्य घोषित नहीं किया।

भट्टाकलङ्कके बाद परिगणना करने योग्य जैन साहित्यमें पद्मपुराण और हरिवंशपुराणका नाम प्रमुखरूपसे लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। पुराण साहित्य होनेसे इनका महत्त्व इस दृष्टिसे और भी अधिक है। इन ग्रन्थोंमें भी वर्ण व्यवस्था जन्मसे न बतलाकर कर्मसे ही बतलाई गई है। पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है कि जो चण्डाल व्रतोंको धारण करता है वह ब्राह्मण है। इसी प्रकार हरिवंशपुराणमें भी गुणोंकी महत्ता स्थापित कर जातिवादकी निन्दा की गई है। इसमें एक वेश्यापुत्रीका उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि उसने केवल चारुदत्तके साथ विवाह ही नहीं किया था किन्तु व्रतोंको स्वीकार कर अपने जीवनका भी निर्माण किया था। इस प्रकार इन पुराणोंको सूक्ष्मरूपसे अवलोकन करनेसे भी यही विदित होता है कि इनमें भी एकमात्र आगमिक दृष्टि ही अपनाई गई है। शूद्र जिनदीक्षा धारण कर मोक्षके पात्र नहीं होते यह मत इन्हें भी मान्य नहीं है।

एक ओर जहाँ हरिवंशपुराणका संकलन हो रहा था उसी समय वीरसेन आचार्य षट्खण्डागम टीकाके निर्माणमें लगे हुए थे। संयमासंयम और संयमको कौन व्यक्ति धारण करता है इसकी चरचा करते हुए वे लिखते हैं कि वह चारित्र दो प्रकारका है—देशचारित्र और सकल चारित्र। उनमेंसे देशचारित्रको प्राप्त होनेवाले मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके होते हैं—प्रथम वे जो वेदकसम्यक्त्वके साथ संयमासंयमके अभिमुख होते हैं और दूसरे वे जो उपशमसम्यक्त्वके साथ संयमासंयमके अभिमुख होते हैं। संयमको प्राप्त होनेवाले जीव भी इसी तरह दो प्रकारके होते हैं।

कुछ उल्लेखोंको छोड़कर इसी तथ्यको वीरसेन स्वामीने एकाधिकबार दुहराया है। आगममें किस गुणस्थानसे जीव किस गुणस्थानको प्राप्त होता है इस बातका स्पष्ट निर्देश किया है। जब यह जीव मिथ्यात्वसे उपशमसम्यक्त्वके साथ देशचारित्र और सकलचारित्रको प्राप्त होता है तब इनकी प्राप्ति करणलब्धि पूर्वक ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके द्वारा भी इन गुणोंको प्राप्त करते समय अधःकरण और अपूर्वकरणरूप परिणाम होते हैं। केवल जो जीव एक बार इन गुणोंको प्राप्त कर और पतित होकर अतिशीघ्र उन्हें पुनः प्राप्त करता है उसके करणपरिणाम नहीं होते। इन गुणोंको प्राप्त करनेकी यह वास्तविक प्रक्रिया है। इसमें किसी प्रकारकी दीक्षाके लिए अवसर ही नहीं है। वह उपचार कथन है जो चरणानुयोगकी पद्धतिमें कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई व्यक्ति घर बैठे ही और वस्त्रादिका त्याग किये बिना ही संयमरूप परिणामोंको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जायगा। अन्तरङ्ग मूर्च्छाके साथ बाह्य परिग्रहका त्याग तो होता ही है। चरणानुयोगकी जो भी सार्थकता है वह इसीमें है। पर चरणानुयोगकी पद्धतिसे चलनेवाला व्यक्ति संयमासंयमी और संयमी होता ही है ऐसा नहीं है। इसीसे चरणानुयोगकी पद्धतिको उपचार कथन कहा गया है। स्पष्ट है कि मोक्षमार्गकी पद्धतिमें वर्णाचारके लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि मूल आगमसाहित्यके

समान धवला टीकामें भी मात्र इतना ही स्वीकार किया गया है कि जो कर्मभूमिज है, गर्भज है, पर्याप्त है और आठ वर्षका है वह सम्यक्त्वपूर्वक संयमासंयम और संयमको धारण करनेका अधिकारी है। आचार्य जिनसेनके महापुराणको छोड़कर उत्तरकालमें लिखे गये गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार-क्षपणासारमें भी इसी तथ्यको स्वीकार किया गया है। इसलिए इनके कर्ताके सामने मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ऐसे भेद उपस्थित होनेपर उन्हें कहना पड़ा है कि दोनों ही संयमासंयम और संयमधर्मके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं कषायप्राभृत की टीका करते समय इसी तथ्यको स्वयं आचार्य जिनसेनको भी स्वीकार करना पड़ा है। वे करते क्या। उनके सामने इसके सिवा अन्य कोई गति ही नहीं थी। प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि न्याय ग्रन्थोंका भी यही अभिप्राय है। यह उत्तरकालीन प्रमुख साहित्यका सामान्यावलोकन है जो प्रत्येक विचारकके मनपर एकमात्र यही छाप अंकित करता है कि कहाँ जैनधर्म और कहाँ वर्णाश्रमधर्म। यह कहना तो आसान है कि पापको मार भगाओ और पापीको अपनाओ। पर क्या ब्राह्मणधर्मके अनुसार इन दोनोंमें भेद करना सम्भव है। यदि इन दोनोंके भेदको समझना है तो हमें जैनधर्मके आन्तरिक रहस्यको समझना होगा। तभी जैनधर्मकी चरितार्थता हमारे ध्यानमें आ सकेगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम शूद्रको पापी और ब्राह्मणको पवित्रात्मा मानते हैं। जातिवादके आधारपर कल्पित की गई ये ब्राह्मण आदि संज्ञाएँ मनुष्योंमें भेद डालकर आत्मतोषका कारण भले ही बन जाँय पर धर्ममें इनका आश्रय करनेवाला व्यक्ति चिर मिथ्यात्वी बना रहेगा इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है। एक जैन कविने इन जातियोंकी निःसारता बतलाते हुए क्या कहा है यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वथा शुद्धशीलता।
कालेनादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां स जातिर्महती मता॥

कालका प्रवाह बहुत दूर तक गया है। इस बीच प्रत्येक कुलका विटल जाना सम्भव है, इसलिए न तो हम यह ही कह सकते हैं कि ब्राह्मण सदा ब्राह्मण ही बना रहता है और न यह ही कह सकते हैं कि अब्राह्मण कभी ब्राह्मण नहीं हो जाता है। जन्मके आधारसे छोटी बड़ी जाति मानना योग्य नहीं है। वास्तवमें बड़ी जाति उसकी है जिसमें तात्त्विकरूपमें संयम, नियम, शील, तप, दान और दया ये गुण पाये जाते हैं।

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन जितना भी प्रमुख साहित्य उपलब्ध होता है उसमें जैनेन्द्र व्याकरणके उक्त सूत्रको प्रश्रय न देकर एकमात्र आगमिक परम्पराको ही प्रश्रय दिया गया है। जैनेन्द्र व्याकरणमें इस सूत्रने कहाँसे स्थान प्राप्त कर लिया, हमें तो इसीका आश्चर्य होता है। समयकी बलिहारी है।

महापुराण और उसका अनुवर्ती साहित्य—

अब हम महापुराण पर दृष्टिपात करें। महापुराणके देखनेसे नाटकके समान दो दृश्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं—एक केवलज्ञान सम्पन्न भगवान् आदिनाथके मोक्षमार्ग विषयक उपदेशका और दूसरा भरत चक्रवर्तीके द्वारा ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करानेके बाद उन्हींके द्वारा दिलाये गये उपदेश का। भगवान् आदिनाथके द्वारा दिलाये गये मोक्षमार्गोपयोगी उपदेशमें न तो चार वर्णोंका नाम आता है और न कौन वर्णवाला कितने धर्मको धारण कर सकता है इस विषयकी मीमांसा की जाती है। वहाँ केवल जीवोंके भव्य और अभव्य ये दो भेद करके बतलाया जाता है कि इनमेंसे अभव्य जीव सम्यग्दर्शन आदि किसी भी प्रकारके धर्मको धारण करनेके अधिकारी नहीं हैं। किन्तु जो भव्य हैं वे काललब्धि आने पर अपनी-अपनी गतिके अनुसार सम्यग्दर्शन आदि धर्मको धारण कर अन्तमें अनन्त सुखके पात्र बनते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि केवलज्ञानसम्पन्न भगवान् ऋषभदेव यह तो जानते थे कि जो भव्य जीव

रत्नत्रयधर्मको धारण कर आत्मकल्याणमें लगते हैं वे परम धामके पात्र होते हैं पर वे यह नहीं जानते थे कि मुनिदीक्षाके अधिकारी मात्र तीन वर्णके मनुष्य हैं, शूद्र वर्णके मनुष्य मुनिदीक्षाके अधिकारी नहीं हैं और न वे उपनयन संस्कारपूर्वक गृहस्थधर्मकी दीक्षाके ही अधिकारी हैं। वे चाहें तो मरण पर्यन्त एक शाटक व्रतको धारण कर सकते हैं। यह एक शाटकव्रत क्या वस्तु है यह भी वे नहीं जानते थे। यह सब कौन जानते थे? एकमात्र भरत चक्रवर्ती जानते थे। इसलिए उनके मुखसे उपदेश दिलाते हुए आचार्य जिनसेन ऐसे विलक्षण नियम बनाते हैं जिनका सर्वज्ञकी वाणीमें रञ्चमात्र भी दर्शन नहीं होता। वे मुनिदीक्षाका अधिकार मात्र द्विजको दिलाते हुए कहलाते हैं—'जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षा लेनेके पूर्व एक वस्त्रव्रतको स्वीकार कर चुका है वह दीक्षा लेनेके लिए जो भी आचरण करता है उस क्रियासमूहको द्विजकी दीक्षाद्य नामकी क्रिया जाननी चाहिए।' इस विषयका समर्थन करते हुए वे पुनः कहते हैं कि 'जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे द्विजके जो एक वस्त्रका स्वीकार होता है वह पहलेके समान दीक्षाद्य नामकी क्रिया जाननी चाहिए।' उनके कथनानुसार ऐसा द्विज ही जिनदीक्षा लेनेका अधिकारी है। वही मुनि होनेके बाद तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करता है और वही स्वर्गसे आकर चक्रवर्तीके साम्राज्यका उपभोग करता है। श्रावक धर्मकी दीक्षाके विषयमें आचार्य जिनसेनने भरत चक्रवर्तीके मुखसे यह कहलाया है कि 'इस विषयके जानकार विद्वानोंके द्वारा लिखे हुए अष्ट दल कमल अथवा जिनेन्द्रदेवके समवसरण मण्डलकी जब सम्पूर्ण पूजा हो चुके तब आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सम्मुख बैठावें और बार-बार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है।' इस प्रकार भरत चक्रवर्तीके मुखसे और भी बहुतसे नियमोंका विधान कराकर आचार्य जिनसेनने सामाजिक क्षेत्रकी तो बात छोड़िए धार्मिक क्षेत्रमें भी वही स्थिति

उत्पन्न कर दी है जो ब्राह्मणोंको इष्ट थी। जैनेन्द्र व्याकरणके जिस सूत्रका निर्देश हम पहले कर आये हैं उसीसे बल पाकर आचार्य जिनसेनने यह कार्य किया है या उनके कालमें निर्माण हुई परिस्थितिसे विवश होकर उन्हें यह कार्य करना पड़ा है यह तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। परन्तु हम निश्चय पूर्वक इतना अवश्य कह सकते हैं कि उनके इस कार्यसे आगमिक परम्पराकी अत्यधिक हानि हुई है। महापुराणके बादका अधिकतर साहित्य इसका साक्षी है। वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध समाजसे है, धर्मसे नहीं, इसलिए उसे छोड़कर ही मोक्षमार्गका निरूपण होना चाहिए इसे लोग एक प्रकारसे भूलसे गए।

आचार्य जिनसेनके बाद सर्व प्रथम उत्तरपुराणके कर्ता गुणभद्र आये तो उन्हें मोक्षमार्गमें तीन वर्ण दिखलाई दिये। एक ओर वे जाति व्यवस्थाकी तीव्र शब्दोंमें निन्दा भी करते हैं और दूसरी ओर वे यह कहनेसे भी नहीं चूकते कि जिनमें शुक्लध्यानके कारण जाति नामकर्म और गोत्रकर्म हैं वे तीन वर्ण हैं। प्रवचनसारके टीकाकार जयसेनकी तो कोई बात ही नहीं है। उन्हें तीन वर्ण दीक्षाके योग्य हैं इस आशयकी एक गाथा मिल गई। समझा यही आगमप्रमाण है, उद्धृत कर दी। सोमदेव सूरि और पण्डित प्रवर आशाधर जी का भी यही हाल है। सोमदेव सूरि सामने होते तो पूछते कि महाराज ! आप यह बात श्रुति और स्मृतिविहित लौकिकधर्मकी कह रहे हो या आगमविहित पारलौकिक धर्मकी, क्योंकि इन्होंने गृहस्थके लिए दो प्रकारके धर्मका उपदेश दिया है—एक लौकिक धर्मका और दूसरा पारलौकिक धर्म का। यह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने यह कहनेका साहस किया है कि लौकिक धर्ममें वेद और मनुस्मृति प्रमाण हैं। फिर भी वे एक साँसमें यह भी कह जाते हैं कि इसे प्रमाण माननेमें न तो सम्यक्त्वकी हानि होती है और न व्रतोंमें दूषण लगता है। पहले हम एक प्रकरणमें इस स्पष्टोक्तिके कारण इनकी प्रशंसा भी कर आये हैं। पण्डित प्रवर आशाधर जी कुल और जाति-

व्यवस्थाको मृषा मानते रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। तथा शूद्रोंके साथ न्याय हो इस ओर भी उनका मन झुका हुआ दिखाई देता है। फिर भी वे आचार्य जिनसेन और सोमदेव सूरि द्वारा धराये गये मार्गको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहते इसीका आश्चर्य होता है। पण्डितप्रवर आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृतके अध्याय दोके २०वें श्लोकको टीकामें दीक्षाका स्पष्टीकरण करते हुए उसे तीन प्रकारकी बतलाया है—उपासकदीक्षा, जिनमुद्रा और उपनीत्यादिसंस्कार। इससे प्रकट होता है कि आचार्य जिनसेनके समान सोमदेव सूरि और पण्डित प्रवर आशाधर जी भी यह मानते रहे हैं कि शूद्र न तो गृहस्थधर्मकी दीक्षा ले सकता है, न मुनि हो सकता है और न उसका उपनयन आदि संस्कार ही हो सकता है। मनुस्मृतिमें 'न संस्कारमर्हति (१०–१२६)' इस पदका खुलासा करते हुए टीकाकारने कहा है कि 'शूद्र संस्कारके योग्य नहीं है इसका तात्पर्य यह है कि शूद्र उपनयन आदि संस्कार पूर्वक अग्निहोत्रादिधर्ममें अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसके लिए यह विहित मार्ग नहीं है। यदि वह पाकयज्ञादि धर्मका आचरण करता है तो विहित होनेसे उसका निषेध नहीं है।' मनुस्मृतिके इस वचनके प्रकाशमें महापुराणके उस वचन पर दृष्टिपात कीजिए जिसमें यह कहा गया है कि उपनयनसंस्कार होनेके बाद यह द्विज श्रावक-धर्मकी दीक्षा लेता है। ब्राह्मणधर्ममें उपनयन संस्कार तथा अग्निहोत्रादि कर्म ही गृहस्थ धर्म है, इसलिए वहाँ उपनयनसंस्कारपूर्वक अग्नि-होत्रादि कर्मके करनेका विधान किया गया है और जैनधर्ममें पाँच अणुव्रत आदिको स्वीकार करना गृहस्थ धर्म है, इसलिए यहाँ उपनयनसंस्कारपूर्वक पाँच अणुव्रत आदिके स्वीकार करनेका विधान किया गया है। मनुस्मृतिके कथनमें और महापुराणके कथनमें इस प्रकार जो थोड़ा-सा अन्तर दिखलाई देता है इसका कारण केवल इतना ही है कि आगमपरम्परामें जो पाँच अणुव्रत आदिके स्वीकार करनेको गृहस्थधर्म कहा गया है, प्रकृत

व्यवस्थामें उसे स्वीकार कर लेना अत्यन्त आवश्यक था, अन्यथा उपनयन-संस्कार आदि विधिपर जैन परम्परामें छाप लगाना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता, इसलिए आचार्य जिनसेनने अपनी योजनानुसार उपनयनसंस्कार के साथ पितृतर्पण और अग्निहोत्रादि कर्मको तो स्वीकार किया ही। साथ ही उसमें पाँच अणुव्रत आदिको और जोड़ दिया। इस प्रकार इतने विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि महापुराण या उसके उत्तरकालवर्ती यशस्तिलकचम्पू और सागारधर्मामृत आदिमें जो तीन वर्णके मनुष्यको दीक्षाका अधिकारी बतलाया गया है वह सब मनुस्मृतिका अनुसरणमात्र है। उसे आगमविधि किसी भी अवस्थामें नहीं कहा जा सकता। महा-पुराणकी इस व्यवस्थाको आगमविधि न माननेके और भी कई कारण हैं। खुलासा प्रकार है—

१. श्रावकधर्मको स्त्रियाँ और तिर्यञ्च भी स्वीकार करते हैं परन्तु उनका उपनयनसंस्कार नहीं होता।

२. पुराणोंमें जितनी भी कथाएँ आई हैं उनमें कहीं भी उपनयन-संस्कारका उल्लेख नहीं किया है। उनमेंसे अधिकतर कथाओंमें यही बतलाया गया है कि कोई भव्य जीव मुनि या केवलीके उपदेशको सुनकर अपनी योग्यतानुसार श्रावकधर्म या मुनिधर्ममें दीक्षित हुआ। दीक्षा लेनेवालोंमें बहुतसे चाण्डाल आदि शूद्र भी रहते थे।

३. उत्कृष्ट श्रावकधर्मका पालन करनेवाला अधिकसे अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जाता है। यह अन्तिम अवधि है। जिसने जीवन भर ऐलक धर्म या आर्यिका धर्मका उत्तम रीतिसे पालन किया है वह भी इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। पुराणोंमें एक कथा आई है जिसमें चण्डाल द्वारा श्रावकधर्मको स्वीकार करके उसका सोलहवें स्वर्गमें देव होना लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उपनयनसंस्कारपूर्वक श्रावक धर्मकी दीक्षा तीन वर्णवाला ही ले सकता है और वही अन्तमें मुनिदीक्षाका अधिकारी है, महापुराणका यह विधान मनुस्मृतिका अनुसरणमात्र है, क्योंकि मनुस्मृतिमें

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमोंके आश्रयसे जो क्रम और विधि स्वीकार की गई है, गर्भाधानादि संस्कारोंको स्वीकार कर महापुराणकार उसी क्रम और विधिको मान्य रखते हुए प्रतीत होते हैं।

५. महापुराणमें गर्भान्वय क्रियाओंकी संख्या ५३ बतलाई है। उनमें से पहली क्रियाका नाम गर्भान्वय है। गृहस्थ इस क्रियाको अपनी स्त्रीमें गर्भ धारण करनेकी इच्छासे करता है। दूसरी क्रियाका नाम प्रीति है। यह क्रिया अपनी स्त्रीमें गर्भ धारण होनेके कारण आनन्दोत्सव करनेके अभिप्रायसे तीसरे माहमें की जाती है। तीसरी क्रियाका नाम सुप्रीति है। यह क्रिया भी उक्त अभिप्रायसे पाँचवें माहमें की जाती है। आगे धृति, मोद, प्रियोद्भव, नामकर्म, बहिर्यान, निषद्या, अन्नप्राशन, व्युष्टि और केशवाप इन क्रियाओंका उद्देश्य भी गृहस्थका पुत्र उत्पन्न होनेके कारण अपने आनन्दको व्यक्त करना मात्र है। गृहस्थका संसार बढ़ता है और वह आनन्द मनाता है यह इन क्रियाओंके करनेका अभिप्राय है। मनुस्मृतिमें ये क्रियाएँ 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इस सिद्धान्तकी पुष्टिके अभिप्रायसे कही गई हैं। महापुराणकारने भी प्रच्छन्नभावसे इस सिद्धान्तको मान्य कर इन क्रियाओंका विधान किया है। अन्तर केवल इतना है कि मनुस्मृतिके अनुसार ये क्रियाएँ वैदिक मन्त्रोंके साथ करनेका विधान है और महापुराणके अनुसार इन क्रियाओंको करनेके लिए भरत महाराजके मुखसे अलगसे क्रियागर्भ मन्त्रोंका उपदेश दिलाया गया है। दुर्भाग्यसे यदि पुत्री उत्पन्न होती है तो ये क्रियाएँ नहीं की जाती हैं। पुत्री उत्पन्न होनेके पूर्व जितनी क्रियाएँ अँधेरेमें हो लेती हैं उन पर गृहस्थ किसी प्रकारकी टीका टिप्पणी न कर सन्तोष मानकर बैठ जाय यही बहुत है। इस प्रकार इन क्रियाओंके स्वरूप पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन क्रियाओंका उद्देश्य सांसारिक है। मात्र इनको करते समय पूजा और हवनविधि कर ली जाती है। आगे जो क्रियाएँ बतलाई हैं उनमेंसे भी कुछ क्रियाएँ लगभग इसी अभिप्रायसे कही गई हैं। इस प्रकार ये क्रियाएँ

सांसारिक प्रयोजनको लिए हुए हैं, इसलिए उनके साथ श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षाका सम्बन्ध स्थापित करनेवाले वचन आगमवचन नहीं माने जा सकते।

६. जैनधर्ममें भावपूर्वक स्वयं की गई क्रिया ही मोक्षमार्गमें उपयोगी मानी गई है। अन्य व्यक्तिके द्वारा की गई क्रियासे उसमें उपयोग लगाये बिना दूसरा व्यक्ति संस्कारित होता हो यह सिद्धान्त जैनधर्ममें मान्य नहीं है। यह वस्तुस्थिति है जो सर्वत्र लागू होती है। किन्तु इन गर्भाधानादि क्रियाओंमें उक्त सिद्धान्त की अवहेलना की गई है। इसलिए भी जिसने इन क्रियाओंको किया वही श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है यह कथन मान्य नहीं किया जा सकता।

७. आगममें मिथ्यादृष्टि जीव मरकर कहाँ उत्पन्न होता है इसके लिए गत्यागतिके नियमोंको छोड़कर अन्य कोई नियम नहीं है। तद्भव मोक्षगामी जीव भी मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होते समय वह नियमसे कर्मभूमिज गर्भज मनुष्य होगा, इतना ही नियम किया है। ऐसा मनुष्य उच्चगोत्री भी हो सकता है और नीचगोत्री भी हो सकता है। यदि नीचगोत्री होगा तो सकलसंयमको लेते समय वह नियमसे उच्चगोत्री हो जायगा। यह तो मिथ्यादृष्टि जीवके लिए व्यवस्था बतलाई है। सम्यग्दृष्टि जीवके लिए यह व्यवस्था कही है कि ऐसा जीव पहले नरकके बिना छह नरकोंमें नहीं उत्पन्न होता, भवनत्रिक देवों और देवियोंमें नहीं उत्पन्न होता, प्रथम नरकके सिवा सब प्रकारके नपुंसकोंमें नहीं उत्पन्न होता तथा एकेन्द्रियादि सम्मूर्च्छन जन्मवालोंमें नहीं होता। अन्यत्र उसके उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं है। इस नियमके अनुसार यह भी नीचगोत्री और उच्चगोत्री दोनों प्रकारके मनुष्योंमें उत्पन्न होकर उसी भवसे मोक्षका अधिकारी हो सकता है। इसलिए भी त्रिवर्णका मनुष्य ही श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है यह सिद्धान्त मान्य नहीं किया जा सकता।

८. आचार्य कुन्दकुन्दने चरणानुयोगके अनुसार कुछ नियमोंका

विधान किया है। उनमें प्रथम बात यह कही है कि स्त्री मुनिलिङ्गको स्वीकार कर मुक्ति की पात्र नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कही गई है कि कोई मनुष्य वस्त्रका त्याग किये बिना मुनिधर्मको नहीं प्राप्त कर सकता तथा तीसरी बात यह कही गई है कि इस भरत क्षेत्रमें दुःषमाकालके प्रभाववश साधुके धर्मध्यान होता है, शुक्लध्यान नहीं हो सकता। इन तीन नियमोंको छोड़कर वहाँ यह नहीं कहा गया है कि अमुक वर्णका मनुष्य ही गृहस्थदीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है। इस कारण भी मात्र त्रिवर्णका मनुष्य उपासकदीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है यह सिद्धान्त मान्य नहीं किया जा सकता।

६. स्वयं आचार्य जिनसेन उपनयन आदि क्रियाकाण्डके उपदेशको भगवान् सर्वज्ञकी वाणी न बतला कर राज्यादि वैभवसम्पन्न भरत महाराज का उपदेश कहते हैं, इसलिए भी एकमात्र तीन वर्णका मनुष्य उपासक-दीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है इस वचनको मोक्षमार्गमें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ये कुछ तथ्य हैं जो महापुराण और उसके अनुवर्ती साहित्यके उक्त कथनको आगम बाह्य ठहरानेके लिए पर्याप्त हैं। स्पष्ट है कि जैनधर्ममें मोक्षमार्गकी दृष्टिसे शूद्रोंका वही स्थान है जो अन्य वर्णवालोंका माना जाता है।

साधारणतः शूद्रोंमें पिण्डशुद्धि नहीं होती, वे मद्य मांस आदिका सेवन करते हैं और सेवा आदि नीचकर्म करते हैं, इसलिए उन्हें उपनयन संस्कारपूर्वक दीक्षाके अयोग्य घोषित किया गया है। किन्तु तात्त्विकदृष्टिसे विचार करनेपर इन हेतुओंमें कोई सार प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें भी ये दोष देखे जाते हैं। दूसरे जो सिंह, कच्छ और मच्छ आदि तिर्यञ्च जीवनभर हिंसा कर्मसे अपनी आजीविका करते हैं और जिनमें स्त्री-पुरुषका कोई विवेक नहीं है वे भी जब आगम-विधिके अनुसार सम्यग्दर्शन और विरताविरतरूप धर्मको धारण करनेके

अधिकारी माने गये हैं। ऐसी अवस्थामें शूद्र मोक्षमार्गमें अधिकारी न हों यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। प्रत्येक मनुष्यका सदाचारी होना उत्तम है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह पहले खोटे कर्मोंमें रत रहा है, इसलिए वह कभी भी उत्तम मार्गका अधिकारी नहीं हो सकता यह जिनाज्ञा नहीं है। जिस प्रकार चन्द्र अपने शीतल प्रकाशकी छटासे नीच और ऊँच सबको आलोकित करता है और जिस प्रकार मेघ सबके ऊपर समान बरसा करता है उसी प्रकार धर्म भी नीच और ऊँच सबको शरण देकर उनकी आत्माको अनन्त सुखका पात्र बनाता है। पारलौकिक धर्मके इस अपरिमित माहात्म्यको सोमदेवसूरिने भी हृदयङ्गम किया था। तभी तो अनायास उनके मुखसे ये वचन निकल पड़ते हैं—

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥

जिनेन्द्र भगवानका यह शासन ऊँच और नीच सबके लिए है, क्योंकि जिस प्रकार एक स्तम्भके आश्रयसे महल नहीं टिक सकता उसी प्रकार एक पुरुषके आश्रयसे जैनशासन भी नहीं स्थिर रह सकता।

भट्टारक सोमदेवने तीन वर्णकी महत्ता प्रस्थापित करनेके लिए जितना सम्भव था उतना प्रयत्न किया है। किन्तु सत्य वह वस्तु है जिसे चिरकाल तक गलेके नीचे दबाकर नहीं रखा जा सकता। अन्तमें उसे प्रकट करना ही पड़ता है। जैसा कि उनके इस वचनसे प्रकट है—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥

क्रियाभेदसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद कहे गये हैं। जैनधर्ममें अत्यन्त आसक्त हुए वे सब परस्पर भाई-भाईके समान हैं।

वह जैनशासन जो सबको समान भावसे शरण देता है चिरकालतक जयवन्त रहो।

आहारग्रहण मीमांसा

दान देनेका अधिकारी—

पिछले अध्यायमें जैनधर्मके अनुसार मुनिधर्म और श्रावकधर्मको स्वीकार करनेका अधिकारी कौन है इसका साङ्गोपाङ्ग विचार कर आये हैं। इस अध्यायमें मुख्यरूपसे आहार देनेका पात्र कौन हो सकता है इस विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार करना है। यह तो सुविदित है कि उत्तरकालीन जैनसाहित्यमें कुछ ऐसे वचन बहुलतासे पाये जाते हैं जिनमें जातीय आधारपर विवाह आदिके समान खान-पानका विचार किया गया है। साधारणतः भारतवर्षमें यह परिपाटी देखी जाती है कि अन्य सब तो ब्राह्मणके हाथका भोजन करते हैं, परन्तु अन्यके हाथका ब्राह्मण भोजन नहीं करता। अन्यके द्वारा स्पर्श कर लेने मात्रसे वह अपवित्र हो जाता है। केवल ब्राह्मणोंमें ही यह प्रथा प्रचलित हो ऐसी बात नहीं है। इसका प्रभाव न्यूनाधिकमात्रामें अन्य जातियोंमें भी दृष्टिगोचर होता है। इसके सिवा चौका व्यवस्था व कच्चे-पक्केका नियम आदि और भी अनेक नियम प्रदेशभेदसे दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं-कहीं सोलाकी पद्धति भी इसका आवश्यक अङ्ग बन गई है। जैनियोंमें जो स्त्री या पुरुष व्रती हो जाते हैं उनमें तो एकमात्र सोला ही धर्म रह गया है। वर्तमानमें लगभग ३०, ३५ वर्षसे एक नया सम्प्रदाय और चल पड़ा है। इसके अनुसार किसी साधुके आहारके लिए गृहस्थके घर जानेपर गृहस्थको नवधाभक्तिके साथ जीवन भरके लिए शूद्रके हाथसे भरे हुए या उसके द्वारा स्पर्श किये गये पानीके त्यागका नियम भी लेना पड़ता है। कोई साधु इस नियमके स्थानमें मात्र जैनीके हाथसे भरे हुए पानीके पीनेका नियम दिलाते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई गृहस्थ इस प्रकारका नियम नहीं लेता है तो उसका घर साधुके आहारके अयोग्य घोषित करा दिया जाता है। उस गृहस्थके हाथसे न तो साधु ही आहार लेते हैं और न इस नियमको स्वीकार करनेवाले गृहस्थ ही।

जिसने अपनी सन्तानका या अपना अन्तर्जातीय विवाह किया है और जो अन्य कारणसे जातिच्युत मान लिया गया है उसके हाथका साधु या अपनेको कुलीन माननेवाला गृहस्थ आहार नहीं लेता यह भी एक नियम देखा जाता है। इस प्रकार वर्तमान कालमें भोजन-पानके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी परम्पराएँ चल पड़ी हैं। जिसे अपने लिए धर्मात्मापनकी छाप लगवानी है उसे इन सब नियमोंका अवश्य विचार करना पड़ता है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि भोजन-पानका जीवनके साथ गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवनके निर्माणके लिए मनकी शुद्धिमें अन्य द्रव्य, क्षेत्र और कालके समान उससे सहायता अवश्य मिलती है। यही कारण है कि मुनि-आचारका प्रतिपादन करनेवाले मूलाचार आदि प्रमुख ग्रन्थोंमें इसके लिए पिण्डशुद्धि नामक स्वतन्त्र अधिकार रचा गया है। पिण्ड शरीरके समान भोजनको भी कहते हैं। किन दोषोंका परिहार करनेसे साधुके आहारकी शुद्धि बनती है उन सबका इसमें सूक्ष्मताके साथ विचार किया गया है। तात्पर्य यह है कि इस अधिकारमें भोजन सम्बन्धी उन सब दोषोंका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है जिनका परिहार कर भोजनको स्वीकार करना साधुके लिए आवश्यक होता है। इतना ही नहीं, उनमें ऐसे भी बहुतसे दोष हैं जिनका विचार गृहस्थको भी करना पड़ता है। ये सब दोष उद्गम, उत्पादना और एषणाके भेदसे तीन भागोंमें तथा अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा छयालीस भेदोंमें बटे हुए हैं। एषणा दोषके अवान्तर भेदोंमें एक दायक दोष भी है। इसमें कौन स्त्री या पुरुष आहार देनेका अधिकारी नहीं हो सकता इसकी साङ्गोपाङ्ग मीमांसा करते हुए बतलाया गया है कि जिस स्त्रीने बालकको जन्म दिया है, जो मदिरा पिये हुए है या जिसे मदिरा-पानकी आदत पड़ी है, जो रोगग्रस्त है, मृतकको श्मशानमें छोड़कर आया है, हिजड़ा है, भूताविष्ट है, नग्न है, मल-मूत्र करके आया है, मूर्च्छित है, जिसने वमन किया है, जिसके शरीरसे रक्त बह रहा है, जो वेश्या है, आर्यिका है, जो शरीरमें

तेल या उवटन लगा रही है, बाल है, वृद्धा है, भोजन कर रही है, गर्भिणी है, अन्धी है, भीत आदिके अन्तरालसे खड़ी है, बैठी है, साधुसे ऊपर या नीचे खड़ी है, मुखसे या पंखासे हवा कर रही है, अग्नि जला रही है, लकड़ी आदिके उठाने, धरने और सरकानेमें लगी हुई है, राख या जलसे अग्निको बुझा रही है, वायुके प्रवाहको रोक रही है, एक वस्तुको दूसरी वस्तुसे रगड़ रही है, लीप-पोत रही है, जलादिसे सफाई कर रही है और दूध पीते हुए बालकको अलग कर रही है। इसी प्रकार और भी जो स्त्री या पुरुष हिंसाबहुल कार्यमें लगे हुए हैं वे दायक दोषके कारण न तो साधु को आहार देनेके लिए अधिकारी माने गये हैं और न साधुको ही ऐसे स्त्री या पुरुषके हाथसे आहार लेना चाहिए।

साधारणतः साधु किस गृहस्थके हाथका आहार ले यह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण विचारणीय प्रश्न है। जिसने सब प्रकारके लोकाचारको तिलाञ्जलि देकर एकमात्र अध्यात्मधर्मकी शरण ली है, जिसने जातीय आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके विकल्पको दूरसे त्याग दिया है तथा जिसने वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा प्रत्येक कर्मभूमिज मनुष्यमें अपने समान निर्ग्रन्थ धर्मको धारण करनेकी योग्यताको स्वीकार कर उससे अपनी आत्माको सुवासित कर लिया है वह साधु यह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य है, इसलिए इसके हाथका आहार लेना चाहिए और यह शूद्र है, इसलिए इसके हाथका आहार नहीं लेना चाहिए इस प्रकारकी द्विधा वृत्तिको अपने मनमें स्थान नहीं दे सकता। यह एक ध्रुव सत्य है जिसे आचार्य कुन्दकुन्द और वट्टकेर स्वामीने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है। आचार्य कुन्दकुन्द बोधप्राभृतमें कहते हैं—

उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिण्डा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

आचार्य कुन्दकुन्द साधु दीक्षाकी यह सबसे बड़ी विशेषता मानते हैं कि जो मनुष्य जैनसाधुकी दीक्षा लेता है वह कुलीनताकी दृष्टिसे उत्तम,

मध्यम और जघन्य घरका विचार किये बिना तथा साधनोंकी दृष्टिसे दरिद्र और साधनबहुल घरका विचार किए बिना निरपेक्षभावसे सर्वत्र आहार ग्रहण करता है। यह उसकी प्रव्रज्याकी विशेषता मानी जाती है कि वह लौकिक दृष्टिसे कुलीन या अकुलीन तथा साधनहीन या साधनबहुल जो भी व्यक्ति नवधा भक्तिसे उसे योग्य आहार दे उसे वह स्वीकार कर ले।

इसी भावको मूलाचारमें अनगारभावनाके प्रसङ्गसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपंतीहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥४७॥

आचार्य कुन्दकुन्दने मुनिदीक्षा कैसी होती है इस विषयको स्पष्ट करते हुए बोधप्राभृतकी उक्त गाथामें जो कुछ कहा है, मूलाचारकी प्रकृत गाथा द्वारा प्रकारान्तरसे उसी विषयका सुस्पष्ट शब्दोंमें समर्थन किया गया है। इसमें जो कुछ कहा गया है उसका भाव यह है कि साधु घरोंकी पंक्तिके अनुसार चारिका करते हुए मध्यम और उत्तम कुलोंमें तो अज्ञात और अनुज्ञात भिक्षाको मौनपूर्वक स्वीकार करते ही हैं। किन्तु नीचकुलोंमें जाकर भी वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि मूलाचार आदिमें दायकदोषका विचार करते हुए किसी गृहस्थको जाति या कुलके आधार पर आहार देनेके लिए अपात्र नहीं ठहरा कर अन्य कारणोंसे उसे अपात्र ठहराया गया है। दायक दोषके प्रसङ्गसे दाताके जो भी दोष कहे गये हैं उन दोषोंसे रहित आर्य या म्लेच्छ तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जो भी हो वह साधुको दान देनेका अधिकारी है और जिसमें ये दोष हैं वह दान देनेका अधिकारी नहीं है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

षट्खण्डागम कर्म अनुयोगद्वारके २६ वें सूत्रकी धवला टीकामें परिहार प्रायश्चित्तके अनवस्थाप्य और पारञ्चिक ये दो भेद करके वहाँ पर इन दोनों प्रकारके प्रायश्चित्तोंका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष बतलाया गया है। साथ ही पारञ्चिक प्रायश्चित्तकी विशेषताका निर्देश करते हुए वहाँपर कहा

गया है कि इसे साधर्मियोंसे रहित क्षेत्रमें आचरण करना चाहिए। यहाँपर दो नियम मुख्यरूपसे ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि मुनि-आचार के विरुद्ध जीवनमें लगे हुए दोषोंका परिमार्जन करनेके लिए साधु अपने जीवनमें प्रायश्चित्तको स्वीकार करता है और दूसरा यह कि पारञ्चिक प्रायश्चित्त करते समय साधु अधिकसे अधिक छह माह तकका उपवास कर सकता है। इसके बाद उसे आहार नियमसे लेना पड़ता है और ऐसे गृहस्थके यहाँ आहार लेना पड़ता है जो साधर्मी नहीं है। फिर भी वह उत्तरोत्तर दोषमुक्त होता जाता है। धवला टीकाका यह इतना स्पष्ट निर्देश है जो हमें इस बातका बोध करानेके लिए पर्याप्त है कि सामान्य अवस्थामें तो छोड़िए प्रायश्चित्तकी अवस्थामें भी साधुको गृहस्थोंका जाति आदिकी दृष्टिसे विचार किये बिना सर्वत्र आहार ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करनेसे उसका मुनिधर्म दूषित न होकर निखर उठता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मूलाचार आदिमें पिण्डशुद्धिकी दृष्टिसे जो भी दोष कहे गये हैं उनका विचार मात्र साधुको करना चाहिए ऐसा नहीं है। उद्गम सम्बन्धी जिन दोषोंका सम्बन्ध गृहस्थसे है उनका विचार गृहस्थको करना चाहिए, उत्पादन सम्बन्धी जिन दोषोंका सम्बन्ध साधुसे है उनका विचार साधुको करना चाहिए और एषणासम्बन्धी जिन दोषोंका सम्बन्ध गृहस्थ और साधु दोनोंसे है उनका विचार दोनोंको करना चाहिए। उदाहरणार्थ—नाग और यक्ष आदि देवता, अन्य लिङ्गी और दयाके पात्र मनुष्योंके उद्देश्यसे बनाया गया भोजन औद्देशिक आहार है। गृहस्थका कर्तव्य है कि वह साधुको यह आहार न दे। प्रकृतमें विचारणीय यह है कि इसका विचार कौन करे। जानकारी न होनेसे साधु तो इसका विचार कर नहीं सकता। परिणाम स्वरूप यही फलित होता है कि गृहस्थको इसका विचार करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य दोषोंके विषयमें भी परामर्श कर लेना चाहिए। पहले हम विस्तारके साथ दायकदोषकी मीमांसा कर आये हैं। वह भी लगभग इसी प्रकारका एक दोष है। यहाँ पर लगभग

शब्दका प्रयोग इसलिए किया है कि दाताकी प्रवृत्ति देखकर कहीं तो साधु को उसका बोध हो जाता है और कहीं नहीं होता। जिनके सम्बन्धमें साधु को ज्ञान नहीं हो सकता उस अपेक्षासे वह दातागत दोष माना जायगा। इसका मुख्यरूपसे दाताको विचार करना पड़ेगा कि मैं ऐसा कौन-सा कर्म करता हूँ जिसे करते हुए मैं साधुको आहार देनेके लिए अधिकारी नहीं हूँ। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य दोषोंके विषयमें उनके स्वरूपको देखकर विचार कर लेना चाहिए।

देयद्रव्यकी शुद्धि—

इस प्रकार मूलाचारमें दाता और पात्रके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका विचार करनेके बाद देयके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका अलगसे विचार किया गया है। दाता और पात्रके आश्रयसे जो दोष उत्पन्न होते हैं उनसे देय अपवित्र या द्रव्य विकारी नहीं होता। किन्तु यहाँ पर देय द्रव्यके जो दोष बतलाये जा रहे हैं उनसे या तो वह संसर्ग दोषसे अपवित्र हो जाता है या विकारी हो जाता है, इसलिए उनको मल संज्ञा दी गई है। नख, रोम, मृतकलेवर, हड्डी, कण, कुण्ड, पीप, चमड़ा, रुधिर, मांस, उगने योग्य बीज, फल, कन्द और मूल ये ऐसे पन्द्रह पदार्थ हैं जिनके भोजनमें मिल जाने पर वह अग्राह्य हो जाता है। इनका खुलासा करते हुए टीकाकारने लिखा है कि इनमेंसे कितने ही महामल हैं और कितने ही अल्पमल हैं। तथा कितने ही महादोषकारक हैं और कितने ही अल्पदोषकारक हैं। रुधिर, मांस, हड्डी, चमड़ा और पीप ये महादोषकर हैं। भोजनमें इनके मिल जाने पर पूरे भोजनके त्याग करनेके बाद भी प्रायश्चित्त लेनेकी आवश्यकता पड़ती है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंका शरीर तथा बालके मिल जाने पर आहारका त्याग कर देना पर्याप्त है। नखके मिल जाने पर आहारके त्यागके साथ अल्प प्रायश्चित्त लेनेकी आवश्यकता होती है। तथा कण, कुण्ड, बीज, कन्द,

फल और मूलके मिल जाने पर उनको अलग कर भोजन ले लेना चाहिए। यदि वे पदार्थ अलग न किये जा सकें तो भोजनका त्याग कर देना चाहिये। इन मल दोषोंसे रहित साधुके योग्य जो भी आहार है वह उसके लिए ग्राह्य है, अन्य नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

बत्तीस अन्तराय—

साधु प्रासुक और अनुद्दिष्ट आहार लेते हैं। प्रासुक होने पर भी यदि वह उद्दिष्ट होता है तो वह साधुके लिए अप्रासुक ही माना गया है। यह आहारमें अमुकको दूँगा ऐसा संकल्प किये बिना गृहस्थ अपनी आवश्यकता और इच्छानुसार जो आहार बनाता है वह अनुदिष्ट होनेसे साधुके लिए ग्राह्य माना गया है। यह आहार मेरे लिए बनाया गया है इस अभिप्रायसे यदि साधु भी आहार लेता है तो वह भी महान् दोषकारक माना गया है, क्योंकि ऐसे आहारको ग्रहण करनेसे साधुको गृहस्थके आरम्भजन्य सभी दोषोंका भागी होना पड़ता है। साधु जो भी आहार लेता है वह शरीरकी पुष्टिके लिए न लेकर एकमात्र रत्नत्रयकी सिद्धिके लिए लेता है, इसलिए साधु आहारके समय ऐसे दोषोंका परिहार कर आहार लेता है जिनके होने पर गृहस्थ भी आहारका त्याग कर देता है। ये दोष दाता, पात्र और देय द्रव्यके आश्रयसे न होकर अन्य कारणोंसे होते हैं, इसलिए इनके होने पर साधु अन्तराय मान कर आहार क्रियासे विमुख होता है, इसलिए इनको अन्तराय संज्ञा दी गई है। कुल अन्तराय बत्तीस हैं। उनके नाम ये हैं—काक, अमेध्य, छर्दि, रुधिर, अश्रुपात, जन्तु जान्वधः स्पर्श, जन्तु जानु उपरिव्यतिक्रम, नाभि अधःनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, जन्तुवध, काकादिपिण्डहरण, पाणिपुटसे ग्रासपतन, पाणिपात्रमें आकर जन्तुका वध होना, मांसादिका देखना, उपसर्ग, दोनों पैरोंके मध्यसे पञ्चेन्द्रिय जीवका निकल जाना, दाताके हाथसे भाजनका छूट कर गिर पड़ना, टट्टीका हो जाना, पेशाबका निकल पड़ना, अभोज्यगृहमें प्रवेश

करना, साधुका मूर्च्छा आदि कारणसे स्वयं गिर पड़ना, साधुका किसी कारणवश स्वयं बैठ जाना, कुत्ता आदिके द्वारा साधुको काट लेना, साधुके द्वारा हाथसे भूमिको छू लेना, मुँह आदिसे कफ आदिका निकल पड़ना, साधुके पेटसे कृमि आदिका निकल पड़ना, साधु द्वारा विना दी हुई वस्तुको ग्रहण कर लेना, तलवार आदिसे स्वयं अपने ऊपर या दूसरेके ऊपर प्रहारका किया जाना, ग्राममें अग्नि लग जाना, पैरसे किसी वस्तुका उठाना तथा हाथसे किसी वस्तुका ग्रहण करना।

ये बत्तीस अन्तराय हैं। इनमेंसे किसी भी कारणसे आहार लेनेमें बाधा उपस्थित हो जाने पर साधु आहारका त्याग कर देता है। इसी प्रकार भयका कारण उपस्थित होने पर तथा लोकजुगुप्साके होने पर साधु संयम और निर्वेदकी सिद्धिके लिए आहारका त्याग कर देता है।

कुछ अन्तरायोंका स्पष्टीकरण—

यों तो सब अन्तरायोंका अर्थ स्पष्ट है, इसलिए उन सबके विषयमें यहाँ पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। किन्तु काक और अभोज्यगृह प्रवेश ये दो अन्यराय ऐसे हैं जिनके विषयमें कुछ भी न लिखना भ्रमको पैदा करनेवाला है, इसलिए यहाँ क्रमसे उनका विचार किया जाता है। काक शब्दका अर्थ स्पष्ट है। इसके द्वारा उन सब पक्षियोंका ग्रहण किया गया है जो कौएके समान अशुचि पदार्थ मांस आदिका भक्षण करते हैं और विष्ठा आदि पर जा बैठते हैं। मालूम पड़ता है कि इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई कौआ आदि पक्षी साधुके मनलित शरीरको देख कर या पिण्ड (भोजन) ग्रहण करनेकी इच्छासे साधुके शरीरपर आ बैठे या भोजन देख कर उसके लिए झपटे तो साधुको अन्तराय मान कर उस दिन अहार-पानीका त्याग कर देना चाहिए।

दूसरा अन्तराय अभोज्यगृहप्रवेश है। जिस घरका साधुको भोजन नहीं लेना चाहिए उस घरमें प्रवेश हो जाने पर वह अन्तराय मानकर उस

दिन आहारका त्याग कर देता है यह इस पदका सामान्य अर्थ है। विशेष रूपसे विचार करने पर इसके तीन अर्थ हो सकते हैं–प्रथम मिथ्यादृष्टिका घर, दूसरा चाण्डाल आदि शूद्रोंका घर और तीसरा जिस घरमें मांस आदि पकाया जाता है ऐसा घर। प्रकृतमें इनमेंसे साधुपरम्परामें कौन अर्थ इष्ट रहा है इसका विचार करना है।

आगममें बतलाया है कि जो मिथ्यादृष्टि मुनियोंको आहार देते समय आयुबन्ध करते हैं उन्हें उत्तम भोगभूमिसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है, जो मिथ्यादृष्टि विरताविरत श्रावकोंको आहार देते समय आयुबन्ध करते हैं उन्हें मध्यम भोगभूमिसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है और जो मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टियोंको आहार देते समय आयुबन्ध करते हैं उन्हें जघन्य भोगभूमिसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। इससे मालूम पड़ता है कि प्रकृतमें 'अभोज्यगृह' शब्दका अर्थ 'मिथ्यादृष्टि घर' तो हो नहीं सकता। तथा मूलाचारमें बलिदोषका विवेचन करते हुए जो कुछ कहा गया है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है और यह असम्भव भी नहीं है, क्योंकि जब आम जनता विविध सम्प्रदायोंमें विभक्त नहीं हुई थी और राजा गण सब धर्मोंके प्रति समान आदर व्यक्त करते रहते थे तब साधुओंको यह विवेक करना असम्भव हो जाता था कि कौन गृहस्थ किस धर्मको माननेवाला है। इसलिए वे जो भी गृहस्थ आगमविहित विधिसे आहार देता था उसे स्वीकार कर लेते थे। इसलिए प्रकृतमें 'अभोज्यगृह' शब्दका अर्थ 'मिथ्यादृष्टिका घर' तो लिया नहीं जा सकता।

प्रकृतमें इस शब्दका अर्थ 'चण्डाल आदिका घर' करना भी ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक तो इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके जिन घरोंमें मांसादि पकाया जाता है उन घरोंका वारण नहीं होता। दूसरे यदि प्रकृतमें इस शब्दसे चण्डाल आदिका घर इष्ट होता तो जिस प्रकार दायक दोषका उल्लेख करते समय उन्होंने वेश्या और श्रमणीको दान देनेके अयोग्य घोषित किया है उसी प्रकार वे चण्डाल आदिको भी उसके

अयोग्य घोषित करते। तीसरे जैनधर्ममें जन्मसे जातिव्यवस्था मान्य नहीं है, इसलिए भी यहाँ पर अभोज्यगृहका अर्थ 'चण्डाल आदिका घर' करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। चौथे यदि मूलाचारकारको चण्डाल आदि जाति विशेषको आहार देनेके अयोग्य घोषित करना इष्ट होता तो वे 'अभोज्य गृहप्रवेश' ऐसे सामान्य शब्दको न रखकर आहार देनेके अयोग्य जातियोंका स्पष्ट नामोल्लेख करते। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मूलाचार मूलमें वह शब्द 'वेसी' है जिसका अर्थ यहाँ पर वेश्या या दासी किया गया है। प्राकृतमें इस शब्दके सन्निकटवर्ती वेसिणी, वेसिया और वेस्सा ये तीन शब्द हमारे देखनेमें आये हैं जिनका अर्थ वेश्या होता है। इस अर्थमें वेसी शब्द हमारे देखनेमें नहीं आया। मूलमें यह शब्द समणी शब्दके पास पठित है, इसलिए सम्भव है कि यह शब्द किसी भी प्रकारके साधु लिङ्गको धारण करनेवाले व्यक्तिके अर्थमें आया हो। या वेसी शब्दका अर्थ द्वेपी या अन्य लिङ्गधारी भी होता है, इसलिए यह भी सम्भव है कि जो प्रत्यक्षमें श्रमणोंकी नवधा भक्ति न कर रहा हो या जो अन्य लिङ्गी साधु हो उस अर्थमें यह शब्द आया हो। मूलाचारकी टीकामें इसका पर्यायवाची वेश्या दिया है। उसके अनुसार इसका अर्थ यदि वेश्या ही किया जाता है तब भी कर्मकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। इस प्रकार सब दृष्टिसे विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि प्रकृतमें 'अभोज्यगृहप्रवेश' शब्दका अर्थ जिस घरमें मांस पक रहा है या मदिरा उतारी जा रही है या इसी प्रकारका अन्य कार्य किया जा रहा है ऐसे घरमें प्रवेश करने पर साधु उस दिन आहारका त्याग कर देता था।

मूलाचारमें अन्तरायोंका उपसंहार करते हुए एक गाथा और आती है जिसमें कहा गया है कि 'भोजनके परित्याग करनेके ये तथा बहुतसे अन्य कारण हैं। ये होने पर तथा भय और लोकजुगुप्सा होने पर साधुको संयम और निर्वेदकी रक्षाके लिए आहारका त्याग कर देना चाहिए।' इससे ऐसा भी मालूम पड़ता है कि साधुके आहारके लिए चारिका करते समय

यदि किसी मनुष्यके द्वारा उनके प्रति जुगुप्साको पैदा करनेवाला अभद्र व्यवहार किया जाता था तब भी साधु आहारका परित्याग कर देते थे।

अन्य साहित्य—

यहाँ तक हमने मूलाचारके अनुसार विचार किया। अब आगे उत्तर-कालीन साहित्यके आधारसे विचार करते हैं। उसमें सर्व प्रथम हम आचार्य वसुनन्दिकृत मूलाचारकी टीकाको ही लेते हैं। इसमें दो स्थल ऐसे हैं जहाँ चण्डाल शब्द आता है। प्रथम स्थल 'अभोज्यगृहप्रवेश' शब्दकी व्याख्याके प्रसङ्गसे आया है। वहाँ पर अभोज्यगृहप्रवेशकी व्याख्या करते हुए उसका अर्थ 'चण्डालादिगृहप्रवेश' किया गया है। तथा दूसरा स्थल अन्तरायोंका उपसंहार करते हुए बुद्धिसे अन्य अन्तरायोंके जाननेकी सूचनाके प्रसङ्गसे आया है। वहाँ कहा गया है कि चण्डाल आदिका स्पर्श होने पर भी मुनिको उस दिन आहारका परित्याग कर देना चाहिए।

यह तो हम मूलाचारके आधारसे स्पष्टीकरण करते समय ही बतला आए हैं कि मूलमें कोई जातिवाची शब्द नहीं आया है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि न तो आचार्य वट्टकेरको किसी जाति विशेषको दान देनेके अयोग्य घोषित करना इष्ट था और न जैनाचारके अनुसार कोई जाति विशेष दान देनेके अयोग्य मानी ही जाती थी। और यह ठीक भी है, क्योंकि जब चण्डाल जैसा निष्कृष्ट कर्म करनेवाले व्यक्तिको धर्मका अधिकारी माना जाता है। ऐसी अवस्थामें उसे अतिथिसंविभाग व्रतका समुचित रीतिसे पालन करनेका अधिकार न हो यह जिनाज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थाके रहते हुए उत्तर कालमें तथाकथित चण्डाल आदि अस्पृश्य शूद्र दान देनेके अयोग्य घोषित कैसे किये गये यह अवश्य ही विचारणीय हो जाता है। अतएव आगे सर्व प्रथम इसी बातका साङ्गोपाङ्ग विचार किया जाता है।

हम पहले दीक्षाग्रहण मीमांसा प्रकरणमें यह बतला आये हैं कि सर्व प्रथम पतञ्जलि ऋषिने निरवसित शूद्रोंकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि जिनके द्वारा भोजनादि व्यवहारमें लाये गये पात्र संस्कार करनेसे भी शुद्ध नहीं होते वे निरवसित शूद्र हैं। वहाँ उन्होंने ऐसे शूद्रोंके चण्डाल और मृतप ये दो उदाहरण उपस्थित किये हैं। उसके बाद जैनेन्द्र-व्याकरण और उसके टीकाकारोंको छोड़कर पणिनिव्याकरणके अन्य टीकाकारों और शाकटायनकारने भी इसी व्याख्याको मान्य रखा है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्मशास्त्रको यह व्याख्या मान्य है, क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा गया है कि जब कोई द्विज भोजन कर रहा हो तब उसे चाण्डाल, वराह, कुक्कुट, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक न देखें।[1] (किन्तु जैनधर्ममें यह कथन मान्य नहीं है। कारण कि जब आदिनाथका जीव पूर्वभवमें वज्रजंघ राजा थे। तब उनके साधु होनेपर उनके आहार लेते समय आहारविधि देखनेवालोंमें एक वराह भी था।) मात्र इसीलिए पतञ्जलि ऋषिने अपने भाष्यमें उस व्याख्याको स्वीकार किया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि उस समय लोकमें ऐसी प्रथा प्रचलित थी कि ब्राह्मण धर्मशास्त्रके अनुसार अन्य जातिवाले चण्डाल और मृतप लोगोंके व्यवहारमें लाये गये पात्र अपने उपयोगमें नहीं लाते थे। यही कारण है कि शाकटायनकारने भी उसी लोकरूढ़िको ध्यानमें रखकर अपने व्याकरण में ऐसे शूद्रोंको अपात्र्यशूद्र कहा है। पर इसका अर्थ यदि कोई यह करे कि शाकटायनकार मोक्षमार्गकी दृष्टिसे भी ऐसे शूद्रोंको अपात्र्यशूद्र मानते रहे हैं तो उसका ऐसा अर्थ करना सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि व्याकरण शास्त्र कोई धर्मशास्त्र नहीं है। वह जिस प्रकार धर्मशास्त्रमें प्रचलित शब्द प्रयोगका वहाँ जो अर्थ लिया जाता है उसे स्वीकार करके चलता है। उसी प्रकार उसका यह काम भी है कि लोकमें जो शब्दप्रयोग जिस अर्थमें

---

१ मनुस्मृति अध्याय ३ श्लो० २३९।

व्यवहृत होता है उसे भी वह स्वीकार करे। यह न्यायोचित मार्ग है और शाकटायनकारने प्रकृतमें इसी मार्गका अनुसरण किया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि शाकटायनकारको यह अर्थ अपने धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे भी मान्य रहा है, क्योंकि इसका पूर्ववर्ती जितना आगम साहित्य और चरणानुयोगका साहित्य उपलब्ध होता है उसमें जब जातिवादको मोक्षमार्गमें प्रश्रय ही नहीं दिया गया है ऐसी अवस्थामें शाकटायनकार उस अर्थको धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे कैसे स्वीकार कर सकते थे? अर्थात् नहीं कर सकते थे और उन्होंने किया भी नहीं है। हम तो एक मीमांसकके नाते यह भी कहनेका साहस करते हैं कि जैनेन्द्रव्याकरणमें 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम्' सूत्र भी लौकिक दृष्टिसे ही कहा गया है मोक्षमार्गकी दृष्टिसे नहीं। यदि कोई निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करे तो उसकी दृष्टिमें यह बात अनायास आ सकती है कि जैनसाहित्यमें ब्राह्मणादि वर्णोंके आश्रयसे जितना भी विधि-विधान किया गया है वह सबका सब लौकिक है और लगभग नौवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है, इसलिए वह आगम परम्पराका स्थान नहीं ले सकता। किन्तु जब कोई भी वस्तु किसी भी मार्गसे कहीं प्रवेश पा लेती है तो धीरे धीरे वह अपना स्थान भी बना लेती है। जातिवादके सम्बन्धमें भी यही हुआ है। पहले लौकिक दृष्टिसे व्याकरण साहित्यमें इसने प्रवेश किया और उसके बाद वह विधिवचन बनकर धर्मशास्त्रमें भी घुस बैठा। इसलिए यदि आचार्य वसुनन्दिने 'अभोज्यगृहप्रवेश' शब्दका अर्थ 'चण्डालादिगृहप्रवेश' किया भी है तो इससे हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। साथ ही उनका यह कह कहना कि 'चण्डालादिका स्पर्श होनेपर साधु उस दिन अपने आहारका त्याग कर देते हैं' हमें आश्चर्यकारक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस कालमें जातिवादने अपना पूरा स्थान बना लिया था। जो समुदाय इसे स्वीकार किये विना यहाँ टिक सका हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता। बौद्धधर्मके भारतवर्षसे लुप्त हो जानेका एक कारण उसका जातिवादको स्वीकार न करना भी रहा है। इस प्रकार

मूलाचार मूलमें वह भाव न होते हुए भी वसुनन्दि आचार्यने उसकी टीका में जिस तत्त्वका प्रवेश किया है उसे तो सोमदेव सूरिने मान्य रखा ही। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जो कदर्य हैं, अव्रती हैं, दीन हैं, करुणाके पात्र हैं, पतित हैं, शिल्पकर्म और कारुकर्मसे अपनी आजीविका करते हैं, भाट हैं और जो कुटनीके कर्ममें रत हैं उनके यहाँ भी साधु भोजन न करे। सोमदेव सूरिके इस कथनमें मुख्यरूपसे शिल्पकर्म और कारुकर्मसे अपनी आजीविका करनेवालेको साधुको आहार देनेके अयोग्य घोषित करना ध्यान देने योग्य है। यद्यपि इनके उत्तरकालवर्ती पण्डितप्रवर आशाधरजी केवल उसी तथ्यको स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं जिसे आचार्य वसुनन्दिने मूलाचारकी टीकामें स्वीकार किया है। परन्तु सोमदेवसूरिके उक्त कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्पृश्यशूद्रको भी दान देनेके अयोग्य मानते रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर कालमें कुछ लेखक जिस प्रकारकी लौकिक विधि प्रचलित हुई उसके अनुसार विधि-निषेध करने लगे थे। उदाहरणार्थ सोमदेवसूरि लिखते हैं कि जो अव्रती है उसके हाथसे साधुको आहार नहीं लेना चाहिए। यदि इस दृष्टिसे महापुराणका अवलोकन करते हैं तो उसका भाव भी लगभग यही प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें जिसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है वह दान देनेका अधिकारी नहीं माना गया है। हमारी समझ है कि इसी भावको व्यक्त करनेके लिए ही यहाँ पर सोमदेव सूरिने अव्रती, शिल्पकर्म करनेवाले और कारुकर्म करनेवालेको दान देनेके अधिकारसे वञ्चित किया है। यदि इन तथ्योंके प्रकाशमें हम देखते हैं तो विदित होता है, कि नौवीं दशवीं शताब्दीसे 'जातिके आधार पर दान देनेके अधिकारी कौन हैं' इस प्रश्नको लेकर दो धाराएँ चल पड़ी थीं—एक आचार्य जिनसेनके मन्तव्योंकी ओर दूसरी आचार्य वसुनन्दिके मन्तव्योंकी। आचार्य जिनसेनने यह मत प्रस्थापित किया कि जिसका उपनयन संस्कार हुआ है

वही मात्र दानादि कर्मोंका अधिकारी है शूद्र नहीं, और आचार्य वसुनन्दि उपनयन संस्कारके पक्षपाती नहीं जान पड़ते, इसलिए उन्होंने व्याकरणादि ग्रन्थोंके आश्रयसे और सबको तो उसका अधिकारी माना, मात्र अस्पृश्य शूद्रोंको वह अधिकार नहीं दिया। यशस्तिलकचम्पू और अनगारधर्मामृत में हमें क्रमशः इन्हीं दो धाराओंका स्पष्टतः दर्शन होता है। अनगार-धर्मामृतका उत्तरकालवर्ती जितना साहित्य है वह एक तो उतना प्रौढ़ नहीं है जिसके आधारसे यहाँ पर स्वतन्त्ररूपसे विचार किया जाय। दूसरे जो कुछ भी है वह इस या उस रूपमें प्रायः यशस्तिलकचम्पू और अनगारधर्मामृतका ही अनुसरण करता है। जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि जैनधर्ममें जातिवादके प्रवेश होनेके पूर्व काल तक अमुक जातिवाला दान देनेके योग्य नहीं है इस प्रकारकी व्यवस्था न होकर कर्मके आधार पर इसका विचार किया जाता था। यदि किसी ब्राह्मणके घरमें मांस पकाया जाता था तो साधु उसके घरको अभोज्यगृह समझ कर आहार नहीं लेते थे और किसी शूद्रके घर मांस नहीं पकाया जाता था या वह हिंसाबहुल आजीविका नहीं करता था तो भोज्यगृह समझ कर आगमविधिसे उसके यहाँ आहार ले लेते थे यह उक्त कथनका तात्पर्य है। और यह ठीक भी है, क्योंकि मोक्षमार्गमें जातिवादको स्थान मिलना सर्वथा असम्भव है।

समवसरणप्रवेश मीमांसा

समवसरण धर्मसभा है—

समवसरण धर्मसभाका दूसरा नाम है। इसका अन्तःप्रदेश इस पद्धतिसे बारह भागोंमें विभाजित किया जाता है जिससे उनमें बैठे हुए भव्य जीव निकटसे भगवान् तीर्थङ्कर जिनका दर्शन कर सकें और उनका

उपदेश सुन सकें। इसके बीचों बीच एक गन्धकुटी होती है जिसके मध्यस्थित सिंहासनका ऊपरी भाग स्वर्णमयी दिव्य कमलसे सुसज्जित किया जाता है। तीर्थङ्कर जिन इसीके ऊपर अन्तरीक्ष विराजमान होकर गन्धकुटीके चारों ओर बैठे हुए चारों निकायोंके देव, उनकी देवियाँ, तिर्यञ्च और मनुष्य, उनकी स्त्रियाँ तथा संयत और आर्यिका इन सबको समान भावसे मोक्षमार्गका और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सात तत्त्व, छह द्रव्य, नौ पदार्थ, आठ कर्म, उनके कारण, चौदह मार्गणाएँ, चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमासोंका उपदेश देते हैं। यह एक ऐसी धर्मसभा है जिसकी तुलना लोकमें अन्य किसी सभासे नहीं की जा सकती। यह स्वयं उपमान है और यही स्वयं उपमेय है। इसके सिवा एक धर्मसभा और होती है जिसे गन्धकुटी कहते हैं। यह सामान्य केवलियोंके निमित्तसे निर्मित होती है। इन दोनों धर्मसभाओंकी रचना इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर करता है। इनमें आनेवालोंके प्रति किसी प्रकारका भेदभाव नहीं बरता जाता। समानताके आधार पर सबको अपने अपने कोठोंमें बैठनेके लिए स्थान सुरक्षित रहता है। लोकमें प्रसिद्धिप्राप्त जीवोंको बैठनेके लिए सब प्रकारकी सुविधासे सम्पन्न उत्तम स्थान मिलता हो और दूसरोंको पीछे धकेल दिया जाता हो ऐसी व्यवस्था यहाँकी नहीं है। देव, दानव, मनुष्य और पशु सब बराबरीसे बैठकर धर्मश्रवणके अधिकारी हैं यह यहाँका मुख्य नियम है। समानताके आधार पर की गई व्यवस्था द्वारा यह स्वयं प्रत्येक प्राणीके मनमें वीतरागभावको जागृत करनेमें सहायक है, इसलिए इसकी समवसरण संज्ञा सार्थक है।

समवसरणमें प्रवेश पानेके अधिकारी—

साधारण रूपसे पहले हम यह निर्देश कर आये हैं कि उस धर्म-सभामें देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सबको प्रवेश कर धर्म सुननेका अधिकार है। धर्मश्रवणकी इच्छासे वहाँ प्रवेश करनेवालेको कोई रोके ऐसी व्यवस्था

वहाँकी नहीं है। वहाँ कोई रोकनेवाला ही नहीं होता। स्वेच्छासे कौन व्यक्ति वहाँ जाते हैं और कौन नहीं जा सकते इसका विचार जैन-साहित्यमें किया गया है, इसलिए यहाँ पर उसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें वहाँ नहीं जानेवालोंका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्यादृष्टि हैं, अभव्य हैं, असंज्ञी हैं, अनध्यवसित हैं, संशयालु हैं और विपरीत श्रद्धावाले हैं ऐसे जीव समवसरणमें नहीं पाये जाते।' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे जीवोंको वहाँ जानेसे कोई रोकता है। किन्तु इसका इतना ही तात्पर्य है कि असंज्ञी जीवोंके मन नहीं होता, इसलिए उनमें धर्मश्रवणकी पात्रता नहीं होनेसे वे वहाँ नहीं जाते। अभव्योंमें धर्माधर्मका विवेक करनेकी और धर्मको ग्रहण करनेकी पात्रता नहीं होती, इसलिए ये स्वभावसे वहाँ नहीं जाते। अब रहे शेष संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि आदि जीव सो एक तो ऐसा नियम है कि जो उस समवसरण भूमिमें प्रवेश करते हैं उनका मिथ्यात्वभाव स्वयमेव पलायमान हो जाता है, इसलिए यहाँ पर यह कहा गया है कि वहाँ पर मिथ्यादृष्टि जीव नहीं पाये जाते। दूसरे जो तीव्र मिथ्यादृष्टि होते हैं उन्हें कुतूहलवश भी मोक्षमार्गका उपदेश सुननेका भाव नहीं होता, इसलिए वे समवसरणमें आते ही नहीं। इतना ही नहीं, वे अपने तीव्र मिथ्यात्वके कारण वहाँ आनेवाले दूसरे लोगोंको भी वहाँ जानेसे मना करते हैं, इसलिए भी मिथ्यादृष्टि जीव वहाँ नहीं पाये जाते यह कहा गया है। अब रहे अनध्यवसित चित्तवाले, संशयालु और विपरीत बुद्धिवाले जीव सो ये सब जीव भी मिथ्यादृष्टि ही माने गये हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंके पाँच भेदोंमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए ऐसे जीव भी वहाँ नहीं पाये जाते। इसके सिवा इतना और समझ लेना चाहिए कि क्षेत्रादिके व्यवधानके कारण जो जीव वहाँ नहीं आ सकते ऐसे जीव भी वहाँ नहीं पाये जाते। इनके सिवा शेष जितने देव, मनुष्य और पशु होते हैं वे सब वहाँ आकर धर्मश्रवण करते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। वहाँ आनेके

बाद बैठनेका क्रम क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए जैन-साहित्यमें बतलाया है कि तीर्थङ्कर जिनकी गन्धकुटीके चारों ओर जो बारह कोठे होते हैं उनमें पूर्व या उत्तर दिशासे प्रारम्भ होकर प्रदक्षिणा क्रमसे पहले कोठेमें गणधर और मुनिजन बैठते हैं। दूसरे कोठेमें कल्पवासिनी देवियाँ बैठती हैं, तीसरे कोठेमें आर्यिकाएँ और मनुष्य स्त्रियाँ बैठती हैं, चौथे कोठेमें भवनवासिनी देवियाँ बैठती हैं, पाँचवें कोठेमें व्यन्तरदेवियाँ बैठती हैं, छठे कोठेमें ज्योतिषीदेवियाँ बैठती हैं, सातवें कोठेमें भवनवासी देव बैठते हैं, आठवें कोठेमें व्यन्तर देव बैठते हैं, नौवें कोठेमें ज्योतिषी देव बैठते हैं, दसवें कोठेमें कल्पवासी देव बैठते हैं, ग्यारहवें कोठेमें मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कोठेमें पशु बैठते हैं। इस प्रकार वहाँ पर सब प्रकारके देव, सब प्रकारके मनुष्य और सब प्रकारके पशुओंको प्रवेश मिलता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

हरिवंशपुराणके एक उल्लेखका अर्थ—

ऐसी स्थितिके होते हुए भी कुछ विवेचक हरिवंशपुराणके एक उल्लेखके आधार पर यह कहते हैं कि समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश निषिद्ध है। उल्लेख इस प्रकार है—

> तत्र बाह्ये परित्यज्य वाहनादिपरिच्छदम्।
> विशिष्टकाकुदैर्युक्ता मानपीठं परीत्य ते ॥५७–१७१॥
> प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः।
> उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥५७–१७२॥
> पापशीला विकुर्माणाः शूद्राः पाखण्डपाण्डवाः।
> विकलाङ्गेन्द्रियोद्भ्रान्ता परियन्ति बहिस्ततः ॥५७–१७३॥

तात्पर्य यह है कि समवसरणके प्राप्त होने पर वाहन आदि सामग्रीको बाहर ही छोड़कर और विशिष्ट चिह्नोंसे युक्त होकर सर्व प्रथम मानपीठकी प्रदक्षिणाक्रमसे अनादि मानस्तम्भकी वन्दना कर उत्तम भक्तियुक्त उत्तम

पुरुष भीतर प्रवेश करते हैं। तथा पापशील विकारयुक्त शूद्रतुल्य पाखण्डी धूर्त पुरुष, तथा विकलाङ्ग, विकलेन्द्रिय और भ्रमिष्ठ जीव उसके बाहर ही घूमते रहते हैं।

अब विचार इस बातका करना है कि क्या उक्त उल्लेखमें आया हुआ शूद्र शब्द शूद्र जातिका वाचक है या इसका कोई दूसरा अर्थ है? अन्य प्रमाणोंके आधारसे यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि समवसरणमें मुख्यरूपसे मिथ्यदृष्टि और असंज्ञी ये दो प्रकारके जीव नहीं पाये जाते। अभव्योंका मिथ्यादृष्टियोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तथा विकलाङ्ग और विकलेन्द्रियोंका असंज्ञियोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। यदि इस दृष्टि से उक्त उल्लेख पर दृष्टिपात करते हैं तो इससे भी वही पूर्वोक्त अर्थ फलित होता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ 'पापशीला विकुर्माणाः' इत्यादि श्लोकके पूर्वार्ध द्वारा मिथ्यादृष्टियोंका ग्रहण किया है। तथा इसी श्लोकके उत्तरार्धमें आये हुए 'विकलाङ्गेन्द्रिय' पद द्वारा असंज्ञियोंका ग्रहण किया है और 'उद्भ्रान्त' पद द्वारा संशयालु, अनध्यवसित और विपर्यस्त जीवोंका ग्रहण किया है। इसलिए इस श्लोकमें आया हुआ 'शूद्र' शब्द जातिविशेषका वाची न होकर 'पापशीला विकुर्माणाः' इन पदोंके समान ही 'पाखण्डपाण्डवाः' इस पदका विशेषण जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि लोकमें शूद्र निकृष्ट माने जाते हैं, इसलिए इस तथ्यको ध्यानमें रखकर ही यहाँ पर आचार्य जिनसेनने पाखण्डपाण्डवोंको शूद्र कहा है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि 'पाखण्डपाण्डव' इस पद द्वारा आचार्य जिनसेन मुख्य रूपसे क्रियाकाण्डी अन्य लोगोंकी ओर ही संकेत कर रहे हैं। 'पापशीला विकुर्माणाः' ये दो विशेषण भी उन्हींको लक्ष्यमें रखकर दिये गये हैं, इसलिए उनके लिए दिये गये शूद्र विशेषणकी और भी सार्थकता बढ़ जाती है। यदि ऐसा न मानकर इस श्लोकमें आये हुए प्रत्येक पदको स्वतन्त्र रखा जाता है तो उसकी विशेष सार्थकता नहीं रह जाती। और प्रकृतमें यह अर्थ करना सर्वथा उपयुक्त भी है, क्योंकि चिर

कालसे ब्राह्मणोंका जैनधर्मके प्रति विरोध चला आ रहा है। कोई तीर्थङ्करोंकी शरणमें जाकर जैनधर्ममें दीक्षित हो यह उन्हें कभी भी इष्ट नहीं रहा है। जात्यहंकारसे दूषित चित्तवाले मनुष्य दूसरोंको शूद्र मानकर उनका अनादर कर सकते हैं। परन्तु समीचीन धर्मसे विमुख होनेके कारण वास्तवमें शूद्र कहलानेके योग्य वे मनुष्य ही हैं, एकमात्र इस अभिप्रायको ध्वनित करनेके लिए आचार्य जिनसेनने उन्हें यहाँ शूद्र विशेषण दिया है। यह विशेषण केवल उन्होंने ही दिया हो ऐसी बात नहीं है। आचार्य जिनसेनने महापुराणमें जैन द्विजोंका महत्त्व बतलाते हुए दूसरोंके लिए 'कर्मचाण्डाल' शब्द तकका प्रयोग किया है।[1] साहित्यमें और भी ऐसे स्थल मिलेंगे जहाँ पर दूसरोंके लिए इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग किया गया है, इसलिए यहाँ पर भी यदि पाखण्डपाण्डवोंको शूद्र कहा गया है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं दिखाई देती। लिखनेका तात्पर्य यह है कि समवसरणमें अन्य वर्णवाले मनुष्योंके समान शूद्र वर्णके मनुष्य भी जाते हैं। वहाँ उनके जानेमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंका भी यही अभिप्राय है। तथा युक्तिसे भी इसी बातका समर्थन होता है, क्योंकि जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि सिंह आदि हिंस्र पशु प्रतिदिन दूसरे जीवोंका वध करते हैं और मांस खाते हैं, इसलिए वे समवसरणमें जानेके अधिकारी नहीं हैं उसी प्रकार हम यह भी नहीं मान सकते कि निकृष्टसे निकृष्ट कर्म करनेवाला व्यक्ति भी समवसरणमें जानेका अधिकारी नहीं है। गौतम गणधर समवसरणमें आनेके पूर्व याज्ञिकी हिंसाका समर्थन करते थे। इतना ही नहीं, उस समयके वे प्रधान याज्ञिक होनेके कारण यज्ञमें निष्पन्न हुए मांस तकको स्वीकार करते रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। फिर भी उनमें पात्रता देख कर इन्द्र स्वयं उन्हें समवसरणमें लेकर आया। इसका

---

[1] पर्व ३९ श्लो० १२५।

जो भी सुन्दर फल निकला वह सबके सामने है। वस्तुतः जैनधर्मकी उदार वृत्ति ऐसे स्थल पर ही दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार कालकी गतिका निर्णय करना कठिन है उसी प्रकार किसी व्यक्तिके कब क्या परिणाम होंगे यह समझना भी कठिन है। जो वर्तमान कालमें लुटेरा और लम्पटी दिखलाई देता है वही उत्तरकालमें साधु बनकर आत्महित करता हुआ भी देखा जाता है। इसमें न तो किसीकी जाति बाधक है और न साधक है। अतएव सबको यही श्रद्धान करना चाहिए कि समवसरण एक धर्मसभा होनेके नाते उसमें शूद्रादि सभी मनुष्योंको जानेका अधिकार रहा है और रहेगा। इसकी पुष्टिमें हम पहले आगम प्रमाण तो दे ही आये हैं साथ ही हम यह भी सूचित कर देना चाहते हैं कि पुराण साहित्यमें भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो इस कथनका समर्थन करनेके लिए पर्याप्त हैं।

जिनमन्दिर-प्रवेश मीमांसा

शूद्र जिनमन्दिरमें जाएँ इसका कहीं निषेध नहीं—

पहले हम आगम और युक्तिसे यह सिद्ध कर आये हैं कि अन्य वर्णवाले मनुष्योंके समान शूद्रवर्णके मनुष्य भी जिनमन्दिरमें जाकर दर्शन और पूजन करनेके अधिकारी हैं। जिस धर्ममें मन्दिरमें जाकर दर्शन और पूजन करनेकी योग्यता तिर्यञ्चोंमें मानी गई हो उसके अनुसार शूद्रोंमें इस प्रकारकी योग्यता न मानी जाय यह नहीं हो सकता। अभी कुछ काल पहिले दस्साओंको मन्दिरमें जानेका निषेध था। किन्तु सत्य बात जनताकी समझमें आ जानेसे यह निषेधाज्ञा उठा ली गई है। जब निषेधाज्ञा थी तब दस्साभाई मन्दिरमें जाकर पूजा करनेकी पात्रता नहीं रखते थे यह बात नहीं है। यह वास्तवमें धार्मिक विधि न होकर एक सामाजिक बन्धन था जो दूसरोंकी देखादेखी जैनाचारमें भी सम्मिलित कर लिया

गया था। किन्तु यह ज्ञात होने पर कि इससे न केवल दूसरोंके नैसर्गिक अधिकारका अपहरण होता है, अपितु धर्मका भी घात होता है, यह बन्धन उठा लिया गया है। इसी प्रकार शूद्र मन्दिरमें नहीं जा सकते यह भी सामाजिक बन्धन है, योग्यतामूलक धार्मिक विधि नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि आगमके अनुसार तो सबके लिए समवसरणके प्रतीकरूप जिनमन्दिर-का द्वार खुला हुआ है। वह न कभी बन्द होता है और न कभी बन्द किया जा सकता है, क्योंकि जिनमन्दिरमें जाकर और जिनदेवके दर्शनकर अन्य मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके समान वे भी जिनदेवके दर्शन द्वारा आत्मानुभूति कर सकते हैं। यही कारण है कि आगममें कहीं भी शूद्रोंके मन्दिर प्रवेशके निषेधरूप वचन नहीं मिलता।

वैदिक परम्परामें शूद्रोंको धर्माधिकारसे वञ्चित क्यों किया गया है इसका एक कारण है। बात यह है कि आर्योंके भारतवर्षमें आनेपर यहाँके मनुष्योंको जीतकर जिन्हें उन्होंने दास बनाया था उन्हें ही उन्होंने शूद्र शब्द द्वारा सम्बोधित किया था। वे आर्योंकी बराबरीसे सामाजिक अधिकार प्राप्त न कर सकें, इसलिए उन्हें धर्माधिकार (सामाजिक धर्माधिकार) से वञ्चित किया गया था।[1] किन्तु जैनधर्म न तो सामाजिक धर्म है और न ही इसका दृष्टिकोण किसीको दासभावसे स्वीकार करनेका ही है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रमें परिग्रहपरिमाणव्रतका निर्देश करनेके प्रसङ्गसे दास और दासी ये शब्द आये हैं और इस व्रतमें उनका परिमाण करनेकी भी बात कही गई है। किन्तु उसका तात्पर्य किसीको दास-दासी बनानेका नहीं है। जो मनुष्य पहले दास-दासी रखे हुए थे वे जैन उपासककी दीक्षा लेते समय परिग्रहके समान उनका भी परिमाण कर लें और शेषको दास-दासीके कार्यसे मुक्त कर नागरिकताके पूरे अधिकार दे दें। साथ ही वे ही गृहस्थ जब समस्त परिग्रहका त्याग करें या परिग्रहत्याग प्रतिमा पर आरोहण करने

---

१. देखो मनुस्मृति अ० ४ श्लोक ८० आदि।

लगें तब चाहे दासी-दास हों या अन्य कोई सबको समान भावसे नागरिक समझें और धर्ममें उच्चसे उच्च नागरिकका जो अधिकार है वही अधिकार सबका मानें यह भी उसका तात्पर्य है। प्राचीन कालमें जो नागरिक सामाजिक अपराध करते थे उनमेंसे अधिकतर दण्डके भयसे घर छोड़कर धर्मकी शरणमें चले जाते थे यह प्रथा प्रचलित थी। ऐसे व्यक्तियोंको या तो बौद्धधर्ममें शरण मिलती थी या जैनधर्ममें। बुद्धदेवके सामने इस प्रकारका प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तरकालमें उन्होंने तो यह व्यवस्था दी कि यदि कोई सैनिक सेनामें से भाग आवे या कोई सामाजिक अपराध करनेके बाद धर्मकी शरणमें आया हो तो उसे बुद्धधर्ममें दीक्षित न किया जाय, परन्तु जैनधर्मने व्यक्तिके इस नागरिक अधिकार पर भूलकर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया है। इसका कारण यह नहीं है कि वह दोषको प्रश्रय देना चाहता है। यदि कोई इस परसे ऐसा निष्कर्ष निकाले भी तो यह उसकी सबसे बड़ी भूल होगी। वृक्षको काटनेवाला व्यक्ति यदि आतपसे अपनी रक्षा करनेके लिए उसी वृक्षकी छायाकी शरण लेता है तो यह वृक्षका दोष नहीं माना जा सकता। ठीक यही स्थिति धर्मकी है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और मिथ्यात्वके कारण पराधीन हुए जितने भी संसारी प्राणी हैं वे सब धर्मकी जड़ काटनेमें लगे हुए हैं। जो तथाकथित शूद्र हैं वे तो इस दोषसे बरी माने ही नहीं जाते, लौकिक दृष्टिसे जो उच्चवर्णी मनुष्य हैं वे भी इस दोषसे बरी नहीं हैं, तीर्थङ्करोंने व्यक्तिके जीवनमें वास करनेवाले इस अन्तरङ्ग मलको देखा था। फलस्वरूप उन्होंने उसीको दूर करनेका उपाय बतलाया था। शरीर और वस्त्रादिमें लगे हुए बाह्यमलका शोधन तो पानी, धूप, हवा और साबुन आदिसे भी हो जाता है। परन्तु आत्मामें लगे हुए उस अन्तरङ्ग मलको धोनेका यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र धर्म ही है। ऐसी अवस्थामें कोई तीर्थङ्कर यह कहे कि हम इस व्यक्तिके अन्तरङ्ग मलको धोनेसे लिए इस व्यक्तिको तो अपनी शरणमें आने देंगे और इस व्यक्तिको नहीं आने देंगे यह नहीं हो

सकता। स्पष्ट है कि जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च वर्णवाले मनुष्योंको जिनमन्दिरमें जाकर पञ्चपरमेष्ठीकी आराधना करनेका अधिकार है उसी प्रकार शूद्रवर्णके मनुष्योंको भी किसी भी धर्मायतनमें जाकर सामायिक प्रमुख भगवद्भक्ति, स्तवन, पूजन और स्वाध्याय आदि करनेका अधिकार है। यही कारण है कि बहुत प्रयत्न करनेके बाद भी हमें किसी भी शास्त्रमें 'शूद्र जिनमन्दिरमें जानेके अधिकारी नहीं है' इसका समर्थन करनेवाला वचन उपलब्ध नहीं हो सका।

हरिवंशपुराणका उल्लेख—

यह जैनधर्मका हार्द है। अब हम हरिवंशपुराणका एक ऐसा उल्लेख उपस्थित करते हैं जिससे इसकी पुष्टि होनेमें पूरी सहायता मिलती है। बलभद्र विविध देशोंमें परिभ्रमण करते हुए विद्याधर लोकमें जाते हैं और वहाँ पर बलि विद्याधरके वंशमें उत्पन्न हुए विद्युद्वेगकी पुत्री मदनवेगाके साथ विवाह कर सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगते हैं। इसी बीच सब विद्याधरोंका विचार सिद्धकूट जिनालयकी वन्दनाका होता है। यह देखकर बलदेव भी मदनवेगाको लेकर सबके साथ उसकी वन्दनाके लिए जाते हैं। जब सब विद्याधर जिनपूजा और प्रतिमागृहकी वन्दना कर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं तब बलदेवके अनुरोध करने पर मदनवेगा सब विद्याधर निकायोंका परिचय कराती है। वह कहती है—'जहाँ हम और आप बैठे हैं इस स्तम्भके आश्रयसे बैठे हुए तथा हाथमें कमल लिए हुए और कमलोंकी माला पहिने हुए ये गौरक नामके विद्याधर हैं। लाल मालाको धारण किये हुए और लाल वस्त्र पहिने हुए ये गान्धार विद्याधर गान्धार नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। नाना प्रकारके रंगवाले सोनेके रंगके और पीत रंगके रेशमी वस्त्र पहिने हुए ये मानवपुत्रक निकायके विद्याधर मानव नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। कुछ आरक्त रंगके वस्त्र पहिने हुए और मणियोंके आभूषणोंसे सुसज्जित ये मनुपुत्रक निकायके विद्याधर मान नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। नाना

प्रकारकी औषधियों को हाथमें लिए हुए तथा नाना प्रकारके आभरण और मालाओंको पहिने हुए ये मूलवीर्य निकायके विद्याधर औषधि नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। सब ऋतुओंके फूलोंसे सुवासित स्वर्णमय आभरण और मालओंको पहिने हुए ये अन्तर्भूमिचर निकायके विद्याधर भूमिमण्डक नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। नाना प्रकारके कुण्डलों और नागाङ्गदों तथा आभूषणोंसे सुशोभित ये शंकुक निकायके विद्याधर शंकु नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। मुकुटोंको स्पर्श करनेवाले मणिकुण्डलोंसे सुशोभित ये कौशिक निकायके विद्याधर कौशिक नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। ये सब आर्य विद्याधर हैं। इनका मैंने संक्षेपमें कथन किया। हे स्वामिन्! अब मैं मातङ्ग (चाण्डाल) निकायके विद्याधरोंका कथन करती हूँ, सुनो। नीले मेघोंके समान नील वर्ण तथा नीले वस्त्र और माला पहिने हुए ये मातङ्ग निकायके विद्याधर मातङ्ग नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। श्मशानसे प्राप्त हुई हड्डी और चमड़ेके आभूषण पहिने हुए तथा शरीरमें भस्म पोते हुए ये श्मशाननिलय निकायके विद्याधर श्मशान नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। नील वैडूर्य रंगके वस्त्र पहिने हुए ये पाण्डुरनिकायके विद्याधर पाण्डुरनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। कालहिरणके चर्मके वस्त्र और माला पहिने हुए ये कालस्वपाकी निकायके विद्याधर कालनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। पिङ्गल केशवाले और तप्त सोनेके रंगके आभूषण पहिने हुए ये श्वपाकी निकायके विद्याधर श्वपाकीनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। पर्णपत्रोंसे आच्छादित मुकुटमें लगी हुई नानाप्रकारकी मालाओंको धारण करनेवाले ये पार्वतेय निकायके विद्याधर पार्वतनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। बाँसके पत्तोंके आभूषण और सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूलोंकी मालाएं पहिने हुए ये वंशालय निकायके विद्याधर वंशनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। महाभुजंगोंसे शोभायमान उत्तम आभूषणोंको पहिने हुए ये वृक्षमूलक निकायके विद्याधर वृक्षमूलकनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं।'

यह हरिवंशपुराणका उल्लेख है। इसमें ऐसे विद्याधर निकायोंकी भी चरचा की गई है जो आर्य होनेके साथ-साथ सभ्य मनुष्योचित उचित वेषभूषाको धारण किये हुए थे और ऐसे विद्याधर निकायोंकी भी चरचा की गई है जो अनार्य होनेके साथ-साथ चाण्डाल कर्मसे भी अपनी आजीविका करते थे तथा हड्डियों और चमड़ों तकके वस्त्राभूषण पहिने हुए थे। यह तो स्पष्ट है कि विद्याधर लोकमें सदा कर्मभूमि रहती है, इसलिए वहाँके निवासी असि आदि षट्कर्मसे अपनी आजीविका तो करते ही हैं। साथ ही उनमें कुछ ऐसे विद्याधर भी होते हैं जो श्मशान आदिमें शवदाह आदि करके, मरे हुए पशुओंकी खाल उतारकर और हड्डियोंका व्यापार करके तथा इसी प्रकारके और भी निकृष्ट कार्य करके अपनी आजीविका करते हैं। इतना सब होते हुए भी वे दूसरे विद्याधरोंके साथ जिनमन्दिरमें जाते हैं, मिलकर पूजा करते हैं और अपने-अपने मुखियोंके साथ बैठकर परस्परमें धर्मचर्चा करते हैं। यह सब क्या है? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि किसी भी प्रकारकी आजीविका करनेवाला तथा निकृष्टसे निकृष्ट वस्त्राभूषण पहिननेवाला व्यक्ति भी मोक्षमार्गके अनुरूप धार्मिक प्राथमिक कृत्य करनेमें आजाद है। उसकी जाति और वेशभूषा उसमें बाधक नहीं होती। जिन आचार्योंने सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है और यह कहा है कि जो त्रस और स्थावरवधसे विरत न होकर भी जिनोक्त आज्ञाका श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है उनके उस कथनका एकमात्र यही अभिप्राय है कि केवल किसी व्यक्तिकी आजीविका, वेश-भूषा और जातिके आधारपर उसे धर्मका आचरण करनेसे नहीं रोका जा सकता। यह दूसरी बात है कि वह आगे-आगे जिस प्रकार व्रत, नियम और यमको स्वीकार करता जाता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर उसका हिंसाकर्म छूटकर विशुद्ध आजीविका होती जाती है, तथा अन्तमें वह स्वयं पाणिपात्रभोजी बनकर पूरी तरहसे आत्मकल्याण करने लगता है और अन्य प्राणियोंको आत्मकल्याण करनेका मार्ग प्रशस्त

करता है। वे पुरुष जिन्होंने जीवन भर हिंसादि कर्म करके अपनी आजीविका नहीं की है सबके लिए आदर्श और वन्दनीय तो हैं ही। किन्तु जो पुरुष प्रारम्भमें हिंसाकि कर्म करके अपनी आजीविका करते हैं और अन्तमें उससे विरक्त हो मोक्षमार्गके पथिक बनते हैं वे भी सबके लिए आदर्श और वन्दनीय हैं।

अन्य प्रमाण—

इस प्रकार हरिवंशपुराणके आधारसे यह ज्ञात हो जाने पर भी कि चाण्डालसे लेकर ब्राह्मण तक प्रत्येक मनुष्य जिन मन्दिरमें प्रवेश कर जिन पूजा आदि धार्मिक कृत्य करनेके अधिकारी हैं, यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मात्र हरिवंशपुराणके उक्त उल्लेखसे इसकी पुष्टि होती है या कुछ अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं जो इसकी पुष्टिमें सहायक माने जा सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि महापुराणकी रचनाके पूर्व किसीके सामने इस प्रकारका प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ था, इसलिए महापुराणके पूर्ववर्ती किसी आचार्यने इस दृष्टिसे विचार भी नहीं किया है। शूद्र सम्यग्दर्शन-पूर्वक श्रावक धर्मको तो स्वीकार करे किन्तु वह जिनमन्दिरमें प्रवेश कर जिनेन्द्रदेवकी पूजन-स्तुति न कर सके यह बात बुद्धिग्राह्य तो नहीं है। फिर भी जब महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने जैनधर्मको वर्णाश्रमधर्मके साँचेमें ढालकर यह विधान किया कि इज्यादि षट्कर्म करनेका अधिकार एकमात्र तीन वर्णके मनुष्यको है, शूद्रको नहीं तब उत्तरकालीन कतिपय लेखकोंको इस विषय पर विशेष ध्यान देकर कुछ न कुछ अपना मत बनाना ही पड़ा है। उत्तरकालीन साहित्यकारोंमें इस विषयको लेकर जो दो मत दिखलाई देते हैं उसका कारण यही है। सन्तोषकी बात इतनी ही है कि उनमेंसे अधिकतर साहित्यकारोंने देवपूजा आदि धर्मिक कार्योंको तीन वर्णके कर्तव्योंमें परिगणित न करके श्रावक धर्मके कार्योंमें ही परिगणित किया है और इस तरह उन्होंने आचार्य जिनसेनके कथनके प्रति अपनी असहमति ही व्यक्त की है। सोमदेवसूरि नीतिवाक्यामृतमें कहते हैं—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ।

तात्पर्य यह है कि जिस शूद्रका आचार निर्दोष है तथा घर, पात्र और शरीर शुद्ध है वह देव, द्विज और तपस्वियोंकी भक्ति पूजा आदि कर सकता है ।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकार एक अजैन विद्वान् हैं । उन्होंने भी उक्त वचनकी टीका करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है । श्लोक इस प्रकार है—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः ।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥

श्लोकका अर्थ वही है जो नीतिवाक्यामृतके वचनका कर आये हैं । इस प्रकार सोमदेवसूरिके सामने यह विचार उपस्थित होने पर कि शूद्र जिनमन्दिरमें जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है या नहीं, उन्होंने अपना निश्चित मत बनाकर यह सम्मति दी थी कि यदि उसका व्यवहार सरल है और उसका घर, वस्त्र तथा शरीर आदि शुद्ध है तो वह मन्दिरमें जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है ।

यहाँ पर इतना स्पष्ट जान लेना चाहिए कि सोमदेवसूरिने इस प्रश्नको धार्मिक दृष्टिकोणसे स्पर्श न करके ही यह समाधान किया है, क्योंकि धार्मिक दृष्टिसे देवपूजा आदि कार्य कौन करे यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कारण कि कोई मनुष्य ऊपरसे चाहे पवित्र हो और चाहे अपवित्र हो वह पञ्चपरमेष्ठीकी भक्ति, विनय और पूजा करनेका अधिकारी है । यदि किसीने पञ्चपरमेष्ठीकी भक्ति, विनय और पूजा की है तो वह भीतर और बाहर सब तरफसे शुद्ध है और नहीं की है तो वह न तो भीतरसे शुद्ध है और न बाहरसे ही शुद्ध है । हम भगवद्भक्ति या पूजाके प्रारम्भमें 'अपवित्रः पवित्रो वा' इस आशयके दो श्लोक पढ़ते हैं वे केवल पाठमात्रके लिए नहीं पढ़े जाते हैं । स्पष्ट है कि धार्मिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है । वह न

तो व्यक्तिके कर्मको देखता है और न उसकी बाहिरी पवित्रता और अपवित्रताको ही देखता है। यदि वह देखता है तो एकमात्र व्यक्तिकी श्रद्धाको जिसमेंसे भक्ति, विनय, पूजा और दान आदि सब धार्मिक कर्म उद्भूत होते हैं। आचार्य अमितिगतिने इस सत्यको हृदयंगम किया था। तभी तो उन्होंने आचार्य जिनसेन द्वारा प्ररूपित छह कर्मोंमेंसे वार्ताके स्थानमें गुरूपास्ति रखकर यह सूचित किया कि ये तीन वर्णके कार्य न होकर गृहस्थोंके कर्तव्य हैं। उन्होंने गृहस्थके जिन छह कर्मोंकी सूचना दी है वे हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

पण्डितप्रवर आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत, (अध्याय १ श्लो० १८) में इस प्रकारका संशोधन तो नहीं किया है। उन्होंने वार्ताके स्थानमें उसे ही रहने दिया है। परन्तु उसे रखकर भी वे उससे केवल असि, मषि, कृषि, और वाणिज्य इन चार कर्मोंसे आजीविका करनेवालोंको ग्रहण न कर सेवाके साथ छहों कर्मोंसे अपनी आजीविका करनेवालोंको स्वीकार कर लेते हैं। और इस प्रकार इस संशोधन द्वारा वे भी यह सूचित करते हैं कि देवपूजा आदि कार्य तीन वर्णके कर्तव्य न होकर गृहस्थधर्मके कर्तव्य हैं। फिर चाहे वह गृहस्थ किसी भी कर्मसे अपनी आजीविका क्यों न करता हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरकालवर्ती जितने भी साहित्यकार हुए हैं, प्रायः उन्होंने भी यही स्वीकार किया है कि जिनमन्दिरमें जाकर देवपूजा आदि कार्य जिस प्रकार ब्राह्मण आदि तीन वर्णका गृहस्थ कर सकता है उसी प्रकार चाण्डाल आदि शूद्र गृहस्थ भी कर सकता है। आगममें इससे किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। और यदि किसीने कुछ प्रतिबन्ध लगाया भी है तो उसे सामयिक परिस्थितिको ध्यानमें रखकर सामाजिक ही समझना चाहिए। आगमकी मनसा इस प्रकारकी नहीं है यह सुनिश्चित है।

इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रोंको श्री जिनमन्दिरमें जाने और पूजन-पाठ करनेका कहीं कोई निषेध नहीं है। महापुराणमें इज्या आदि षट्कर्म करनेका अधिकार जो तीन वर्णके मनुष्योंको दिया गया है उसका रूप सामाजिक है धार्मिक नहीं और उद्देश व अभिप्रायकी दृष्टिसे सामाजिक विधिविधान तथा धार्मिक विधिविधानमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि क्रिया एक प्रकारकी होनेपर भी दोनोंका फल अलग-अलग है। ऐसी अवस्थामें आचार्य जिनसेन द्वारा महापुराणमें कौलिक दृष्टिसे किये गये सामाजिक विधिविधानको आत्मशुद्धिमें सहायक मानना तत्त्वका अपलाप करना है। यद्यपि इस दृष्टिसे भगवद्भक्ति करते समय भी पूजक यह भावना करता हुआ देखा जाता है कि मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, समाधि-मरण हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो और मैं उत्तम गति जो मोक्ष उसे प्राप्त करूँ। जलादि द्रव्यसे अर्चा करते समय वह यह भी कहता है कि जन्म, जरा और मृत्युका नाश करनेके लिए मैं जलको अर्पण करता हूँ आदि। किन्तु ऐसी भावना व्यक्त करने मात्रसे वह क्रिया मोक्षमार्गका अङ्ग नहीं बन सकती, क्योंकि जो मनुष्य उक्त विधिसे पूजा कर रहा है उसकी आध्यात्मिक भूमिका क्या है, प्रकृतमें यह बात मुख्यरूपसे विचार-णीय हो जाती है।

यदि भगवद्भक्ति करनेवाला कोई व्यक्ति इस अभिप्रायके साथ जिनेन्द्रदेवकी उपासना करता है कि 'यह मेरा कौलिक धर्म है, मेरे पूर्वज इस धर्मका आचरण करते आये हैं, इसलिए मुझे भी इसका अनुसरण करना चाहिए। मेरा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें जन्म हुआ है, अतः मैं ही इस धर्मको पूर्णरूपसे पालन करनेका अधिकारी हूँ। जो शूद्र हैं वे इस धर्मका उस रूपसे पालन नहीं कर सकते, क्योंकि वे नीच हैं। यह मन्दिर भी मैंने या मेरे पूर्वजोंने बनवाया है, इसलिए मैं इसमें मेरे समान आजीविका करनेवाले तीन वर्णके मनुष्योंको ही प्रवेश करने दूँगा,

अन्यको नहीं। अन्य व्यक्ति यदि भगवद्भक्ति करना ही चाहते हैं तो वे मन्दिरके बाहर रहकर मन्दिरकी शिखरोंमें या दरवाजोंके चौखटोंमें स्थापित की गई जिनप्रतिमाओंके दर्शन कर उसकी पूर्ति कर सकते हैं। मन्दिरोंके सामने जो मानस्तम्भ निर्मापित किये गये हैं उनमें स्थापित जिनप्रतिमाओं के दर्शन करके भी वे अपनी धार्मिक भावनाकी पूर्ति कर सकते हैं। परन्तु मन्दिरोंके भीतर प्रवेश करके उन्हें भगवद्भक्ति करनेका अधिकार कभी भी नहीं दिया जा सकता।' तो उसका यह अभिप्राय मोक्षमार्गकी पुष्टिमें और उसके जीवनके सुधारमें सहायक नहीं हो सकता। भले ही वह लौकिक दृष्टिसे धर्मात्मा प्रतीत हो, परन्तु अन्तरङ्ग धर्मकी प्राप्ति इन विकल्पोंके त्यागमें ही होती है यह निश्चित है, क्योंकि प्रथम तो यहाँ यह विचारणीय है कि कौलिक दृष्टिसे की गई यह क्रिया क्या संसारबन्धनका उच्छेद करनेमें सहायक हो सकती है? एक तो ऐसी क्रियामें वैसे ही राग-भावकी मुख्यता रहती है, क्योंकि उसके बिना अन्य पदार्थके आलम्बनसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए आगममें इसका मुख्य फल पुण्यबन्ध ही बतलाया है, संसारका उच्छेद नहीं। यदि कहीं पर इसका फल संसारका उच्छेद कहा भी है तो उसे उपचार कथन ही जानना चाहिए। और यह स्पष्ट है कि उपचार कथन मुख्यका स्थान नहीं ले सकता। उपचारका स्पष्टीकरण करते हुए अन्यत्र कहा भी है—

मुख्याभावे सति प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

आशय यह है कि मुख्यके अभावमें प्रयोजन विशेषकी सिद्धिके लिए उपचार कथनकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए इतना स्पष्ट है कि अन्य पदार्थके आलम्बनसे प्रवृत्तिरूप जो भी क्रिया की जाती है वह उपचारधर्म होनेसे मुख्य धर्मका स्थान नहीं ले सकता। यद्यपि यह हम मानते हैं कि गृहस्थ अवस्थामें ऐसे धर्मकी ही प्रधानता रहती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थ मुख्य धर्मसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर इसे ही साक्षात् मोक्षका साधन मानने लगता है। स्पष्ट है कि जब मोक्षके अभिप्रायसे

किया गया व्यवहारधर्म भी साक्षात् मोक्षका साधन नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें जो आचार लौकिक दृष्टिसे किया जाता है वह धर्मका स्थान कैसे ले सकता है ? उसे तो व्यवहारधर्म कहना भी धर्मका परिहास करना है। अतएव निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि धर्ममें वर्णादिकके भेदसे विचारके लिए रञ्चमात्र भी स्थान नहीं है और यही कारण है कि जैनधर्मने व्यक्तिकी योग्यताके आश्रयसे उसका विचार किया है, वर्ण और जातिके आश्रयसे नहीं। जब यह वस्तुस्थिति है ऐसी अवस्थामें अन्य वर्णवालोंके समान शूद्र भी जिन मन्दिरमें जाकर जिनदेवकी अर्चा वन्दना करें यह मानना आगम सम्मत होनेसे उचित ही है।

आवश्यक षट्कर्म मीमांसा

महापुराण और अन्य साहित्य—

महापुराणमें तीन वर्णके मनुष्य ही यज्ञोपवीत संस्कार पूर्वक द्विज संज्ञाको प्राप्त होते हैं और वे ही इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इन छह कर्मोंके अधिकारी होते हैं यह बतलाया गया है। साथ ही वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि जब वे ब्रह्मचर्याश्रमका त्यागकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं तब उन्हींके मधुत्याग, मांसत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापोंका त्याग ये सार्व-कालिक व्रत होते हैं। महापुराणमें यह तो बतलाया है कि शूद्र यदि चाहे तो मरण पर्यन्त एक शाटक व्रतको धारण करे। परन्तु वह तथाकथित एक शाटक व्रतको पालते समय या उस व्रतको लेनेके पूर्व प्रति दिन और क्या क्या कार्य करे यह कुछ भी नहीं बतलाया गया है, इसलिए प्रश्न होता है कि शूद्रका गृहस्थ अवस्थामें अन्य क्या कर्तव्य कर्म है ? यह तो स्पष्ट है कि मनुस्मृतिकारने यजन, अध्ययन और दान देनेका अधिकारी शूद्रको न

मानकर केवल तीन वर्णके मनुष्यको माना है। साथ ही वहाँपर तीन वर्ण के मनुष्यके लिए इन्द्रियसंयम और तपका उपदेश भी दिया गया है[१]। वहाँ स्पष्ट कहा है कि जो द्विज संयमका पालन नहीं करता उसके वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप सिद्धिको नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार मनुस्मृतिमें जिन छह कर्मोंका उपदेश दृष्टिगोचर होता है। वे छह कर्म ही महापुराणमें स्वीकार किये गये हैं। इसलिए मालूम पड़ता है कि महापुराणकारने उसी व्यवस्थाको स्वीकार कर यह विधान किया है कि कुलधर्म रूपसे इज्या आदि षट्कर्मका अधिकारी मात्र तीन वर्णका मनुष्य है, शूद्र नहीं। इस प्रकार महापुराणमें जहाँ मनुस्मृतिका अनुसरण किया गया है वहाँ हमें यह भी देखना है कि महापुराणकी यह व्यवस्था क्या सचमुच में आगम परम्पराका अनुसरण करती है या महापुराणमें इस प्रकारके विधान होनेका कोई अन्य कारण है? प्रश्न महत्त्वका होनेसे इसपर साङ्गोपाङ्ग विचार करना आवश्यक है।

पहले हम यह स्पष्ट रूपसे बतला आये हैं कि जो भी कर्मभूमिज मनुष्य सम्यक्त्वको स्वीकार करता है वह सम्यक्त्वके साथ या कालान्तरमें देशविरत और सकलविरत रूप धर्मको धारण करनेका अधिकारी है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होनेसे अमुक प्रकारके देशविरत और सकलविरत धर्मको धारण करता है और शूद्र होनेसे अमुक प्रकारके धर्मको धारण करता है ऐसा वहाँ कोई भेद नहीं किया गया है। देशविरत और सकलविरतका सम्बन्ध अन्तरङ्ग परिणामोंके साथ होनेके कारण वर्ण या जातिके आधारपर उनमें भेद होना सम्भव भी नहीं है। सच बात तो यह है कि आगम साहित्यमें वर्ण नामकी कोई वस्तु है इस तथ्यको ही स्वीकार नही किया गया है। इसलिए यह तो स्पष्ट है कि महापुराणमें गृहस्थोंके आवश्यक कर्तव्य कर्मोंके विषयमें जो कुछ भी कहा गया है उसका समर्थन

---

१. मनुस्मृति २, ८८-९७।

आगम साहित्यसे तो होता नहीं। महापुराणका पूर्वकालवर्ती जितना साहित्य है उससे भी इसका समर्थन नहीं होता यह भी स्पष्ट है, क्योंकि उसमें इस प्रकारसे छह कर्मोंका विभाग नहीं दिखाई देता। जो महापुराणका उत्तरकालवर्ती साहित्य है उसकी स्थिति भी बहुत कुछ अंश में महापुराणके मन्तव्योंसे भिन्न है। उदाहरणस्वरूप हम यहाँपर सागारधर्मामृतके एक उल्लेखको उपस्थित कर देना आवश्यक मानते हैं। वह उल्लेख इस प्रकार है—

> नित्याष्टान्हिकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा-
> विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान्।
> स्वाध्यायं च विधातुमादतकृषीसेवावणिज्यादिकः
> शुद्धयाप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१-१८॥

महापुराणमें इज्या आदि छह कर्म स्वीकार किये गये हैं उन्हीं छह कर्मोंका उल्लेख पण्डितप्रवर आशाधरजीने सागरधर्मामृतके उक्त श्लोक में किया है। अन्तर केवल इतना है कि आचार्य जिनसेन वार्तापदसे असि, मषि, कृषि और वाणिज्य मात्र इन चार कर्मोंको स्वीकार करते हैं जब कि पण्डितप्रवर आशाधरजी इनके स्थानमें सेवा, विद्या और शिल्प के साथ सब कर्मोंको स्वीकार करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ आचार्य जिनसेन केवल तीन वर्णके मनुष्योंको पूजा आदिका अधिकारी मानते हैं वहाँ पण्डितप्रवर आशाधरजी चारों वर्णके मनुष्योंको उनका अधिकारी मानते हैं। पण्डितजीने अनगारधर्मामृतकी टीकामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सच्छूद्र इन चारको मुनिके आहारके लिए अधिकारी लिखा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि तीन वर्णके मनुष्यों के समान शूद्रवर्णके मनुष्य भी जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर सकते हैं और मुनियोंको आहार दे सकते हैं। साथ ही वे स्वाध्याय, संयम और तप इन कर्मोंको करनेके भी अधिकारी हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि महापुराण के उत्तरकालवर्ती छोटे बड़े प्रायः जितने भी साहित्यकार हुए हैं उन

सबने एक तो इज्यादिको तीन वर्णके कर्तव्योंमें न गिनाकर गृहस्थोंके आवश्यक कर्तव्योंमें गिनाया है। दूसरे उन्होंने वार्ताकर्मको हटाकर उसके स्थानमें गुरूपास्ति इस कर्मकी योजना की है। इसलिए इसपरसे यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके समान सच्छूद्र और असच्छूद्र भी देवपूजा आदि छह कर्मोंको कर सकते हैं तो हमें कोई अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती। पण्डितप्रवर आशाधरजीके अभिप्रायानुसार अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है कि वे 'असच्छूद्र गृहस्थ मुनियोंको आहार दें' मात्र इस बातके विरोधी रहे हैं, असच्छूद्रोंके द्वारा देवपूजा आदि कर्मोंके किये जानेके नहीं। चारित्रसारका भी यही अभिप्राय है, क्योंकि उसके कर्ताने इन कार्योंका अधिकारी शूद्रको भी माना है। यह महापुराणके उत्तरकालवर्ती प्रमुख साहित्यकी स्थिति है जो गृहस्थोंकी आचारपरम्परामें वर्णव्यवस्थाको स्वीकार करके भी किसी न किसी रूपमें आगमपरम्पराका ही समर्थन करती है। इस मामलेमें महापुराणका पूरी तरहसे साथ देनेवाला यदि कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें आया है तो वह एकमात्र दानशासन ही है। परन्तु यह ग्रन्थ बहुत ही अर्वाचीन है। सम्भव है कि इस विचारका समर्थन करनेवाले भट्टारकयुगीन और भी एक-दो ग्रन्थ हों। जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि आचार्य जिनसेनने भरत चक्रवर्तीके नाम पर मनुस्मृतिधर्मको जैनधर्म बतलाकर आगमधर्मको गौण करनेका जो भी प्रयत्न किया है उसमें वे पूरी तरहसे सफल नहीं हो सके हैं इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है।

प्राचीन आवश्यककर्मोंका निर्णय—

अब देखना यह है कि महापुराणमें या इसके उत्तरकालवर्ती साहित्यमें मौलिक हेर-फेरके साथ गृहस्थोंके जिन आवश्यक कर्मोंका उल्लेख किया गया है उनका आचार परम्परामें स्वीकार किये गये प्राचीन आवश्यक कर्मोंके साथ कहाँ तक मेल खाता है; यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्यमें

गृहस्थधर्मका वर्णन दो प्रकारका उपलब्ध होता है—प्रथम बारह व्रतोंके रूपमें और दूसरा ग्यारह प्रतिमाओंके रूपमें। वहाँ गृहस्थोंके आवश्यक कर्मोंका अलगसे उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु इतने मात्रसे प्राचीन कालमें गृहस्थोंके आवश्यक कर्मोंका अभाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि पुराणसाहित्यमें तथा अमितिगतिश्रावकाचार आदि अन्य साहित्य में जो भी उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं और गृहस्थोंका प्रतिक्रमण सम्बन्धी जो भी साहित्य प्रकाशमें आया है उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें गृहस्थ अपने-अपने पदके अनुसार उन्हीं छह आवश्यक कर्मोंका समुचित रीतिसे पालन करते थे जो मुनियोंके लिए आवश्यक बतलाये गये हैं।

जो पाँच इन्द्रियोंके विषय, सोलह कषाय और नौ नोकषायोंके अधीन नहीं होता उसका नाम अवश्य है और उसके जो कर्तव्य कर्म हैं उन्हें आवश्यक कहते हैं। वे छह हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग। विवरण इस प्रकार है—राग और द्वेषकी निवृत्तिपूर्वक समभाव अर्थात् मध्यस्थभावका अभ्यास करना तथा जीवन-मरणमें, लाभालाभमें, संयोग-वियोगमें, शत्रु-मित्रमें और सुख-दुखमें समताभाव धारण करना सामायिक है। अपने आदर्शरूप ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंकी नामनिरुक्ति पूर्वक गुणोंका स्मरण करते हुए स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव है। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर आदिके प्रति बहुमानके साथ आदर प्रकट करना वन्दना है। कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये वन्दनाके पर्यायवाची नाम हैं। निन्दा और गर्हासे युक्त होकर पूर्वकृत अपराधोंका शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसके दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थ ये सात भेद हैं। आगामी कालकी अपेक्षा अयोग्य द्रव्यादिकका त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा दिवस आदिके नियमपूर्वक जिनेन्द्रदेवके गुणों आदिका चिन्तवन करते हुए

शरीरका उत्सर्ग करना कायोत्सर्ग है। इन छह आवश्यक कर्मोंको साधुओं-के समान अपने स्वीकृत व्रतोंके अनुसार गृहस्थ भी करते हैं। वैदिक परम्परामें नित्यकर्मका जो स्थान है, जैनपरम्परामें वही स्थान छह आवश्यक कर्मोंका है। किन्तु प्रयोजन विशेषके कारण इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। वैदिक धर्मके अनुसार नित्यकर्म जहाँ कुलधर्मके रूपमें किये जाते है वहाँ जैन परम्पराके अनुसार आवश्यककर्म आध्यात्मिक उन्नतिके अभिप्रायसे किये जाते हैं, इसलिये उनमें सबसे पहला स्थान सामायिकको दिया गया है। चतुर्विंशतिस्तव आदि कर्मोंके करनेके पहिले उसका सामा-यिककर्मसे प्रतिज्ञात होकर राग-द्वेषकी निवृत्तिपूर्वक समताभावको स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उसके अन्य कर्म ठीक तरहसे नहीं बन सकते। विचार कर देखा जाय तो शेष पाँच कर्म सामायिककर्म के ही अङ्ग हैं। आगममें जिसे छेदोस्थापना कहा गया है उसका तात्पर्य भी यही है। साधु या गृहस्थ यथानियम प्रतिज्ञात समय तक आलम्बनके बिना समताभावमें स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए वह सामायिकको स्वीकार कर अपने आदर्शरूप चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करता है, अन्य परमेष्ठियोंकी वन्दना करता है, स्वीकृत व्रतोंमें लगे हुए दोषोंका परिमार्जन करता है, यह सब विधि करते हुए कृतिकर्मके अनुसार कायोत्सर्ग करता है और आगामी कालमें जो द्रव्यादिक उपयोगमें आनेवाले हैं उनका नियम करता है। अर्थात् जो द्रव्यादिक अयोग्य या अप्रयोजनीय हैं उनका त्याग करता है। इसके बाद भी यदि सामायिकका समय शेष रहता है तो ध्यान और स्वाध्याय आदि आवश्यककर्म द्वारा उसे पूरा करता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जिस प्रकार साधुके आवश्यक कर्मोंमें ध्यान और स्वाध्याय परिगणित हैं उस प्रकार प्रत्येक गृहस्थको अलगसे इन्हें करना ही चाहिए ऐसा कोई एकान्त नहीं है। इतना अवश्य है कि जो व्रती श्रावक हैं उन्हें कमसे कम तीनों कालोंमें छह आवश्यक कर्मोंके करनेका नियम अवश्य है और जो व्रती नहीं हैं उन्हें छह आवश्यक कर्मोंके

करनेका नियम न होकर भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानको छोड़कर शेष चार कर्म तो नियमसे करने ही चाहिए, ऐसा हरिवंशपुराणके उल्लेखसे प्रतीत होता है। उसमें बतलाया गया है कि चम्पनगरीमें फाल्गुन मासमें आष्टाह्निकोत्सवके समय वसुदेव और गन्धर्वसेनाने वासुपूज्य जिनकी पूजा करनेके अभिप्रायसे नगरके बाहर प्रस्थान किया और.....जिनालयमें पहुँचकर भगवानकी पूजा प्रारम्भ की। ऐसा करते समय वे सर्व प्रथम दोनों पैरोंके मध्य चार अंगुलका अन्तर देकर खड़े हुए। इसके बाद उन्होंने हाथ जोड़कर उपांशु पाठसे ईर्यापथदण्डक पढ़ा। अनन्तर कायोत्सर्ग विधिसे ईर्यापथशुद्धि करके पृथिवी पर बैठकर पञ्चाग नमस्कार किया। अनन्तर उठकर पञ्च नमस्कार मन्त्र और चत्तारि दण्डक पढ़ा। अनन्तर ढाई द्वीपसम्बन्धी एकसौ सत्तर धर्मक्षेत्र सम्बन्धी भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल सम्बन्धी तीर्थंकर आदिको नमस्कार करके मैं सामायिक करता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा लेकर तथा सर्व सावद्ययोगका त्याग कर कायसे ममत्व रहित हो शत्रु-मित्र, सुख-दुख, जीवन-मरण, और लाभालाभमें समताभाव धारण कर सत्ताईस बार श्वासोच्छ्वास लेनेमें जितना काल लगता है उतने काल तक कायोत्सर्गभावसे स्थित होकर तथा हाथ जोड़े हुए शिरसे नमस्कार करके श्रवण करने योग्य चौबीस तीर्थङ्करोंकी इस प्रकार स्तुति की—ऋषभ जिनको नमस्कार हो, अजित जिनको नमस्कार हो, सम्भव जिनको नमस्कार हो, निरन्तर अभिनन्दनस्वरूप अभिनन्दन जिनको नमस्कार हो, सुमतिनाथको नमस्कार हो, पद्मप्रभको नमस्कार हो, विश्वके ईश सुपार्श्व जिनको नमस्कार हो, अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त चन्द्रप्रभ जिनको नमस्कार हो, पुष्पदन्तको नमस्कार हो, शीतल जिनको नमस्कार हो, जिनका आश्रय लेनेसे प्राणियोंका कल्याण होता है ऐसे अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी श्रेयांसनाथको नमस्कार हो, तीन लोकमें पूज्य तथा चम्पानगरीमें जिनका यह महामह हो रहा है ऐसे वासुपूज्य जिनको नमस्कार हो, विमल जिनको नमस्कार हो, अनन्त जिनको नमस्कार हो,

धर्म जिनको नमस्कार हो, शान्तिहेतु शान्ति जिनको नमस्कार हो, कुन्थुनाथ जिनको नमस्कार हो, अरनाथ जिनको मन वचन और कायपूर्वक नमस्कार हो, शल्यका मर्दन करनेमें समर्थ मल्लि जिनको नमस्कार हो, मुनिसुव्रत जिनको नमस्कार हो, जिन्हें तीन लोक नमस्कार करता है और वर्तमान कालमें भरत क्षेत्रमें जिनका तीर्थ प्रवर्तमान है ऐसे नमिनाथ जिनको नमस्कार हो, जो आगे तीर्थङ्कर होनेवाले हैं और जो हरिवंशरूपी सुविस्तृत आकाशके मध्य चन्द्रमाके समान सुशोभित हैं ऐसे नेमिनाथ जिनको नमस्कार हो, पार्श्व जिनेन्द्रको नमस्कार हो, वीर जिनको नमस्कार हो, सब तीर्थङ्करोंके गणधरोंको नकस्कार हो, अरिहन्तोंके कृत्रिम और अकृत्रिम जिनालयोंको नमस्कार हो, तथा तीन लोकवर्ती जिन बिम्बोंको नमस्कार हो। इस प्रकार स्तुति करके रोमांच होकर उन्होंने पञ्चांग नमस्कार किया। अनन्तर पहलेके समान पुनः उठकर और कायोत्सर्ग करके पवित्र पाँच गुरुओंकी इस प्रकार स्तुति करने लगे। सर्वदा सब अरिहन्तों को, सब सिद्धोंको और पन्द्रह कर्मभूमियोंमें स्थित आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको बार-बार नमस्कार हो। इसके बाद प्रदक्षिणा करके वे दोनों रथ पर चढ़कर वैभवके साथ चम्पा नगरीमें प्रविष्ट हुए[1]।'

स्पष्ट है कि हरिवंशपुराणके इस उल्लेखमें प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का निर्देश नहीं किया गया है। बहुत सम्भव है कि उस समय तक वसुदेव और उनकी पत्नी गन्धर्वसेनाने अणुव्रत न स्वीकार किये हों। मालूम पड़ता है कि एकमात्र इसी कारणसे यहाँ पर आचार्य जिनसेनने प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानको छोड़कर मात्र चार कर्मोंका निर्देश किया है।

हम यह तो मानते हैं कि प्राचीन कालमें जलादि आठ द्रव्योंसे अभिषेक पूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा होती रही है, क्योंकि इसका उल्लेख सभी पुराणकारोंने किया है। किन्तु यह पूजा छह आवश्यक कर्मोंके अंग रूपमें

---

१ हरिवंशपुराण सर्ग २२ श्लो० २४-४४।

की जाती थी या स्वतन्त्र रूपसे, तत्काल यह कह सकना कठिन है, क्योंकि मूलाचारमें विनयके पाँच भेद करके लोकानुवृत्ति विनयको मोक्षविनयसे अलग रखकर उठ कर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथिकी पूजा करना और अपने वित्तके अनुसार देव पूजा करना इसको लोकानुवृत्ति विनयमें परिगणित किया है तथा सामायिक आदि छह कर्मोंको मोक्षविनयमें लिया है[2]। इतना स्पष्ट है कि सामायिकादि छह कर्म साधुओंके समान गृहस्थोंके भी दैनिक कर्तव्योंमें सम्मिलित थे। यही कारण है कि बारहवीं तेरहवीं शताब्दिमें लिखे गये अमितिगति श्रावकाचारमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है। सागारधर्मामृतमें श्रावककी दिनचर्यामें इनका समावेश किया गया है। इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। यदि हम इन छह आवश्यक कर्मोंके प्रकाशमें महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन द्वारा स्थापित किये गये इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इन आर्यषट्कर्मोंको देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कर्मोंको सङ्कलित करनेका अभिप्राय ही दूसरा रहा है। उत्तरकालवर्ती लेखकोंने वार्ताके स्थानमें गुरूपास्तिको रख कर इन कर्मोंको प्राचीन कर्मोंके अनुरूप बनानेका प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु इतना करने पर भी जो भाव प्राचीन कर्मोंमें निहित है उसकी पूर्ति इन कर्मोंसे नहीं हो सकी है। कारण कि इनमेंसे सामायिक कर्मका अभाव हो जानेसे देवपूजा आदिक कर्म समताभावपूर्वक नहीं होते। प्रतिक्रमणको स्वतन्त्र स्थान न मिलनेसे स्वीकृत व्रतोंमें लगे हुए दोषोंका परिमार्जन नहीं हो पाता और प्रत्याख्यानको स्वतन्त्र स्थान न मिलनेसे प्रतिदिन अयोग्य या अप्रयोजनीय द्रव्यादिकका त्याग नहीं हो पाता। वर्तमान कालमें पूजा आदि कर्म करते समय जो अव्यवस्था देखी जाती है। यथा—कोई बैठ कर पूजा करनेका समर्थन करता है तो कोई खड़े हो कर पूजा करना आवश्यक मानता है। कोई

---

२ मूलाचार ७,८३-८४।

जलादि द्रव्यसे की गई पूजाको ही पूजा मानता है, तो कोई इसे आडम्बर मान कर इसके प्रति अनादर प्रकट करता है। कोई पूजा करते समय बीच बीचमें बातचीत करता जाता है तो कोई विश्रान्ति लेनेके अभिप्रायसे कुछ कालके लिए पूजा कर्मसे ही विरत हो जाता है। कोई किसी प्रकारसे पूजा करता है और कोई किसी प्रकारसे। उसका कारण यही है कि न तो पूजा करनेवालेने समताभावसे प्रतिज्ञात होकर आवश्यक कृतिकर्म करनेका नियम लिया है और न यह ही प्रतिज्ञा की है कि मैं समता भावके साथ कितने काल तक कृतिकर्म करूँगा। रूढ़िवश गृहस्थ पूजादि कर्म करता अवश्य है और ऐसा करते हुए उसके कभी-कभी भावोद्रेकवश रोमाञ्च भी हो आता है। परन्तु ऐसा होना मात्र तीव्र पुण्यबन्धका कारण नहीं है। यह एक रूढ़ि है कि जो जितना बड़ा समारम्भ करता है उसे उतना बड़ा पुण्यबन्ध होता है। वस्तुतः तीव्र पुण्यबन्धका कारण आरम्भकी बहुलता न होकर या भावोद्रेककी उत्कटता न होकर समताभावके साथ पञ्चपरमेष्ठीके गुणानुवाद द्वारा आत्मोन्मुख होना, अपने दोषोंका परिमार्जन करना और परावलम्बिनी वृत्तिके त्याग करनेके सन्मुख होना है। जहाँ आगममें यह बतलाया है कि अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेके योग्य आयुकर्मका बन्ध एक मात्र भावलिङ्गी मुनि करते हैं वहाँ यह भी बतलाया है कि नौ ग्रैवेयकमें उत्पन्न होनेके योग्य आयुकर्मका बन्ध द्रव्यलिङ्गी मुनि तो कर सकते हैं परन्तु आयुबन्धके योग्य उत्तमसे उत्तम परिणामवाला श्रावक नहीं कर सकता। क्यों? क्या उक्त श्रावकका परिणाम द्रव्यलिङ्गी मुनिसे भी हीन होता है? बात यह है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यादृष्टि होने पर भी आरम्भ और बाह्य परिग्रहसे विरत रहता है और श्रावक सम्यग्दृष्टि देश-व्रती होने पर भी आरम्भ और बाह्य परिग्रहमें अनुरक्त रहता है। इसीका यह फल है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि नौवें ग्रैवेयक तक जाता है जब कि गृहस्थ सोलहवें स्वर्गसे आगे जानेकी सामर्थ्य ही नहीं रखता। इससे सिद्ध है कि आरम्भकी बहुलता सातिशय पुण्यका कारण न होकर आत्मोन्मुख वृत्तिके

सद्भावमें रागभाग सातिशय पुण्यका कारण है। हमने पहले सामायिक आदि जिन षट् कर्मोंकी चरचा की है उनमें सातिशय पुण्यबन्ध करानेकी योग्यता तो है ही। साथ ही वे कर्मक्षपणामें भी कारण हैं। किन्तु आचार्य जिनसेनने जिन छह कर्मोंका उल्लेख किया है उन्हें वे स्वयं ही कुलधर्म संज्ञा दे रहे हैं। साथ ही उनमें एक कर्म वार्ता भी है। जिसे धार्मिक क्रियाका रूप देना यह बतलाता है कि ये छह कर्म किसी भिन्न अभिप्रायसे संकलित किये गये हैं। यह तो स्पष्ट है कि जैनधर्ममें जो भी क्रिया कुलाचारके रूपमें स्वीकार की जाती है वह मोक्षमार्गका अङ्ग नहीं बन सकती। हमें ऐसा लगता है कि पण्डितप्रवर आशाधरजीको आचार्य जिनसेनका यह कथन बहुत अधिक खटका, इसलिए उन्होंने नामोल्लेख करके उनके इस विधानका विरोध तो नहीं किया। किन्तु पाक्षिक श्रावकके आठ मूलगुणोंका कथन करते समय वे यह कहनेसे भी नहीं चूके कि जो यह जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है इस श्रद्धानके साथ मद्यादिविरति करता है वही देशव्रती हो सकता है, कुलधर्म आदि रूपसे मद्यादिविरति करनेवाला नहीं। इस दोषको केवल पण्डितप्रवर आशाधरजीने ही समझा हो ऐसी बात नहीं है, उत्तरकालीन दूसरे लेखकोंने भी समझा है। जान पड़ता है कि उन्होंने आचार्य जिनसेन द्वारा प्रतिपादित षट्कर्मों में से वार्ता शब्दको हटा कर उसके स्थानमें गुरूपास्ति शब्द रखनेकी योजना इसी कारणसे की है।

श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षा केवल तीन वर्णके मनुष्य ले सकते हैं इत्यादि सब कथनके लिए आचार्य जिनसेनने यद्यपि भरत चक्रवर्तीको आलम्बन बनाया है और इस प्रकार प्रकारान्तरसे उन्होंने यह सूचित कर दिया है कि परिस्थितिवश ही हमें ऐसा करना पड़ रहा है, कोई इस कथनको जिनाज्ञा नहीं समझे। परन्तु इतने अन्तस्तलकी ओर किसका ध्यान जाता है। कहते हैं महापुराणमें ऐसा कहा है। आप महापुराणको ही नहीं मानते। अरे! मानते क्यों नहीं, मानते हैं। परन्तु मोक्षमार्गमें तो भगवान् सर्वज्ञप्रणीत वाणी ही प्रमाण मानी जायगी। आगमका अर्थ

यह नहीं है कि किसी काव्यग्रन्थमें राजाके या अन्य किसीके मुखसे या कविने स्वयं उत्प्रेक्षा और उपमा आदि अलङ्कारोंका आश्रय लेकर वसन्त आदि ऋतुओंका वर्णन किया हो तो उसे ही आगमप्रमाण मान लिया जाय। या किसी स्त्रीका नख-शिख तक शृंगारादि वर्णन किया हो तो उसे भी आगमप्रमाण मान लिया जाय। आगमकी व्याख्या सुनिश्चित है। जो केवली या श्रुतकेवलीने कहा हो या अभिन्न दशपूर्वीने कहा हो वह आगम है। तथा उसका अनुसरण करनेवाला अन्य जितना कथन है वह भी आगम है। अब देखिए, भरत चक्रवर्ती ब्राह्मणवर्णकी स्थापना करते समय न तो केवली थे, न श्रुतकेवली थे और न अभिन्नदशपूर्वी ही थे। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा कहा गया महापुराणमें जितना भी वचन मिलता है उसे आगम कैसे माना जा सकता है। इतना ही नहीं, गृहस्थ अवस्थामें स्वयं आदिनाथ जिनने जो असि आदि षट्कर्मव्यवस्थाका उपदेश दिया उसे भी आगम नहीं माना जा सकता। आगमका सम्बन्ध केवल मोक्षमार्गसे है, सामाजिक व्यवस्थाके साथ नहीं। सामाजिक व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं, परन्तु मोक्षमार्गकी व्यवस्था त्रिकालाबाधित सत्य है। उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। किसी हद तक इस सत्यको सोमदेव सूरिने हृदयंगम किया था। परिणामस्वरूप उन्होंने गृहस्थोंके धर्मके दो भेद करके यह कहनेका साहस किया कि पारलौकिक धर्ममें आगम प्रमाण है। उनके सामने महापुराण था, महापुराणमें लौकिक धर्मका भी विवेचन हुआ है, वे यह भी जानते थे। फिर क्या कारण है कि वे इसे प्रमाणरूपमें उपस्थित नहीं करते। हमें तो लगता है कि महापुराणका यह कथन उन्हें भी नहीं रुचा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोमदेवसूरिने और पण्डितप्रवर आशाधर जीने केवल महापुराणके उक्त कथनके बहावमें न बह कर किसी हद तक उस सत्यका उद्घाटन किया है जिस पर महापुराणके उक्त कथनसे आवरण पड़ गया था। इतना सब होने पर भी इनके कथनमें भी उसी लौकिक धर्मको स्थान मिल गया है जिसके

कारण परिस्थिति सुलझनेके स्थानमें पुनः उलझ गई है। उदाहरणार्थ—सोमदेव सूरिका यह कथन कि तीन वर्ण दीक्षाके योग्य हैं, भ्रम पैदा करता है। जब वे स्वयं ही यह मानते हैं कि वर्णव्यवस्थाका पारलौकिक धर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्थामें दीक्षा अर्थात् मोक्षमार्गकी दीक्षामें तीन वर्णोंको स्थान दे देना उन्हींके वचनोंके अनुसार आगमबाह्य कार्य ठहरता है। पण्डितप्रवर आशाधरजीकी भी लगभग यही स्थिति है। वे मद्यादिविरतिका उपदेश करते समय यह तो कहते हैं कि यह जिनाज्ञा है ऐसा श्रद्धान करके इसे स्वीकार करना चाहिए, कुलधर्मरूपसे नहीं। परन्तु तीन वर्णके मनुष्य दीक्षाके योग्य हैं और उन्हींका उपनयन संस्कार होता है इत्यादि बातोंका विधान करते समय उन्होंने यह विचार नहीं किया कि श्रावकाचारमें जिनाज्ञाके बिना हम इन बातोंका उल्लेख कैसे करते हैं? तीन वर्णके मनुष्य दीक्षाके योग्य हैं और उन्हींका उपनयन संस्कार होता है यह जिनाज्ञा तो नहीं है, भरत चक्रवर्तीकी आज्ञा है। और जिनाज्ञा तथा भरत चक्रवर्तीकी आज्ञामें बड़ा अन्तर है। जिनाज्ञा तो यह है कि पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए सब मनुष्य आठ वर्षके बाद दीक्षाके योग्य हैं। इस विषय पर विशेष प्रकाश हम पहले डाल ही आये हैं, इसलिए यहाँ पर और अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है कि जैनधर्मके अनुसार किसी भी वर्णका मनुष्य, फिर चाहे वह अस्पृश्य शूद्र ही क्यों न हो, श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षाका अधिकारी है और उसके अनुसार वह आवश्यक षट्कर्मोंका पालन कर सकता है। उसकी इस नैसर्गिक योग्यता पर प्रतिबन्ध लगानेका अधिकार किसीको नहीं है। यहाँ इतना अवश्य ही ध्यानमें रखना चाहिए कि मुनिगण इन सामायिक आदि आवश्यक षट्कर्मोंका पालन महाव्रत धर्मको ध्यानमें रखकर करते हैं और श्रावक अणुव्रतोंको ध्यानमें रखकर करते हैं। मुनियों और श्रावकोंकी प्रतिक्रमण विधि अलग-अलग होनेका भी यही कारण है।

आठ मूलगुण—

अब इस प्रसङ्गमें एक ही बात हमारे सामने विचारणीय रह जाती है और वह है आठ मूलगुणोंका विचार। आठ मूलगुण पाँच अणुव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी पुष्टिमें सहायक हैं, इसलिए ये आगमपरम्पराका प्रतिनिधित्व करते हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ये किस कालमें किस क्रमसे श्रावकाचारके अङ्ग बने यह बात अवश्य ही विचारणीय है। पण्डित-प्रवर आशाधरजीने स्वमतसे तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागरूप आठ मूलगुण बतलाकर पक्षान्तरका सूचन करनेके लिए एक श्लोक निबद्ध किया है। उसमें उन्होंने अपने मतके उल्लेखके साथ दो अन्य मतोंका उल्लेख किया है। स्वामी समन्तभद्रके मतका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि जो हमने त्यागने योग्य पाँच फल कहे हैं उनके स्थानमें पाँच स्थूलवधादिके त्यागको स्थान देनेसे स्वामी समन्तभद्रके मतके अनुसार आठ मूलगुण हो जाते हैं। तथा स्वामी समन्तभद्रके द्वारा स्वीकृत जो आठ मूलगुण हैं उनमेंसे मधुत्यागके स्थानमें द्यूतत्याग रख लेनेसे आचार्य जिनसेनके महापुराणके अनुसार आठ मूलगुण हो जाते हैं। पण्डितप्रवर आशाधरजीने आगे चलकर ऐसे भी आठ मूलगुणोंका निर्देश किया है जिनमें स्वयं उनके द्वारा बतलाये गये आठ मूलगुणोंका समावेश तो हो ही जाता है। साथ ही उनमें पाँच परमेष्ठियोंकी स्तुति-वन्दना, जीवदया, जलगालन और रात्रिभोजनत्याग ये चार नियम और सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चार प्रकारके मूलगुण वर्तमानकालमें जैन साहित्यमें उपलब्ध होते हैं। ऐतिहासिक क्रमसे देखने पर स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डमें पाये जानेवाले मूलगुणोंका स्थान प्रथम है, महापुराणमें पाये जानेवाले मूलगुणोंका स्थान द्वितीय है और शेष दो प्रकारके मूलगुणोंका स्थान तृतीय है। यहाँपर हमने रत्नकरण्डकी रचना महापुराणसे बहुत पहिले हो गई थी इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर रत्नकरण्डमें निबद्ध मूलगुणोंको प्रथम स्थान दिया है।

वैसे रत्नकरण्डकी स्थितिको देखते हुए उसमें मूलगुणोंका प्रतिपादन करनेवाला श्लोक प्रक्षिप्त होना चाहिए ऐसा हमारा अनुमान है। इसके कारण कई हैं। यथा—१. रत्नकरण्डसे पूर्ववर्ती साहित्यमें श्रावकोंका धर्म आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुणरूप है ऐसा उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। २. रत्नकरण्डमें चारित्रके सकलचारित्र और देश-चारित्र ऐसे दो भेद करके पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मात्र इन बारह व्रतोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है वहाँ आठ मूल-गुणोंके कहनेकी प्रतिज्ञा नहीं की गई है। ३. रत्नकरण्डमें अतीचार सहित पाँच अणुव्रतोंका कथन करनेके बाद आठ मूलगुणोंका कथन किया है। किन्तु वह इनके कथन करनेका उपयुक्त स्थल नहीं है। ४ आठ मूल-गुणोंमें तीन प्रकारके त्यागका अन्तर्भाव कर लेनेके बाद भोगोपभोगपरि-माणव्रतमें इनके त्यागका पुनः उपदेश देना सम्भव नहीं था। तथा ५. रत्नकरण्डके बाद रची गई सर्वार्थसिद्धिमें किसी भी रूपमें इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। जब कि उसमें रत्नकरण्डके समान भोगोपभोग-परिमाणव्रतका कथन करते समय तीन मकारोंके त्यागका उपदेश दिया गया है। ये ऐसे कारण हैं जो रत्नकरण्डमें आठ मूलगुणोंके उल्लेखको प्रक्षिप्त माननेके लिए पर्याप्त प्रतीत होते हैं।

मनुस्मृतिमें जिस द्विजका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है उसे किन-किन नियमोंका पालन करना चाहिए इसका विधान करते हुए जो नियम दिये हैं उनमें उसे मधु और मांस नहीं खाना चाहिए, शुक्त (मद्य) नहीं पीना चाहिए, प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, जुआ नहीं खेलना चाहिए, असत्य नहीं बोलना चाहिए, मैथुनकी इच्छासे स्त्रियोंकी ओर नहीं देखना चाहिए, उनका आलिङ्गन नहीं करना चाहिए इत्यादि नियम भी दिये हैं। महापुराणमें भी जिस द्विजका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है उसके लिए भी प्रायः इन्हीं नियमोंका उल्लेख किया गया है और इसी प्रसङ्गसे व्रतावतार क्रियाको स्वतन्त्र स्थान देकर यह कहा गया है कि

उसके मधुत्याग, मांसत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और पाँच स्थूल पापोंका त्याग ये सदा काल रहनेवाले व्रत रह जाते हैं। हम यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि एक तो महापुराणकारने स्वयं इन्हें आठ मूलगुण नहीं कहा है। दूसरे सागारधर्मामृतमें महापुराणके अनुसार जिन आठ मूलगुणोंका उल्लेख उपलब्ध होता है उनसे उक्त उल्लेखमें कुछ अन्तर है। परन्तु यहाँ हमें उसका विशेष विचार नहीं करना है। यहाँ तो हमें यह बतलाना है कि महापुराणमें यह उपदेश जैनधर्मके अनुसार होने पर भी समाजधर्मके रूपमें महापुराणकारने मनुस्मृतिसे स्वीकार किया है। महापुराणके बाद उत्तर लेखकोंकी यह चतुराई है कि उन्होंने आठ मूलगुण संज्ञा देकर इन्हें श्रावकधर्मका अङ्ग बना लिया है। वस्तुतः महापुराणमें इन्हें श्रावकधर्म न कहकर मात्र द्विजोंके सार्वकालिक व्रत कहा गया है। चारित्रप्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्ड आदिमें श्रावकके जो बारह व्रत कहे गये हैं उन्हें आचार्य जिनसेन ऐसे भुला देते हैं मानो इन मधुत्याग आदि व्रतोंके सिवा अन्य व्रत हैं ही नहीं। आचार्य जिनसेन उस द्विजको गृहीशिता जैसा बड़ेसे बड़ा पद दिलाते हैं, उसे प्रशान्तिक्रिया करनेका उपदेश देते हैं और अन्तमें उससे गृहत्याग कराते हैं। परन्तु इतना सब होने पर भी उसके मुनि होनेके पूर्वकाल तक मधुत्याग आदि व्रत ही रहते हैं। न वह बारह व्रतोंको स्वीकार करता है और न ग्यारह प्रतिमाओं पर आरोहण ही करता है। आचार्य जिनसेनने गृहस्थके असिआदि कर्मके करनेके कारण लगनेवाले दोषोंकी शुद्धि करनेके लिए विशुद्धिके तीन अङ्गोंका उल्लेख किया है— पक्ष, चर्या और साधन। इनकी व्याख्या करते हुए वहाँ पर कहा गया है—

तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसादिवर्जनम्।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥३९-१४६॥
चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥३९-१४७॥

> तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते ।
> पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥३९-१४८॥
> चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् ।
> देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् ॥३९-१४९॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसादिका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है। देवताके लिए, मन्त्रोंकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए और आहारके लिए मैं हिंसा नहीं करूँगा ऐसी चेष्टा करना चर्या कहलाती है। इसमें किसी प्रकारका दोष लग जाने पर प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है तथा अपना घर पुत्रको सौंप कर घरका त्याग किया जाता है। यह गृहस्थोंकी चर्या है। तथा जीवनके अन्तमें देह, आहार और अन्य चेष्टाओंका त्याग कर ध्यानकी शुद्धिपूर्वक आत्माका शोधन करना साधन कहलाता है।

यह तो भरत चक्रवर्तीको मुख बना कर आचार्य जिनसेनका कथन है। अब इसके प्रकाशमें सागारधर्मामृतके इस उल्लेखको पढ़िये—

> स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं
> धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः ।
> सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं
> त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम् ॥१-१९॥

मैं धर्मादिके लिए हिंसा नहीं करूँगा इस प्रकार मैत्री आदि भावनाओं से वृद्धिको प्राप्त हुआ जो समस्त वधका त्याग है वह पक्ष कहलाता है। कृषि आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए दोषोंका संशोधन कर और अपने पुत्रके ऊपर अपने वंशका भार रख कर घरका त्याग करना चर्या कहलाती है। तथा अन्तमें भोजन, चेष्टाएँ और शरीरका त्याग कर निर्मल ध्यान द्वारा आत्माका शोधन करना साधन कहलाता है ॥१-१९॥

इसमें सन्देह नहीं कि पण्डितप्रवर आशाधरजीका उक्त कथन महापुराणका अनुसरण करता है। फिर भी उन्होंने अपने कथनमें दो

संशोधन करके ही उसे ग्राह्य माना है यह महत्त्वकी बात है। पहिला संशोधन तो उन्होंने पक्ष और चर्याके लक्षणोंमें थोड़ा-सा किन्तु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करके किया है। जहाँ आचार्य जिनसेन देवता आदिके लिए हिंसा न करनेकी चेष्टाको चर्या कहते हैं वहाँ पण्डितजी इसे पक्षके लक्षणमें परिगणित कर लेते हैं। एक संशोधन तो उन्होंने यह किया। उनका दूसरा संशोधन है चर्याके लक्षणमें दर्शनिक आदि अनुमतित्याग तककी प्रतिमाओंको सम्मिलित कर लेना। पण्डितजीने यह दूसरा संशोधन अपनी टीका द्वारा सूचित किया है जो इस बातको सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि वे इस द्वारा श्रावकाचारका वर्णाश्रमधर्मके साथ समन्वय करनेका प्रयत्न करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार आचार्य जिनसेन और पण्डितप्रवर आशाधरजीके उक्त कथनमें जो अन्तर दिखलाई देता है वह हमें बहुत कुछ सोचनेके लिए बाध्य करता है। हमने महापुराणका बहुत ही बारीकीसे अध्ययन किया है। हमने महापुराणके उन प्रकरणोंको भी पढ़ा है जहाँ जहाँ भगवान् आदिनाथके मुखसे मोक्षमार्गका उपदेश दिलाया गया है। पर हमें वहाँ भी श्रावकके बारह व्रतों, उनके अतीचारों और ग्यारह प्रतिमाओंके स्वरूपका स्पष्टीकरण दिखलाई नहीं दिया[1]। इतने बड़े पुराणमें भरत चक्रवर्तीके मुखसे वर्णाश्रमधर्मका कथन करनेके लिए आचार्य जिनसेन कई पर्वोंकी रचना करें। किन्तु जिस श्रावकाचारका

---

१ महापुराणके दसवें सर्गमें श्लोक १५९ से लेकर १६७ तक ९ श्लोकोंमें ग्यारह प्रतिमा और श्रावकके बारह व्रतोंके नाम अवश्य गिनाए गये हैं। किन्तु वह कथन विदेहक्षेत्रके कथनके प्रसङ्गसे आया है। उन्होंने कहीं-कहीं एकादशस्थान कहकर श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंकी ओर भी इशारा किया है। परन्तु ऐसा करते हुए भी महापुराणकारका लक्ष्य श्रावकधर्मको गौण करके मनुस्मृतिके अनुसार कुलधर्मकी प्रतिष्ठा करना ही रहा है।

साक्षात् दिव्यध्वनिसे सम्बन्ध है उसके लिए वे उचित स्थान पर दो श्लोक भी न रच सकें यह क्या है ? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि आचार्य जिनसेनको आगमपरम्परासे आये हुए श्रावकधर्मके स्थानमें वर्णाश्रमधर्मकी स्थापना करना इष्ट था। यह दूसरी बात है कि उत्तरकालीन साहित्यकारोंने महापुराणके प्रभावमें आकर भी श्रावकाचारको सर्वथा भुलाया नहीं। इससे आठ मूलगुण पहले किस रूपमें जैनधर्ममें प्रविष्ट हुए। उसके बाद मूलगुण इस संज्ञाको धारण कर वे किस प्रकार श्रावकाचारके अङ्ग बने यह बात सहज ही समझमें आ जाती है।

तात्पर्य यह है कि जैनधर्ममें वर्णाश्रमधर्मकी प्रथा महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने चलाई है। इसके पहले जैनधर्ममें श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रचलित था वर्णाश्रमधर्म नहीं। तीन वर्णके मनुष्य दीक्षाके योग्य हैं तथा वे ही इज्या आदि षट्कर्मके अधिकारी हैं ये दोनों विशेषताएँ वर्णाश्रमधर्ममें ही पाई जाती हैं, श्रावकधर्म और मुनिधर्मका प्रतिपादन करनेवाले जैनधर्ममें नहीं। इसके अनुसार तो मनुष्यमात्र (लब्ध्यपर्याप्त और भोगभूमिज मनुष्य नहीं) श्रावकदीक्षा और मुनिदीक्षाके अधिकारी हैं। तथा वे इन धर्मोंका पालन करते हुए सामायिक आदि षट्कर्मोंके भी अधिकारी हैं।

प्रकृतमें उपयोगी पौराणिक कथाएँ

तपस्वीकी सन्तान नौवें नारदका मुनिधर्म स्वीकार और मुक्तिगमन—

राजा श्रेणिकके द्वारा यह नारद कौन है ऐसी पृच्छा होने पर गौतम गणधरने उत्तर दिया कि सौरीपुरके बाहर दक्षिण दिशामें एक तपस्वियोंका आश्रम था। उसमें फल-मूल आदिसे अपनी आजीविका करनेवाले बहुतसे तपस्वी रहते थे। उनमें एक भिक्षावृत्तिसे आजीविका करनेवाला सुमित्र नाम

का तपस्वी था। उसका सोमयशा नामकी एक स्त्रीसे सम्पर्क हो गया। उन्हींसे इसकी उत्पत्ति हुई है। एक बार जब वे उस बालकको वृक्षके नीचे सुला कर क्षुधाको शान्त करनेके लिए नगरमें गये तब जृम्भक नाम का एक देव पूर्व भवके स्नेह वश उसे हरण कर विजयार्ध पर्वत पर ले जा कर उसका पालन करने लगा। कालान्तरमें उसके आठ वर्षका होने पर देवने उसे आकाशगामिनी विद्या और जैनधर्मकी शिक्षा देकर छोड़ दिया। अनन्तर उसने संयमासंयमको अङ्गीकार कर पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए जीवनके अन्तमें मुनिव्रत अङ्गीकार कर निर्वाण पद प्राप्त किया।[1]

पूतिगन्धिका धीवरीकी श्रावकदीक्षा और तीर्थवन्दना—

इस भरतक्षेत्रके मगधदेशमें सोमदेव ब्राह्मणकी अत्यन्त रूपवती लक्ष्मीमती नामकी भार्या थी। उसे अपने रूपका बड़ा अभिमान था। एक बार श्रृंगारादि करते समय जब वह दर्पणमें अपना मुख देख रही थी तब उसने भिक्षाके लिए आये हुए अत्यन्त कृश शरीर समाधिगुप्त मुनिको देख कर उनकी ग्लानिभावसे निन्दा की। फल स्वरूप वह मर कर अनेक योनियोंमें भटकती हुई अन्तमें पूतिगन्धिका नामकी धीवर कन्या हुई। किन्तु पुराकृत पाप कर्मके उदय वश माताने उसे छोड़ दिया, इसलिए पितामहीने उसका पालन कर बड़ा किया। कालान्तरमें उसकी उन्हीं समाधिगुप्त मुनिसे पुनः भेट हो गई। मुनिने अवधिज्ञानसे सब कुछ जान कर उसे सम्बोधित किया। फल स्वरूप उसने अपने पूर्व भव जान कर श्रावक-धर्मको अङ्गीकार किया। इस प्रकार श्रावकधर्मको—क्षुल्लिकाके व्रतको अङ्गीकार कर वह आर्यिकाओंके साथ राजगृह आई और वहाँ आचाम्ल वर्धन व्रतको करके सिद्धशिलाकी वन्दनाके लिए गई। तथा सिद्धशिलाकी वन्दना कर और नीलगुफामें सल्लेखना पूर्वक मरण कर वह अच्युत स्वर्गके

---

१ हरिवंशपुराण सर्ग ४२ श्लोक १२-२१ तथा सर्ग ६५ श्लो० २४।

इन्द्रकी गगनवल्लभा नामकी देवी हुई[1]। यह कथा आराधनाकथाकोश में भी आई है[2]।

परस्त्रीसेवी सुमुख राजाका उसके साथ मुनिदान—

वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीमें सुमुख नामका एक राजा राज्य करता था। एक बार वसन्तोत्सवके समय उसकी वीरक श्रेष्ठीकी पत्नी वनमालाके ऊपर दृष्टि पड़ी। वनमाला रूप-यौवनसम्पन्न थी, इसलिए उसे देखकर राजा उस पर आसक्त हो गया। फलस्वरूप राजाने एक दूती द्वारा उसका हरण कराकर उसे अपनी पट्टरानी बनाया। कुछ काल बाद राजमहलमें परम तपस्वी वरधर्म नामके मुनि आहारके लिए आये। यह देखकर वनमाला सहित राजाने मुनिको आहार दिया। इसके फलस्वरूप कालान्तरमें उन दोनोंने मरकर विद्याधर कुलमें जन्म लिया।[3]

चारुदत्तसे विवाही गई वेश्यापुत्रीका श्रावकधर्म स्वीकार—

चम्पानगरीमें भानुदत्त श्रेष्ठी और उसकी पत्नी सुभद्रा रहते थे। उनके पुत्रका नाम चारुदत्त था। चारुदत्तका विवाह होने पर वह स्त्री सम्पर्कसे विमुख रहने लगा। यह देखकर माताकी सलाहसे उसके चाचाने उसे वेश्याव्यसनकी लत डाल दी। चारुदत्त वेश्यापुत्री वसन्तसेनाके साथ वेश्याके घर ही रहने लगा। कुछ काल बाद चारुदत्तका सब धन समाप्त हो जाने पर वेश्याने उसे बुरी तरहसे घरसे निकाल दिया। चारुदत्त घर आया और व्यापार व्यवसायके लिए बाहर चला गया। अन्तमें घर लौटने पर उसने अणुव्रतसम्पन्न वेश्यापुत्री वसन्तसेनाके साथ विवाह कर उसे पत्नीरूपमें स्वीकार कर लिया। जीवनके अन्तमें चारुदत्त मुनिधर्म स्वीकार कर सर्वार्थसिद्धि गया और वेश्याने सद्गति पाई।[4]

---

१ हरिवंशपुराण सर्ग ६० श्लो० ६२–३८। २ बृहत्कथाकोश कथा ७२ पृ० १६६ से। ३ हरिवंशपुराण सर्ग १४–१५। ४ हरिवंशपुराण सर्ग २१।

मृगसेन धीवरका जिनालयमें धर्म स्वीकार—

अवन्ती नामके महादेशमें शिप्रा नदीके किनारे शिंशपा नामका एक ग्राम था। वहाँ मृगसेन नामका एक धीवर रहता था। उसकी स्त्रीका नाम घण्टा था। एक दिन पार्श्वनाथ जिनालयमें संघ सहित जयधन नामके आचार्य आये। मृगसेन धीवरने जिनालयमें जाकर आचार्य महाराजके मुखसे उपदेश सुनकर यह व्रत लिया कि पानीमें जाल डालने पर उसमें पहली बार जो मछली फसेगी उसे मैं छोड़ दिया करूँगा। दूसरे दिन धीवरने ऐसा ही किया। किन्तु उस दिन उसके जालमें बार-बार वही मछली फसती रही और पहिचान कर पुनः पुनः वह उसे पानीमें छोड़ता गया। अन्तमें खाली हाथ वह घर लौटा। उसकी स्त्रीको यह ज्ञात होने पर दुर्वचन कह कर उसने मृगसेनको घरसे भगा दिया। वह घरसे निकल कर देवकुलमें जा कर सो गया। किन्तु रात्रिको सोते समय उसे एक साँपने डस लिया जिससे उसका प्राणान्त हो गया। कुछ समय बाद उसकी पत्नी खोजती हुई वहाँ आई और उसे मरा हुआ देख कर उसने भी साँपके बिलमें हाथ डाल दिया। इसका जो फल होना था वही हुआ। अर्थात् उसे भी साँपने डस लिया। इस प्रकार साँपके डसनेसे दोनोंकी मृत्यु हुई और दोनोंको अपने अपने परिणामोंके अनुसार गति मिली[1]।

हिंसक मृगध्वजका मुनिधर्म स्वीकार कर मोक्षगमन—

श्रावस्ती नगरमें आर्यक नामका एक राजा हो गया है। उसके पुत्रका नाम मृगध्वज था। बड़ा होनेपर उसने पूर्वभवके वैरके कारण भैंसका एक पैर काट डाला। यह वृत्त सुन कर राजाको बड़ा क्रोध आया। उसने मृगध्वजको मार डालनेकी आज्ञा दी। किन्तु मन्त्रीकी चतुराईसे उसकी प्राणरक्षा हुई। कालान्तरमें मुनि होकर उसने तपस्या की और अन्तमें

---

१. बृहत्कथाकोश कथा ७२।

कर्मोंका नाश कर वह मोक्ष गया।[1] आराधनाकथाकोशमें मृगध्वजको भैंसोंका मांस खानेवाला बतलाया गया है।

राजकुमारका गणिका पुत्रीके साथ विवाह—

चन्दन वनमें अमोघदर्शन नामका एक राजा था। उसकी पत्नीका नाम चारुमति और पुत्रका नाम चारुचन्द्र था। वहीं एक रङ्गसेना नामकी गणिका रहती थी। उसकी पुत्रीका नाम कामपताका था। एक बार वेश्या-पुत्रीके साथ ये सब यज्ञदीक्षाके लिए गये। वहाँ पर कौशिक आदि जटाधारी तपस्वी भी आये हुए थे। राजाकी आज्ञा पाकर कामपताकाने मनोहारी नृत्य किया। जिसे देखकर राजपुत्र और कौशिक तपस्वी उस पर मोहित हो गये। किन्तु अवसर देखकर राजपुत्र कामपताकाको ले भागा और उसके साथ विवाह कर लिया[2]।

म्लेच्छ रानीके पुत्रका मुनिधर्म स्वीकार—

एक बार अटवीमें पर्यटन करते हुए वसुदेवकी दृष्टि म्लेच्छ राजाकी कन्या जराके ऊपर पड़ गई। म्लेच्छराजने वसुदेवके इस भावको जान कर उनके साथ उसका विवाह कर दिया। वसुदेव रतिक्रीड़ा करते हुए कुछ दिन वहीं रहे। फलस्वरूप उन दोनोंको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। पुत्रका नाम जरत्कुमार रखा गया। जीवनके अन्तमें जरत्कुमारने मुनिधर्म स्वीकार कर सद्गति पाई[3]।

चाण्डालको धर्मके फलस्वरूप देवत्वपदकी प्राप्ति—

अयोध्यानिवासी समुद्रदत्तसेनके पूर्णभद्र और मणिभद्र नामके दोनों पुत्र एक बार महेन्द्रसेन गुरुके पास गये। अवसर देख कर उन्होंने गुरुसे पूछा महाराज! इस चाण्डाल और कुत्तीको देख कर हमें विशेष

---

१. हरिवंशपुराण सर्ग २८ श्लो० १७-२८। २. हरिवंशपुराण सर्ग २९ श्लो० २४-३०। ३. हरिवंशपुराण सर्ग ३१ श्लो० ६-७।

स्नेह क्यों होता है ? आचार्य महाराजने उत्तर दिया कि ये दोनों आप दोनोंके इसी भवके माता-पिता हैं। इन दोनोंमें स्नेह होनेका एकमात्र यही कारण है। यह सुन कर उन दोनोंने चाण्डाल और कुत्तीको धर्मका उपदेश दिया। उपदेश सुन कर चाण्डाल दीनताको त्याग कर परम निर्वेदको प्राप्त हुआ। उसने चार प्रकारके आहारका त्याग कर समाधि-पूर्वक प्राण छोड़े और नन्दीश्वर द्वीपमें जाकर देव हुआ। तथा कुत्ती भी सम परिणामोंसे मर कर राजपुत्री हुई[1]।

परस्त्रीसेवी मधुराजाका उसके साथ सकलसंयमग्रहण—

अयोध्या नगरीके राजाका नाम हेमनाभ था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र मधुको राज्य देकर जिनदीक्षा ले ली। कुछ समय बाद राजा मधु किसी कारणवश वटपुर गये। वटपुरके राजाका नाम वीरसेन और उसकी रानीका नाम चन्द्राभा था। चन्द्राभा रूप-यौवनसम्पन्न थी। अभ्यर्थना करते समय राजा मधुकी उस पर दृष्टि पड़ गई। उस समय तो वह कुछ नहीं बोला। किन्तु नगरमें वापिस लौट कर उसने उत्सवके बहाने उसे अपने नगरमें बुला लिया और उत्सवके अन्तमें छलसे रानीको अपने महलमें बुला कर पट्टरानी बना लिया। अब वे दोनों पति-पत्नीके रूपमें सुखपूर्वक भोग भोगने लगे। कुछ काल बाद एक ऐसी घटना घटी जिससे उन दोनोंको वैराग्य हो गया। फलस्वरूप राजा मधुने मुनिधर्मकी और चन्द्राभाने आर्यिकाकी दीक्षा ले ली। अन्तमें धर्मके प्रभावसे मर कर वे दोनों स्वर्गमें देव हुए[2]।

शूद्र गोपाल द्वारा मनोहारी जिनपूजा—

तेर नगरीमें धनमित्र नामका एक सेठ रहता था। उसकी भार्याका नाम धनमित्रा था। उन्होंने गाय-भैंसोंके चरानेके लिए धनदत्त नामके

---

१. हरिवंशपुराण सर्ग ४३ श्लो० १४८–१५६। २. हरिवंशपुराण सर्ग ४३ श्लो० १५९–२१५। ३. बृहत्कथाकोशकथा ५६ पृ० ८६।

एक ग्वालेके लड़केको रख लिया था। एक बार उसने कलनन्द नामके सरोवरमेंसे एक कमलका फूल तोड़ लिया। यह देख कर उस सरोवरकी रक्षिका देवता बड़ी नाराज हुई। उसने कहा जो लोकमें सर्वश्रेष्ठ हो उसकी इस कमल द्वारा पूजा कर, अन्यथा तुझे मैं योग्य शिक्षा दूँगी। बालक कमल लेकर अपने स्वामीके पास गया। स्वामीने सब वृत्तान्त सुन कर उसे राजाके पास भेज दिया। साथमें स्वयं भी गया। राजा ठीक स्थिति समझ कर सबके साथ उस शूद्र बालकको मुनिके पास और अन्तमें मुनिकी सलाहसे जिनेन्द्र भगवानके पास ले गया। वहाँ पहुँच कर उस बालकने बड़ी भक्तिपूर्वक उस कमलके फूलसे भगवान्के चरणोंकी पूजा की और पूजा करनेके बाद जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर वह अपने मालिक धनमित्र सेठके साथ घर चला गया[1]।

श्रावकधर्मको स्वीकार करनेवाला बकरा—

नासिक देशकी पश्चिम दिशामें कुंकुम नामका एक देश था। उसमें पलास नामका एक ग्राम था। उसके अधिपतिका नाम सुदास था। उसका बलि-पूजामें बड़ा विश्वास था। मरते समय वह अपने वसुदास नामके पुत्रको कह गया था कि मेरे मरनेके बाद तू इस पूजाको चालू रखना। पिताकी आज्ञानुसार पुत्र भी देवीके सामने बकरा आदिका वध कर उसकी पूजा करने लगा। अशुभ कर्मके उदयसे कुछ काल बाद वसुदासका पिता मर कर उसी ग्राममें बकरा हुआ। बकराके पुष्ट होने पर वसुदासने उसे देवीको भेट चढ़ा दिया। इस प्रकार वह सात बार बकरा हुआ और प्रत्येक बार वसुदास उसे देवीको भेट चढ़ाता गया। आठवीं बार वसुदास जब उसे देवीको भेट चढ़ानेके लिए ले जा रहा था तब मार्गमें उसकी एक मुनिसे भेट हो गई। अन्तमें योग्य प्रसंग उपस्थित होने पर मुनिने वसुदास को उपदेश दिया। उपदेश सुन कर और यह जान कर कि यह बकरा

---

१. बृहत्कथाकोश कथा ५६ पृ० ८०–८१।

इसी भवका मेरा पिता था, वसुदासने जिनदीक्षा ले ली। बकरेने भी जातिस्मरण द्वारा सब स्थिति जानकर श्रावकके बारह व्रत स्वीकार कर लिए[1]।

श्रावक धर्मको स्वीकार करनेवाला चण्डकर्मा चाण्डाल—

उज्जयनीमें एक चण्डकर्मा नामका चाण्डाल रहता था। वह हिंसाकर्म से अपनी आजीविका करता था और उसे ही अपना कुलधर्म समझता था। एक बार उसकी परम वीतरागी मुनिसे भेंट हो गई। मुनिके द्वारा अनेक युक्तियाँ और दृष्टान्त देकर यह समझाने पर कि जीव शरीरसे भिन्न है, चण्डकर्मा उपशमभावको प्राप्त हुआ। उसके यह निवेदन करने पर कि मुझे ऐसा व्रत दीजिए जिसे मैं गृहस्थ रहते हुए पालन कर सकूँ, मुनिने गृहस्थके बारह व्रतों, पञ्च नमस्कार, सम्यक्त्व और पूजाका उपदेश दिया। उपदेश सुनकर पहले उसने अहिंसाव्रतको छोड़ कर अन्य सब व्रत स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। उसने कहा कि हिंसा मेरा कुलधर्म है, उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ। किन्तु मुनिके द्वारा अहिंसाका महत्त्व बतलाने पर अन्तमें उसने पूर्ण श्रावकधर्मको स्वीकार कर लिया[2]।

अहिंसाव्रती यमपाश चाण्डालके साथ राजकन्याका विवाह तथा आधे राज्यकी प्राप्ति—

वाराणसी नगरीमें एक यमपाश नामका चाण्डाल रहता था। चोरी आदि अपराध करनेवाले मनुष्योंको शूली पर चढ़ा कर वह अपनी आजीविका करता था। एक बार उसने मुनिके पास यह व्रत लिया कि मैं पूर्णिमाको जीववध नहीं करूँगा। प्रतिज्ञा लेकर वह ज्यों ही अपने घर आया कि इतनेमें राजाकी ओरसे उसे बुलावा आ गया। पतिके संकेतानुसार पहले तो उसकी भार्याने, यह कह कर कि वह दूसरे गाँव गया है,

---

१. बृहत्कथाकोश कथा ७१ पृ० १६२ से। २. बृहत्कथाकोश कथा ७२ पृ० १७२ से।

राजपुरुषोंको मना कर दिया। किन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि आज जिसका वध किया जाना है उसके पास विपुल धन है, उसने सङ्केतसे अपने पतिको बतला दिया। लाचार होकर यमपाशको राजपुरुषोंके साथ जाना पड़ा। किन्तु उस दिन वह किसीको शूली पर चढ़ानेके लिए राजी नहीं हुआ। इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। अर्थात् राजाने चोरके साथ इस चाण्डालको भी मगर मच्छोंसे भरे हुए तालाबमें फिकवा दिया। उसने इन दोनोंको फिकवा तो दिया। किन्तु उसके इस कृत्यसे भूतादि देवगण बहुत कुपित हुए। वे राजाको मारनेके लिए उद्यत हो गये। अन्तमें जब यमपाशने मना किया और राजा अपनी पुत्रीके साथ आधा राज्य उसे देनेके लिए राजी हुआ तब कहीं भूतोंने राजाका पिण्ड छोड़ा। इस प्रकार राजाके द्वारा पूजित होकर वह चाण्डाल आधे राज्यको पाकर और राज कन्याके साथ विवाह कर उनका भोग करता हुआ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा[1]।

अपनी माताके पितासे उत्पन्न स्वामी कार्तिकेयका मुनिधर्म स्वीकार—

कार्तिक नामके नगरमें अग्नि नामक राजा रहता था। उसकी रानीका नाम वीरवती था। उन दोनोंके योगसे छह कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अन्तिम कन्याका नाम कीर्ति था। कीर्तिके यौवनसम्पन्न होने पर पिता उस मर मोहित हो गया और उसे पत्नी बना कर रख लिया। कुछ दिन बाद इन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई। उसका नाम कार्तिकेय रखा गया। बड़े होने पर जब कार्तिकेयको यह ज्ञात हुआ कि हमारी माताका पिता ही हमारा पिता है तब वह संसारसे विरक्त हो मुनि हो गया और उत्तम प्रकारसे तप करके स्वर्गका अधिकारी बना[2]।

---

१. बृहत्कथाकोश कथा ७४ पृ० १७८ से। २. बृहत्कथाकोश कथा १३६ पृ० ३२४।

चण्ड चाण्डालका अहिंसाव्रत स्वीकार—

अवन्ती देशमें एकानसी नामकी एक नगरी थी। वहाँ चण्ड नामका एक चाण्डाल रहता था। वह प्रतिदिन सुरापान और माँसभक्षण करता था। एक बार उसके निवासस्थानके समीप दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आये। युगल मुनिका आगमन सुन कर अनेक श्रावक उनकी वन्दना करने और धर्मोपदेश सुननेके लिए गये। कुतूहल वश चण्ड चाण्डाल भी वहाँ गया। सबके अन्तमें उसने प्रणाम करके अपने योग्य व्रतकी याचना की। अवधिज्ञानसे उसकी अल्प आयु जानकर सुनन्दन मुनिराजने उसे अहिंसा-व्रत लेनेका उपदेश दिया। व्रत लेकर चाण्डाल अपने घर आया और मर कर यक्षोंका सरदार हुआ[1]।

नाच-गानसे आजीविका करनेवाले गरीब किसान बालकोंका मुनिधर्म स्वीकार—

काशी जनपदमें वाराणसी नामकी एक सुन्दर नगरी है। वहाँ सुषेण नामका एक गरीब किसान रहता था। उसके चित्त और सम्भूत नामके दो पुत्र हुए। वे दोनों अपनी जाति और कुलको छोड़ कर तथा परदेशमें जाकर ब्राह्मण वेषमें गीत-नृत्य द्वारा अपनी आजीविका करने लगे। एक बार उनमेंसे सम्भूतने राजगृह नगरमें स्त्रीका वेष धारण कर मनोहर नृत्य किया। उसे देख कर वहाँका सुशर्मा पुरोहित मोहित हो गया। किन्तु बादमें उसे यह ज्ञात होने पर कि यह स्त्री न होकर पुरुष है, उसके साथ अपनी बहिन लक्ष्मीमतीका विवाह कर दिया। बहुत दिन तक तो यह रहस्य छिपा रहा, किन्तु बादमें वहाँ उनकी कुल और जाति प्रकट हो जाने पर वे दोनों भाई लज्जित हो वहाँसे पाटलीपुत्र चले गये और वहाँ रात्रिमें नृत्य द्वारा पुनः अपनी आजीविका करने लगे। कालान्तरमें वहाँ भी यह ज्ञात होने पर कि ये पुरुष हैं, स्त्री नहीं, वहाँसे चलकर वाराणसी आ गये

---

१. यशस्तिलकचम्पू आश्वास ७ पृ० ३३३।

और वहाँ गुरुदत्त नामके मुनिके दर्शन कर तथा जैनधर्मका उपदेश सुनकर उनके पास दीक्षित हो स्वयं मुनि हो गये। मुनि होनेके बाद उन्होंने गुरुतर तपस्याके साथ चिरकाल तक आगम साहित्यका अभ्यास किया। अनन्तर विहार करते हुए वे पुनः राजगृही पहुँचे। वहाँ एक दिन पक्षोपवासके बाद भिक्षाके लिए चारिका करते हुए सम्भूत मुनिकी सुशर्मा पुरोहितसे भेंट हो जाने पर पुरोहितने उन्हें मारनेका विचार किया। यह देख कर सम्भूत मुनि वेगसे दौड़ने लगा। फलस्वरूप उसके मुखसे प्रखर तेजसे युक्त अग्नि प्रकट हुई। सौभाग्यकी बात कि यह बात उसके बड़े भाई चित्त नामके मुनिको तत्काल विदित हो गई, अतः उसने आकर उसे शान्त कर दिया। अन्तमें सम्भूत मुनि निदान करके सौधर्म स्वर्गमें देव होकर अन्तमें ब्रह्मदत्त नामका चक्रवर्ती हुआ और उसका बड़ा भाई यथायोग्य गतिको प्राप्त हुआ[1]।

---

१. बृहत्कथाकोश कथा १०६।

: २ :

मूल व अनुवाद

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानोंमें स्यात् पर्याप्त होते हैं और स्यात् अपर्याप्त होते हैं ॥८९॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्त होते हैं ॥९०॥ इसी प्रकार मनुष्य पर्याप्तकोंके विषयमें जानना चाहिए ॥९१॥ मनुष्यिनियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें वे स्यात् पर्याप्त होती हैं और स्यात् अपर्याप्त होती हैं ॥९२॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥९३॥

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥१०८॥ तेण परमवगदवेदा चेदि ॥१०९॥

मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक मनुष्य तीन वेदवाले होते हैं ॥१०८॥ उसके बाद अपगतवेदवाले होते हैं ॥१०९॥

मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा चेदि ॥१६२॥ एवमड्ढाइज्जदीव-समुद्देसु ॥१६३॥

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्य-ग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत होते हैं ॥१६२॥ इसी प्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिए ॥१६३॥

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसम्माइट्ठी ॥१६४॥ एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु ॥१६५॥

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतगुणस्थानोंमें सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपसमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥१६४॥ इसी प्रकार मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यिनियोंमें जानना चाहिए ॥१६५॥

—जीवस्थान सत्प्ररूपणा

मणुसगदीए मणुसो णाम कधं भवदि ॥८॥ मणुसगदिणामाए उदएण ॥०॥ ——क्षुल्लकबन्ध स्वामित्व

मनुष्यगतिमें मनुष्य कैसे अर्थात् किस कर्मके उदयसे होता है ॥८॥ मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे होता है ॥९॥

३. × × × मणुस्सगदीए मणुसा मणुसपज्जत्ता मणुसिणीओ णियमा अत्थि ॥३॥ मणुसअपज्जत्ता सिया अत्थि सिया णत्थि ॥४॥

मनुष्यगतिमें मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यिनी नियमसे हैं ॥३॥ मनुष्य अपर्याप्त स्यात् हैं और स्यात् नहीं हैं ॥४॥

—क्षुल्लकबन्ध नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय

संजमाणुवादेण संजदा परिहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा केवचिरं कालादो होंति ॥ १४७ ॥ जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ॥१४८॥ उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा ॥१४९॥

संयम मर्गणाके अनुवादसे संयत, परिहारशुद्धिसंयत और संयतासंयत जीवोंका (एक जीवकी अपेक्षा) कितना काल है ॥१४७॥ जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। ॥१४८॥ और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि प्रमाण है ॥१४९॥ —क्षुल्लकबन्ध काल

मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम्। मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। अ० १ सू० ८ पृ० २३

गत्यानुवादेन······मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति। अ० १, सू० ८, पृ० २१

मनुष्यगतिमें पर्याप्त और अपर्याप्त (निर्वृत्त्यपर्याप्त) मनुष्योंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त मनुष्योंके ही होता है, अपर्याप्त मनुष्योंके नहीं होता। मनुष्यिनियोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। किन्तु ये पर्याप्त मनुष्यिनियोंके ही होते हैं, अपर्याप्त मनुष्यिनियोंके नहीं होते।

गतिमार्गणाके अनुवादसे मनुष्यगतिमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं।

—सर्वार्थसिद्धि

णररासी सामण्णं पज्जत्ता मणुसिणी अपज्जत्ता।

इय चउविहभेदजुदो उप्पज्जदि माणुसे खेत्ते॥२९२५॥

सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्य इस प्रकार चार प्रकारकी मनुष्यराशि मनुष्य क्षेत्रमें उत्पन्न होती है ॥२९२५॥

—तिलोयपण्णत्ती अ० ४

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेत्, न उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चेत्? न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेत्? न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेत्? न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेत्? न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

शंका—हुण्डावसर्पिणीके दोषसे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते।

शंका—किस प्रमाणसे जाना जाता है?

समाधान—इसी आर्षवचनसे जाना जाता है।

शंका—इसी आर्षवचनसे द्रव्यस्त्रियोंका मुक्त होना सिद्ध हो जावे?

समाधान—नहीं, क्योंकि सवस्त्र होनेसे उनके संयतासंयत तक पाँच गुणस्थान होते हैं, अतः उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शंका—वस्त्रसहित होते हुए भी उनके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं है ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं होता, अन्यथा उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बनता ।

शंका—तो फिर उनमें चौदह गुणस्थान कैसे बन सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावस्त्री विशिष्ट अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें उनका सद्भाव होनेमें विरोध नहीं आता ।

शंका—भाववेद बादरकषाय जहाँ तक है वहीं तक होता है आगे नहीं होता, इसलिए भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सत्त्व नहीं हो सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ अर्थात् गति मार्गणामें वेदकी प्रधानता नहीं है । परन्तु यहाँ पर गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती ।

शंका—वेदविशेषणसे युक्त गतिमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी (जिस गुणके कारण मनुष्यिनी शब्दका व्यवहार होता है उस गुणके नष्ट हो जाने पर भी) उपचारसे उस संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता ।

—जीवस्थान सत्प्ररूपणा सू० ९३ धवला टीका

कुदो ? संजमं परिहारसुद्धिसंजमं संजमासंजमं च गंतूण जहण्णकालमच्छिय अण्णगुणं गदेसु तदुवलंभादो ।

कोई जीव संयम, परिहारशुद्धिसंयम और संयमासंयमको प्राप्त होकर और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तक रहकर यदि अन्य गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है तो उक्त गुणोंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है ।

—क्षुल्लकबन्धकाल सूत्र १४८ धवला टीका

कुदो ? मणुस्सस्स गब्भादिअट्ठवस्सेहि संजमं पडिवज्जिय देसूणपुव्वकोडिं संजममणुपालिय कालं काऊण देवेसुप्पण्णस्स देसूणपुव्वकोडिमेत्त-

संजमकालुवलंभादो ।"'एवं संजदासंजदस्स वि उक्कसकालो वत्तव्वो। णवरि अंतोमुहुत्तपुधत्तेण ऊणिया संजमासंजमस्स कालो त्ति वत्तव्वं ।

आशय यह है कि गर्भसे लेकर आठ वर्षके बाद कोई मनुष्य संयमको प्राप्त होकर और कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक संयमके साथ रहकर यदि मरकर देव हो जाता है तो संयमका उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व-कोटि प्रमाण प्राप्त होता है।''''''इसी प्रकार संयतासंयतका भी उत्कृष्ट काल कहना चाहिए। इतनी विशेषता है कि (सम्मूर्छन तिर्यञ्चकी अपेक्षा) संयमासंयमका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व कम एक पूर्वकोटि प्रमाण कहना चाहिए।

—क्षुल्लकबन्ध काल सूत्र १४९ धवला टीका

देव-णेरइयाणं उक्कस्साउअबंधस्स तीहि वेदेहि विरोहो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा त्ति भणिदं। एत्थ भाववेदस्स गहणं, अण्णहा दव्वित्थिवेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बंधप्पसंगादो। ण च तेण सह तस्स बंधो, 'आ पञ्चमी त्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति' एदेण सुत्तेण सह विरोहादो। ण च देवाणं उक्कस्साउअं दव्वित्थिवेदेण सह बज्झइ, 'णियमा णिग्गथलिंगेणे' त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्वत्थीणं णिगंत्थत्तमत्थि, चेलादि-परिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वित्थि-णवुंसय-वेदाणं चेलादिच्चागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो।

देवों और नारकियोंसम्बन्धी उत्कृष्ट आयुबन्धका तीनों वेदोंके साथ विरोध नहीं है। अर्थात् तीनों वेदवाले जीव देवायु और नरकायुकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध कर सकते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा' यह कहा है। यहाँ इन तीनों वेदोंसे भाववेदका ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा द्रव्य स्त्रीवेदवालेके भी उत्कृष्ट नरकायुके बन्धका प्रसङ्ग प्राप्त होता है, परन्तु द्रव्य स्त्रीवेदवालेके उत्कृष्ट नरकायुका बन्ध नहीं होता, क्योंकि 'सिंह पाँचवीं पृथिवी तक और

स्त्रियाँ छठी पृथिवी तक जाती हैं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। उत्कृष्ट देवायुका बन्ध भी द्रव्यस्त्रीवेदवाले जीवके नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका 'नियमसे निर्ग्रन्थ लिङ्गवालेके उत्कृष्ट देवायुका बन्ध होता है' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। द्रव्य स्त्रियोंके निर्ग्रन्थपना बन जाय यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्त्र आदिका त्याग किये बिना उनके भाव निर्ग्रन्थपना नहीं बन सकता। द्रव्यस्त्रियों और द्रव्यनपुंसकोंके वस्त्र आदिका त्याग होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस कथनका छेद-सूत्रके साथ विरोध आता है।

—वेदनाकालविधान सूत्र १२ धवला टीका

सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता।
तिरिया णरा तहा वि य पंचिंदियभंगदो हीणा॥१४६॥

तिर्यञ्च पाँच प्रकारके हैं—सामान्यतिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, पर्याप्त, पञ्चेन्द्रिययोनिनीतिर्यञ्च और पञ्चेन्द्रियअपर्याप्त तिर्यञ्च। पञ्चेन्द्रिय भेदके सिवा मनुष्य भी चार प्रकारके हैं—सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्य ॥१४६॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदी।
साहरणिदराउतियं वेउव्वियछक्कपरिहीणो ॥२९८॥

सामान्य मनुष्योंमें ओघके समान भङ्ग है। परन्तु उनमें स्थावरद्विक, तिर्यञ्चगतिद्विक, आतपद्विक, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रयजाति, साधारण, नरकायु, मनुष्यायु, देवायु और वैक्रियिकषट्क इन बीस प्रकृतियोंका उदय न होनेसे उदययोग्य १०२ प्रकृतियाँ होती हैं। सामान्य मनुष्योंसे तीनों वेदोंके उदयवाले सब मनुष्य लिए गये हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है ॥२९८॥

पज्जत्ते वि य इत्थिवेदापज्जत्तपरिहीणो ॥३००॥

मनुष्य पर्याप्तकोंमें उक्त १०२ प्रकृतियोंमेंसे स्त्रीवेद और अपर्याप्त इन दो प्रकृतियोंको कम कर देनेपर उदययोग्य १०० प्रकृतियाँ होती हैं। मनुष्य पर्याप्तकोंसे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयवाले सब मनुष्य लिए गये हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है ॥३००॥

मणुसिणि इत्थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा।
पुण्णदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥२०१॥

मनुष्यिनियोंमें उक्त १०० प्रकृतियोंमेंसे तीर्थङ्कर, अहारकद्विक, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन पाँच प्रकृतियोंको कम करके स्त्रीवेदके मिलानेपर ९६ प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं। तथा मनुष्य अपर्याप्तकोंमें तिर्यञ्च अपर्याप्तकोंके समान ७१ प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं। मात्र यहाँपर तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और तिर्यञ्चायुके स्थानमें मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन प्रकृतियाँ लेनी चाहिए। मनुष्यिनियोंसे स्त्रीवेदके उदयवाले सब मनुष्य और मनुष्य अपर्याप्तकोंसे नपुंसकवेद और अपर्याप्तप्रकृतिके उदयवाले सब मनुष्य लिए गये हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड

तिर्यञ्चः सामान्यतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पर्याप्ततिर्यञ्चः योनिमत्तिर्यञ्चः अपर्याप्ततिर्यञ्चश्चेति पञ्चविधा भवन्ति। तथा मनुष्या अपि। किन्तु पञ्चेन्द्रियभङ्गतः भेदात् हीना भवन्ति। सामान्यादिचतुर्विधा एव भवन्तीत्यर्थः। सर्वमनुष्याणां केवलं पञ्चेद्रियत्वेनैव सम्भवात्। तिर्यग्वत्तद्विशेषणस्य व्यवच्छेद्यत्वाभावात्। [जी० प्र० टी०]

सामान्यतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पर्याप्ततिर्यञ्चः योनिमतीतिर्यञ्चः अपर्याप्ततिर्यञ्च इति तिर्यञ्चो जीवाः पञ्चप्रकारा भवन्ति। तथा तिर्यग्जीवभेदप्रकारेण नरा मनुष्या अपि, पञ्चेन्द्रियभङ्गतः पञ्चेन्द्रियभेदात् हीनाः पञ्चेन्द्रियभेदरहिताः सामान्यापर्याप्तयोनिमत्पर्याप्तभेदाच्चतुर्विधा इत्यर्थः। सामान्यादीनां विशेषापर्याप्तयोनिमत्पर्याप्तरूपप्रतिपक्षवदत्पञ्चे-

न्द्रियरूपप्रतिपक्षस्य मनुष्यगतावसम्भवात् सर्वमनुष्याणां पञ्चेन्द्रियत्वस्यैव सम्भवात् । [म० प्र० टी०]

तिर्यञ्च पाँचप्रकार—सामान्य तिर्यञ्च १ पञ्चेन्द्री तिर्यञ्च २ पर्याप्त तिर्यञ्च ३ योनिमती तिर्यञ्च ४ अपर्याप्त तिर्यञ्च ५ । तहाँ सर्व ही तिर्यञ्च भेदनिका समुदायरूप सो तौ सामान्य तिर्यञ्च है। बहुरि जो एकेंद्रियादिक विना केवल पञ्चेन्द्री तिर्यञ्च सो पञ्चेन्द्री तिर्यञ्च है। बहुरि जो अपर्यात विना केवल पर्याप्ततिर्यञ्च सो पर्याप्त तिर्यञ्च है। बहुरि जो स्त्रीवेदरूप तिर्यञ्चणी सो योनमती तिर्यञ्च है बहुरि जो लब्धि अपर्याप्त तिर्यञ्च है सो पर्याप्त तिर्यञ्च है। ऐसैं तिर्यञ्च पञ्चप्रकार हैं। बहुरि तैसैं ही मनुष्य हैं। इतना विशेष-जो पञ्चेन्द्रिय भेदकरि हीन है तातैं सामान्यादिरूपकरि च्यारि प्रकार है। जातैं मनुष्य सर्व ही पञ्चेन्द्री है तातैं जुदा भेद तिर्यञ्चवत् न होइ तातैं सामान्य मनुष्य १ पर्याप्त मनुष्य २ योनिमती मनुष्य ३ अपर्याप्त मनुष्य ४ ए च्यारि भेद मनुष्यके जानने। तहाँ सर्व मनुष्य भेदनिका समुदाय रूप सो सामान्य मनुष्य है। केवल पर्याप्त मनुष्य सो पर्याप्त मनुष्य है। स्त्रीवेदरूप मनुष्यिणी सो योनिमती मनुष्य, लब्धि अपर्याप्तक मनुष्य सो अपर्याप्त मनुष्य है।

—गो० जी०, गाथा १५०, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका

पर्याप्तमनुष्यराशेः त्रिचतुर्भागो मानुषीणां द्रव्यस्त्रीणां परिमाणं भवति। [जी० प्र० टी०]

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिचतुर्भागमात्रं मानुषीणां द्रव्यमनुष्यस्त्रीणां परिमाणं भवति। [म० प्र० टी०]

पर्याप्त मनुष्यनिका प्रमाण कह्या ताका च्यारि भाग कीजिए तामैं तीन भागप्रमाण मनुषिणी द्रव्यस्त्री जाननी।

—गो० जी०, गा० १५९, स० च० टीका

नरकादिगतिनामोदयजनिता नारकादिपर्यायाः गतयः।

नरकादि गतिनामा नामकर्मके उदयतैं उत्पन्न भये पर्याय ते गति कहिए।

—गो० जी० गा० १५९, स० च० टी०

पुनरयं विशेषः—असंयततैरश्च्यां प्रथमोपशम-वेदकसम्यक्त्वद्वयं, असंयतमानुष्यां प्रथमोपशमवेदकक्षायिकसम्यक्त्वत्रयं च सम्भवति। तथापि एको भुज्यमानपर्याप्तालाप एव। योनिमतीनां पञ्चगुणस्थानादुपरि गमनासम्भवात् द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं नास्ति। —जी० प्र० टीका

विशेष इतना जो योनिमत् मनुष्यकैं असंयतविषैं एक पर्याप्त आलाप ही है। कारण पूर्वैं कह्या ही है। बहुरि इतना विशेष है जो असंयत तिर्यञ्चिणीकैं प्रथमोपशम वेदक ए दो सम्यक्त्व हैं अर मनुष्यिणीकै प्रथमोपशम वेदक क्षायिक ए तीन सम्यक्त्व संभवै हैं तथापि जहाँ सम्यक्त्व हो है तहाँ पर्याप्त आलाप ही है। सम्यक्त्वसहित मरै सो स्त्रीवेदविषै न उपजै है बहुरि द्रव्य अपेक्षा योनिमती पञ्चम गुणस्थान तैं ऊपरि गमन करै नाहीं तातैं तिनकैं द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नाहीं है।

—गो० जी०, गा० ७०३, स० च० टीका

क्षेत्रकी दृष्टिसे दो प्रकारके मनुष्योंमें धर्माधर्ममीमांसा

दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि अढवेदि? अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि।

दर्शनमोहनीय कर्मकी क्षपणाका आरम्भ करनेवाला कहाँपर उसकी क्षपणाका आरम्भ करता है? ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जहाँ जिन, केवली और तीर्थङ्कर विद्यमान हों वहाँ उसकी क्षपणाका आरम्भ करता है ॥११॥

—जीवस्थान सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका

अण्णदरस्स पंचिंदियस्स सण्णिस्स मिच्छाइट्ठिस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स कम्मभूमियस्स अकम्मभूमियस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स

वा संखेज्जवासाउअस्स वा असंखेज्जवासउअस्स वा देवस्स वा मणुसस्स वा तिरिक्खस्स वा णेरइयस्स वा इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णउंसय-वेदस्स वा जलचरस्स वा थलचरस्स वा खगचरस्स वा सागार-जागार सुदोवजोगजुत्तस्स उक्कस्सियाए ट्ठिदीए उक्कस्सट्ठिदिसंकिलेसे वट्टमाणस्स अधवा ईसिमज्झिमपरिणामस्स तस्स णाणावरणीयवेयणा कालदो उक्कस्सा ॥८॥

जो पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि और सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त है, कर्म-भूमिज है, अकर्मभूमिज है या कर्मभूमिके पासके क्षेत्रका निवासी है, संख्यात वर्षकी आयुवाला या असंख्यात वर्षकी आयुवाला है, देव, मनुष्य तिर्यञ्च या नारकी है, स्त्रीवेदवाला, पुरुषवेदवाला या नपुंसकवेदवाला है, जलचर, स्थलचर या नभचर है, साकार जागृत श्रुतोपयोगसे युक्त है और उत्कृष्ट स्थितिके साथ उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला या ईषत् मध्यम परिणामवाला है ऐसे अन्यतर जीवके कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणवेदना होती है।

—वेदनाकालविधान

दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥९५॥

दर्शनमोहनीयका उपशम करनेवाला जीव चारों ही गतियोंमें जानना चाहिए। वह नियमसे पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है ॥९५॥

सव्वणिरयभवणेसु दीवसमुद्दे गुहजोदिसिविमाणे ।
अभिजोग्गअणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥९६॥

सब नरकोंमें, सब भवनवासी देवोंमें, सर्व द्वीप और समुद्रोंमें, सब व्यन्तर देवोंमें, सब ज्योतिषी देवोंमें, सौधर्मकल्पसे लेकर नौ ग्रैवयकतकके सब विमानवासी देवोंमें, वाहनादि देवोंमें, किल्विषिक देवोंमें तथा पारिषद आदि देवोंमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होता है ॥९६॥

अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो।
तत्तो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स ॥१०३॥

इस जीवके दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त कालतक सर्वोपशमसे उपशान्त रहता है। इसके बाद मिथ्यात्व आदि तीनोंमेंसे किसी एकका नियमसे उदय होता है ॥१०३॥

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥

कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ मनुष्यगतिका जीव ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रस्थापक (प्रारम्भ करनेवाला) होता है। किन्तु उसका निष्ठापक (पूर्ण करनेवाला) चारों गतियोंमें होता है ॥११०॥

खवणाए पट्ठवगो जम्हि भवे णियमसा तदो अण्णो।
णाधिच्छदि तिण्णिभवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥

यह जीव जिस भवमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है उससे अन्य तीन भवोंको नियमसे उल्लंघन नहीं करता है। दर्शनमोहनीयके क्षीण होने पर इस कालके भीतर नियमसे मुक्त हो जाता है ॥११३॥

—कषायप्राभृत

कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयसंजमट्ठाणमणंतगुणं। अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। तस्सेवुक्कस्सयं पडिवज्जमाणयस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं। कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं।

इससे संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है। इससे संयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है। इससे संयमको प्राप्त होनेवाले इसी अकर्मभूमिज मनुष्यका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है। इससे संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है।

—कषायप्राभृत चूर्णि पृ० ६७२–६७४

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

—समयसार

जिस प्रकार अनार्य पुरुष अनार्य भाषाके विना उपदेश ग्रहण करनेके लिए समर्थ नहीं होता उसी प्रकार व्यवहारका आश्रय लिए बिना परमार्थका उपदेश करना अशक्य है। (इस गाथामें अनार्य शब्द आया है। इससे विदित होता है कि समयसारकी रचनाके समय मनुष्य आर्य और अनार्य इन दो भागोंमें विभक्त किये जाने लगे थे। ॥८॥

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ॥१६॥
मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज ॥१६॥

—नियमसार

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३-४४॥
मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥३-४५॥

—तत्त्वार्थसूत्र

गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः। ते द्विविधा–ऋद्धिप्राप्तार्या अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति। अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः—क्षेत्रार्या जात्यार्याः कर्मार्याश्चारित्रार्या दर्शनार्याश्चेति। ऋद्धिप्राप्तार्या सप्तविधाः बुद्धिविक्रियातपोबलौपधरसाक्षीणभेदात्। म्लेच्छा द्विविधा—अन्तर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति। × × × त एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च शकयवनशवरपुलिन्दादयः।

जो गुणों और गुणवालोंके द्वारा माने जाते हैं वे आर्य कहलाते हैं। वे दो प्रकारके हैं–ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके होते हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। ऋद्धि प्राप्त आर्य बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धिके भेदसे सात प्रकारके होते हैं। म्लेच्छ दो प्रकारके होते

हैं—अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ। लवणादि समुद्रोंके मध्य अन्तर्द्वीपोंमें रहनेवाले अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं और शक, यवन, शवर तथा पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

—त० सू० ३-३७, सर्वार्थसिद्धि

[तत्त्वार्थसूत्रान्यटीकासु एवमेव मनुष्याणां भेदाः समुलभ्यन्ते। श्लोकवार्तिके तु केवलं लक्षणापेक्षया भेदो दृश्यते। यथा—]

[तत्त्वार्थसूत्रकी अन्य टीकाओंमें मनुष्योंके भेद इसी प्रकार उपलब्ध होते हैं। श्लोकवार्तिकमें मात्र लक्षणकी अपेक्षा भेद दिखलाई देता है। यथा—]

उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः।

जिनके उच्चगोत्रका उदय आदि होता है वे आर्य कहलाते हैं और जिनके नीचगोत्रका उदय आदि होता है वे म्लेच्छ कहलाते हैं।

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः। स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः ॥८॥ स्वसन्तानानुवर्तिनी हि मनुष्याणां आर्यत्वव्यवस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिबन्धना। म्लेच्छव्यवस्थितिश्च मिथ्यात्वादिदोषनिबन्धना स्वसंवेदनसिद्धा स्वरूपवत्।

यवनादिक कर्मभूमिज म्लेच्छ रूपसे प्रसिद्ध हैं। तथा उनके आचार का पालन करनेवाले और भी अनेक प्रकारके मनुष्य म्लेच्छ होते हैं ॥८॥ अपनी सन्तानके अनुसार मनुष्योंकी आर्य-म्लेच्छ व्यवस्था है। उनमेंसे आर्य-परम्परा सम्यग्दर्शनादि गुणोंके निमित्तसे होती है और म्लेच्छपरम्परा मिथ्यात्व आदि दोषोंके निमित्तसे होती है और यह स्वरूपके स्वसंवेदनके समान अनुभवसिद्ध है।

—श्लोकवार्तिक त० सू० ३-३७

उत्तर-दक्खिणभरहे खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं।
दक्खिणतियखंडेसुं अज्जाखंडो त्ति मज्झिम्मो ॥४-२६७॥
सेसा वि य पंच खण्डा णामेणं होंति मेच्छखण्डं ति ॥४-२६८॥

उत्तर और दक्षिण भरतमें अलग-अलग तीन खण्ड हैं। दक्षिणके तीन खण्डोंमें मध्यका आर्य खण्ड है ॥२६७॥ और शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं ॥२६८॥

पणमेच्छखयरसेढिसु अपसप्पुस्सप्पिणीए तुरमम्मि।
तदियाए हाणिचयं कमसो पढमादु चरिमो त्ति ॥४-१६०७॥

पाँच म्लेच्छखण्ड और विद्याधर श्रेणियोंमें अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें और उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक क्रमसे हानि और वृद्धि होती है ॥१६०६॥

—त्रिलोकप्रज्ञप्ति पूर्वार्ध

आर्यदेशाः परिध्वस्ता म्लेच्छैरुद्वासितं जगत्।
एकवर्णाः प्रजां सर्वां पापाः कर्तुं समुद्यताः ॥२७–१४॥

म्लेच्छोंने आर्यदेश ध्वस्त कर दिये और समस्त जगत्को उद्वासित कर दिया। वे पापाचारी समस्त प्रजाको वर्ण विहीन करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥२७-१४॥

—पद्मचरित

अड्ढाइज्जदीवसमुद्दट्ठिदसव्वजीवेसु दंसणमोहक्खवणे पसंगे तप्पडिसेहट्ठं पण्णारसकम्मभूमीसु त्ति भणिदे भोगभूमीओ पडिसिद्धाओ। कम्मभूमीसु ट्ठिददेवमणुसतिरिक्खाणं सव्वेसिं पि गहणं किण्ण पावेदि त्ति भणिदे ण पावेदि, कम्मभूमीसुप्पण्णमणुस्साणमुवयारेण कम्मभूमिववदेसादो। तो वि तिरिक्खाणं गहणं पावेदि, तेसिं तत्थ वि उप्पत्तिसंभवादो? ण, जेसिं तत्थेव उप्पत्ती ण अण्णत्थ संभवो अत्थि तेसिं चेव मणुस्साणं पण्णारसकम्मभूमिववएसो ण तिरिक्खाणं सयंपहपव्वदपरभागे उप्पज्जणेण सव्वहिचाराणं। उत्तं च—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवओ कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवओ चावि सव्वत्थ॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें स्थित सब जीवोंके दर्शन मोहनीयकी क्षपणाका प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर उसका निषेध करनेके लिए 'पन्द्रह कर्मभूमियों में' यह कहा है। इससे भोगभूमियोंका निषेध हो जाता है।

शंका—कर्मभूमियोंमें स्थित देव, मनुष्य और तिर्यञ्च इन सबका ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता?

साधन—नहीं प्राप्त होता, क्योंकि कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको ही यहाँपर उपचारसे कर्मभूमि संज्ञा दी है।

शंका—तो भी तिर्यञ्चोंका ग्रहण प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी वहां भी उत्पत्ति सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिनकी वहींपर उत्पत्ति सम्भव है, अन्यत्र उत्पत्ति सम्भव नहीं, उन्हीं मनुष्योंकी 'पन्द्रह कर्मभूमि' संज्ञा है, तिर्यञ्चोंकी नहीं, क्योंकि स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें उत्पन्न होनेसे वहाँ तिर्यञ्चोंकी यह संज्ञा माननेपर उसका व्यभिचार देखा जाता है। कहा भी है—

दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रस्थापक कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ नियम से मनुष्यगतिका जीव ही होता है। किन्तु उसका निष्ठापक चारों गतिका जीव होता है।

—जीवस्थान चूलिका धवला पृ० २४४

कम्मभूमियस्स संजमं पडिवज्जमाणस्स जहण्णसंजमट्ठाणमणंतगुणं। कुदो? असंखेज्जलोगमेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणुप्पत्तीदो। (अकम्मभूमियस्स संजमं पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। कुदो? असंखेज्जलोगमेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणुप्पत्तीदो।) तस्सेव उक्कस्सयं संजमं पडिवज्जमाणस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं। कुदो? असंखेज्जलोगमेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणुप्पत्तीदो। कम्मभूमियस्स संजमं

पडिवज्जमाणस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं, असंखेज्जलोगमेत्त-छट्ठाणाणि उवरि गंतूणुप्पत्तीदो।

संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्त-गुणा है, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण छहस्थान ऊपर जाकर उसकी उत्पत्ति होती है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर उसकी उत्पत्ति होती है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले उसी मनुष्यका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि असंख्यात लोमप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर उसकी उत्पत्ति होती है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर उसकी उत्पत्ति होती है।

—जीवस्थान चूलिका धवला पृ० २८७

पंचिंदियपज्जत्तमिच्छाइट्ठिणो कम्मभूमा अकम्मभूमा चेदि दुविहा। तत्थ अकम्मभूमा उक्कस्सट्ठिदिं ण बंधंति, पण्णरसकम्मभूमीसु उप्पण्णा चेव उक्कस्सट्ठिदिं बंधंति त्ति जाणावणट्ठं कम्मभूमियस्स वा त्ति भणिदं। भोगभूमीसु उप्पण्णाणं व देव-णेरइयाणं सयंपहणगेंदपव्वदसबाहिरभाग-प्पहुडि जाव सयंभूरमणसमुद्दो त्ति एत्थ कम्मभूमिपडिभागम्मि उप्पण्ण-तिरिक्खाणं च उक्कस्सट्ठिदिबंधपडिसेहे पत्ते तण्णिराकरणट्ठं अकम्मभूमिस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स वा त्ति भणिदं। अकम्मभूमिस्स वा देव-णेरइया घेतव्वा। कम्मभूमिपडिभागस्स वा त्ति उत्ते सयंपहणगिंदपव्वदस्स बाहिरे भागे समुप्पाणं गहणं। संखेज्जवासाउअस्स वा त्ति उत्ते अड्ढाइज्जदीव-समुद्दुप्पण्णस्स कम्मभूमिपडिभागुप्पण्णस्स च गहणं। असंखेज्जवासा-उअस्स वा त्ति उत्ते देव-णेरइयाणं गहणं, ण समयाहियपुव्वकोडिप्पहुडि-उवरिमआउअतिरिक्ख-मणुस्साणं गहणं, पुव्वसुत्तेण तेसिं विहिदपडि-सेहादो।

पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव कर्मभूमिज और अकर्मभूमिजके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे अकर्मभूमिज उत्कृष्ट स्थितिको नहीं बाँधते हैं। किन्तु पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव ही उत्कृष्ट स्थितिको बाँधते हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिए कर्मभूमिज पदका निर्देश किया है। जिस प्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध नहीं होता उसी प्रकार देव और नारकियों तथा स्वयम्प्रभ पर्वतके बाह्य भागसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तकके इस कर्मभूमि सम्बन्धी क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्चोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निषेध प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करनेके लिए 'अकर्मभूमिजके और कर्मभूमिप्रतिभागोत्पन्न जीवके' ऐसा कहा है। 'अकर्मभूमिजके' ऐसा कहनेपर उससे देव और नारकियोंका ग्रहण करना चाहिए। तथा 'कर्मभूमिप्रतिभागोत्पन्नके' ऐसा कहनेपर उससे स्वयम्प्रभ पर्वतके बाह्य भागमें उत्पन्न हुए पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चोंका ग्रहण करना चाहिए। 'संख्यात वर्षकी आयुवाले' ऐसा कहनेपर उससे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें उत्पन्न हुए तथा कर्मभूमि प्रतिभागमें उत्पन्न हुए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। असंख्यात वर्षोंकी आयुवालेके' ऐसा कहने पर उससे देव और नारकियोंका ग्रहण करना चाहिए, एक समय अधिक पूर्व कोटिकी आयुसे लेकर उपरिम आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि पूर्व सूत्रसे उनका निषेध कर आये हैं।

—वेदनाकालविधान सूत्र ८ धवला टीका

देवाणं उक्कस्साउअं पण्णारसकम्मभूमीसु चेव वज्झइ, णेरइयाणं उक्कस्साउअं पण्णारसकम्मभूमीसु कम्मभूमिपडिभागेसु च वज्झदि त्ति जाणावणट्ठं कम्मभूमिपडिभागस्स वा त्ति परूविदं।

देवोंकी उत्कृष्ट आयुका बन्ध पन्द्रह कर्मभूमियोंमें ही होता है तथा नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका बन्ध पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और कर्मभूमि प्रति-

भागोंमें होता है इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'कम्मभूमियस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स वा' यह कहा है।

—वेदना कालविधान सूत्र १२ धवला टीका

तिव्वमंददाए सव्वमंदाणुभागं मिच्छत्तं गच्छमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणं। तस्सेवुक्कस्सयं संजमट्ठामणंतगुणं। असंजदसम्मत्तं गच्छमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। तस्सेवुक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। संजमासंजमं गच्छमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। तस्सेव उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। तस्सेवुक्कस्सयं पडिवज्जमाणयस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं। कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं।

तीव्र मन्दताकी अपेक्षा विचार करनेपर मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले संयतके जघन्य संयमस्थान सबसे मन्द अनुभागवाला होता है। उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे असंयत सम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले संयतके जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे संयमासंयमको प्राप्त होनेवाले संयमके जघन्य संवमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यके जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिज मनुष्यके जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले उसी अकर्मभूमिज मनुष्यके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे संयमको प्राप्त होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है।

—जयधवला

कम्मभूमियस्से त्ति वुत्ते पण्णरसकम्मभूमीसु मज्झिमखंडसमुप्पण्णस्स गहणं कायव्वं। को अकम्मभूमिओ णाम? भरहेरावयविदेहेसु विणीद-सण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूण सेसपंचखंडणिवासी मणुओ एत्थाकम्मभूमिओ त्ति विवक्खिओ, तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो। जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं, दिसाविजय-पयट्टचक्कवट्टीखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहि सहजादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहा-भावादो। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नमातृ-पक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः। ततो न किञ्चिद्विप्रति-षिद्धम्, तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।

'कम्मभूमियस्स' ऐसा कहनेपर पन्द्रह कर्मभूमियोंके बीचके खण्डोंमें उत्पन्न हुए जीवका ग्रहण करना चाहिए।

शंका—अकर्मभूमिज कौन है?

समाधान—भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें विनीत संज्ञावाले मध्यम खण्डको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंमें निवास करनेवाला मनुष्य यहाँ पर 'अकर्मभूमिज' इस पद द्वारा विवक्षित है, क्योंकि इन खण्डोंमें धर्मकर्मकी प्रवृत्ति सम्भव न होनेसे उक्त अर्थ घटित हो जाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो वहाँ पर संयमका ग्रहण करना कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि चारों दिशाओं की विजय करते समय चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यम खण्डमें आ गये हैं और जिनका चक्रवर्ती आदिके साथ विवाह सम्बन्ध हो गया है उनके संयमको स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं आता। अथवा उनकी जिन कन्याओंको चक्रवर्ती आदि व्याह लेते हैं उनके गर्भसे उत्पन्न हुए बालक मातृपक्षकी अपेक्षा स्वयं अकर्मभूमिज रूपसे ही यहाँपर

विवक्षित हैं, इसलिए कुछ भी विरुद्ध बात नहीं है, क्योंकि जो इस प्रकारसे उत्पन्न हुए बालक हैं वे दीक्षाके योग्य हैं इस बातका निषेध नहीं है।

—जयधवला प्रेस कापी पृ० ६३९५

धर्म-कर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथान्यैः समाचारैः आर्यावर्तेन ते समाः ॥३१-४२॥

ये लोग धर्मक्रियाओंसे रहित हैं, इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं। धर्मक्रियाओंके सिवा अन्य आचरणोंसे वे आर्यावर्तमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥३१-१४२॥

—महापुराण

तत्तो पडिवज्जगया अज्ज-मिलेच्छे मिलेच्छ-अज्जे य।
कमसो अवरं अवरं वरं वरं वरं होदि संखं वा ॥१९५॥

प्रतिपातगत स्थानोंसे आगे असंख्यात लोक असंख्यात लोकप्रमाण स्थानोंका अन्तर देकर क्रमसे आर्योंके जघन्य, म्लेच्छोंके जघन्य, म्लेच्छोंके उत्कृष्ट और आर्योंके उत्कृष्ट संयमस्थान होते है ॥१९५॥

—लब्धिधार क्षपणासार

मनोरपत्यानि मनुष्याः। ते द्विविधाः—कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति। तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः–आर्या म्लेच्छाश्चेति। आर्याः पुण्यक्षेत्रवर्तिनः। म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः। भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधराः जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः एकद्वित्रिपल्योपमायुषः।

मनुके अपत्य मनुष्य कहलाते हैं। वे दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। उनमेंसे कर्मभूमिज मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ। पुण्य क्षेत्रमें रहनेवाले आर्य कहलाते हैं और पाप क्षेत्रमें रहनेवाले म्लेच्छ कहलाते हैं। आर्य नामको धारण करनेवाले भोगभूमिज मनुष्य जघन्य, मध्यम और उत्तम भोगभूमिमें रहते हैं जिनकी आयु क्रमसे एक, दो और तीन पल्यप्रमाण होती है।

—नियमसार, गा० १६, अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका

तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचरस्यार्यखण्डमनुष्यस्य सकलसंयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यतिक्रम्य म्लेच्छभूमिजमनुष्यस्य मिथ्यादृष्टिचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं संयमलब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा म्लेच्छभूमिजमनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये उत्कृष्टं संयमलब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखण्डजमनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति। एतान्यार्यम्लेच्छमनुष्यविषयाणि सकलसंयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानानि संयमलब्धिस्थानानि प्रतिपद्यमानस्थानानीत्युच्यन्ते। अत्रार्यम्लेच्छमध्यमस्थानानि मिथ्यादृष्टिचरस्य वा असंयतसम्यग्दृष्टिचरस्य वा देशसंयतचरस्य वा तदनुरूपविशुद्धया सकलसंयमप्रतिपद्यमानस्य सम्भवन्ति। विधिनिषेधयोर्नियमावचने सम्भवप्रतिपत्तिरिति न्यायसिद्धत्वात्। अत्र जघन्यद्वयं यथायोग्यतीव्रसंक्लेशाविष्टस्य। उत्कृष्टद्वयं तु मन्दसंक्लेशाविष्टस्येति ग्राह्यम्। म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं सम्भवतीति नाशंकितव्यम्, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसम्भवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥१६५॥

उससे अर्थात् देशसंयममें गिरनेके अभिमुख हुए सकलसंयमसम्बन्धी उत्कृष्ट प्रतिपातस्थानसे आगे असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानोंका अन्तर देकर आर्यखण्डके मिथ्यादृष्टि मनुष्यके सकलसंयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमें जघन्य सकल संयमलब्धिस्थान होता है। उससे आगे असंख्यात

लोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर म्लेच्छभूमिके मिथ्यादृष्टि मनुष्यके सकलसंयमके ग्रहण करनेके प्रथम समयमें विद्यमान जघन्य संयमलब्धिस्थान होता है। उससे आगे असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान जाकर म्लेच्छभूमिके देशसंयत मनुष्यके सकलसंयमके ग्रहण करनेके प्रथम समयमें उत्कृष्ट संयमलब्धिस्थान होता है। उससे आगे असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान जाकर आर्यखण्डके देशसंयतमनुष्यके संयम ग्रहण करनेके प्रथम समयमें उत्कृष्ट सकलसंयमलब्धिस्थान होता है। ये संयम ग्रहण करनेके प्रथम समयमें होनेवाले आर्य और म्लेच्छ मनुष्यसम्बन्धी प्रतिपद्यमान संयमलब्धिस्थान कहलाते हैं। यहाँ आर्य और म्लेच्छ मनुष्यके मध्यके जो संयमस्थान होते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीवके, असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके या देशसंयत जीवके तदनुरूप विशुद्धिके द्वारा सकलसंयमको प्राप्त होते समय होते हैं, क्योंकि विधि और निषेधरूप नियमका कुछ उल्लेख नहीं होनेसे दोनोंके इन स्थानोंकी सम्भावनाका ज्ञान होता है यह न्यायसिद्ध बात है। यहाँपर आर्य और म्लेच्छ दोनोंके प्राप्त होनेवाले दोनों जघन्य स्थान यथायोग्य तीव्र संक्लेशयुक्त संयतके होते हैं। परन्तु दोनों उत्कृष्ट स्थान मन्दसंक्लेश से युक्त संयतके होते हैं।

शंका—म्लेच्छभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके सकलसंयमका ग्रहण कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दिग्विजयके समय जो म्लेच्छराजा चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आ जाते हैं और जिनका चक्रवर्तीके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन्हें संयमके प्राप्त होनेमें कोई विरोध नहीं आता। चक्रवर्ती आदिके द्वारा विवाही गई उनकी कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न हुआ बालक मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कहलाता है, अतः ऐसे बालकके संयमकी प्राप्ति सम्भव होनेसे उस उस प्रकारके मनुष्योंको दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य होनेका निषेध नहीं ॥१९५॥ —लब्धिधार क्षपणासार संस्कृत टीका

गोत्र-मीमांसा

गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ—उच्चागोदं चेव णीचागोदं चेव ॥४५॥

गोत्र कर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र ॥४५॥

—जीवस्थान प्रथम चूलिका

गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ—उच्चागोदं चेव णीचागोदं चेव। एवडियाओ पयडीओ ॥१३५॥

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। इतनी प्रकृतियाँ ॥१३५॥

—वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वार

विपाकदेसो णाम मदियावरणं जीवविपाका। चदुआउ० भवविपाका०। पंचसरीर–छस्संठाण–तिण्णिअंगो०–छस्संघड०–पंचवण्ण–दुगंध–पंचरस–अट्ठप०-अगुरु०–उप०-पर०-आदाउज्जो०-पत्तेय०-साधार०-थिराथिर–सुभासुभ–णिमिणं एदाओ पुग्गलविपाकाओ। चदुण्णं आणु० खेत्तविपाका०। सेसाणं मदियावरणभंगो।

विपाकदेशकी अपेक्षा मतिज्ञानावरण जीवविपाकी है। चार आयु भवविपाकी हैं। पाँच शरीर, छह संस्थान, तीन आङ्गोपाङ्ग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर शुभ, अशुभ और निर्माण ये पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ हैं। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ हैं। शेष प्रकृतियोंका भङ्ग मतिज्ञानावरणके समान है।

—महाबन्ध, अनुभागप्ररूपणा प्र० पु० पृ० १८६

गोदमप्पाणम्हि णिबद्धं ॥७॥

गोत्रकर्म आत्मामें निबद्ध है। अर्थात् गोत्रकर्मका विपाक जीवमें होता है ॥७॥

—निबन्धन अनुयोगद्वार

उच्चैर्नीचैश्च ॥८-१२॥

गोत्र उच्च और नीचके भेदसे दो प्रकारका है ॥८-१२॥

—तत्त्वार्थसूत्र

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥

सम्यग्दर्शनसे पवित्र अव्रती जीव भी मरकर न तो नारकी, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्री होते हैं, न दुष्कुलमें जाते हैं और न विकलाङ्ग, अल्प आयुवाले और दरिद्र होते हैं ॥३५॥ साधुओंको नमस्कार करनेसे उच्च-गोत्रकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे भोग मिलते हैं, उपासना करनेसे पूजा होती है, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप मिलता है और स्तुति करनेसे कीर्ति फैलती है ॥११५॥

—रत्नकरण्ड

गोत्रं द्विविधम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् ।

गोत्र दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र । जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है और जिसके उदयसे गर्हित कुलोंमें जन्म होता है वह नीचगोत्र है ।

—त० सू०, अ० ८, सूत्र १२ टीका सर्वार्थसिद्धि

अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोरः ।

कुछ भी अयोग्य आचरण करनेवाला व्यक्ति नीच हो जाता है ।

—पद्मपुराण

गूयते शब्दते गोत्रमुच्चैर्नीचैश्च यत्नतः ॥५८-२१८॥

गोत्रमुच्चैश्च नीचैश्च तत्र यस्योदयात्कुले ।
पूजते जन्म तदुच्चैर्नीचैर्नीचकुलेषु तत् ॥५८-२७९॥

जो कहा जाता है उसे गोत्र कहते हैं। उसके उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद हैं ॥५८-२१८॥

जिसके उदयसे उच्च और नीच कुलमें जन्म होता है उसे क्रमसे उच्चगोत्र और नीचगोत्र कहते हैं ॥ ५८-२७९॥

—हरिवंशपुराण

उच्चुच्च उच्च तह उच्चणीच णीचुच्च णीच णीचं च ।
जस्सोदयेण भावो णीचुचविवज्जिदो तस्स ॥

जिस गोत्रकर्मके उदयसे जीव उच्चोच्च, उच्च, उच्चनीच, नीचोच्च, नीच और नीचनीच भावको प्राप्त होता है उस गोत्रकर्मके क्षयसे वह उन भावोंसे रहित होता है।

—उद्धृत धवला

कुदो ? उच्चाणीचागोदाणं जीवपज्जायत्तणेण दंसणादो ।

शंका—गोत्रकर्म आत्मामें निबद्ध क्यों है ?

समाधान—क्योंकि उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये जीवकी पर्याय रूपसे देखे जाते हैं।

—निबन्ध अनुयोगद्वार, सूत्र ७, धवला

जस्स कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तमुच्चागोदं । गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः । जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं णीचागोदं होदि तं णीचागोदं णाम ।

जिस कर्मके उदयसे उच्चगोत्र होता है वह उच्चगोत्र है। गोत्र, कुल, वंश और सन्तान ये एकार्थवाची शब्द हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके नीचगोत्र होता है वह नीचगोत्र है।

—जीवस्थान प्रथम चूलिका १२५ सूत्र धवला

उच्चनीचं गमयतीति गोत्रम्।

जो उच्च और नीचका ज्ञान कराता है वह गोत्र है।

—वर्गणाखण्ड, प्रकृति अनुयोगद्वार, १३४ सूत्र, धवला

उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ? न तावद् राज्यादिलक्षणायां सम्पदि, तस्याः सद्वेद्यतः समुत्पत्तेः। नापि पञ्चमहाव्रतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदयाभाव-प्रसङ्गात्। न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः, ज्ञानावरणक्षयोपशमसहाय-सम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः। तिर्यक्-नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयः स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्वात्। नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापारः, तेषां नामतः समुत्पत्तेः। नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थ-तोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्। न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रो-दयप्रसङ्गात्। नाणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् नाभेयस्य नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च। ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्। तत एव न तस्य कर्मत्वमपि। तदभावे न नीचै-र्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्। ततो गोत्रकर्माभाव इति ? न, जिनवचनस्यासत्यत्वविरोधात्। तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽव-गम्यते। न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत। न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानां आर्यप्रत्यया-भिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्। तत्रोत्पत्ति-हेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषाः सम्भवन्ति, विरोधात्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः।

—प्रकृति अनुयोगद्वार, सूत्र १२६, धवला

शंका—उच्चगोत्रका व्यापार कहाँ होता है ? राज्यादिरूप सम्पदाकी प्राप्तिमें तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति साता-

वेदनीयके निमित्तसे होती है। पाँच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यता भी उच्चगोत्रके द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि ऐसा माननेपर जो देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतोंको धारण नहीं कर सकते हैं उनमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्यानकी उत्पत्तिमें उसका व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम सापेक्ष सम्यग्दर्शनसे होती है। तथा ऐसा माननेपर तिर्यञ्चों और नारकियोंमें भी उच्चगोत्रका उदय प्राप्त होता है, क्योंकि उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्यके होनेमें इसका व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति नामकर्मके निमित्तसे होती है। इक्ष्वाकु कुल आदिकी उत्पत्तिमें भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, परमार्थसे उनका सद्भाव ही नहीं पाया जाता। तथा इन कुलोंके अतिरिक्त वैश्य, ब्राह्मण और साधुओंमें भी उच्चगोत्रका उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें इसका व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकके भी उच्चगोत्रका उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर औपपादिक देवोंमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है तथा नाभेय नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है और इसीलिए उसमें कर्मपना भी नहीं है। उसका अभाव होनेपर नीचगोत्र भी नहीं रहता, क्योंकि दोनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसलिए गोत्रकर्मका अभाव होता है?

समाधान—नहीं; क्योंकि जिनवचनके असत्य होनेमें विरोध आता है। वह भी वहाँ असत्य वचनके कारणोंके नहीं होनेसे जाना जाता है। तथा केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। यदि छद्मस्थोको कुछ अर्थ उपलब्ध नहीं होते हैं तो इतने मात्रसे जिनवचनको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। गोत्रकर्म

निष्फल है यह बात भी नहीं है, क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है, साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकारके ज्ञान, वचन और व्यवहारके निमित्त हैं उन पुरुषोंकी परम्परा उच्चगोत्र कहलाती है। उनमें उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्च-गोत्र है। इस लक्षणमें पूर्वोक्त दोष भी सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उन दोषों का इस लक्षणके साथ विरोध है। तथा उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ है।

—प्रकृति अनुयोगद्वार सूत्र १३६ धवला

ण गोदं जीवगुणविणासयं, तस्स णीचुच्चकुलसमुप्पायणम्मि वावारादो।

गोत्रकर्म जीवगुणका विनाश करनेवाला नहीं है, क्योंकि उसका नीच और उच्च कुलके उत्पन्न करनेमें व्यापार होता है।

—क्षुल्लकबन्ध, स्वामित्व सूत्र १५, धवला

तिरक्खेसु णीचागोदस्स चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविदं। एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि परूवणा परूविदा तेण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमं परिवालयंतेसु उच्चागोदत्तुवलंभादो। उच्चागोदे देस-सयलणिबंधणे संते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंक-णिज्जं, तत्थ वि उच्चागोदजणिदसंजमजोगत्तावेक्खाए उच्चागोदत्तं पडि विरोहाभावादो।

शंका—तिर्यञ्चोंमें सर्वत्र नीचगोत्रकी ही उदीरणा होती है ऐसा सर्वत्र कथन किया है। परन्तु यहाँ उनमें उच्चगोत्रकी ही उदीरणा कही है इसलिए पूर्वापर विरोध आता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि संयमासंयमका पालन करनेवाले तिर्यञ्चोंमें उच्चगोत्र भी पाया जाता है।

शंका—उच्चगोत्र देशसंयम और सकलसंयमके कारणसे होता है, इसलिए मिथ्यादृष्टियोंमें उसका अभाव प्राप्त होता है।

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वहाँ पर भी उच्चगोत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुई संयमकी योग्यताको अपेक्षा उच्चगोत्र होनेमें कोई विरोध नहीं है।

—उदीरणा अनु० धवला

उवघादादावुस्सास-अप्पसत्थ विहायगइ-तस-थावर-बादर-सुहुम-साहारण-पज्जत्तापज्जत्त- दूभग-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसकित्ति - णीचागोदाणमुदीरणा एयंतभवपच्चइया।

उपघात, आतप, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, साधारण, पर्याप्त, अपर्याप्त, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्रकी उदीरणा एकान्तसे भवके निमित्तसे होती है।

—उपक्रम अनुयोगद्वार, धवला टीका, पु० १५ पृ० १७३

सुभग-आदेज्ज-जसगित्ति-उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणामपच्चइया। अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया। को पुण गुणो? संजमो संजमासंजमो वा।

सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इनकी उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवोंमें परिणामोंके निमित्तसे होती है और अगुणप्रतिपन्न जीवोंमें भवके निमित्तसे होती है। गुण पदसे यहाँ पर क्या लिया गया है? गुणपदसे यहाँ पर संयम और संयमासंयम ये दो लिए गये हैं। तात्पर्य यह है कि संयमासंयम और संयम गुणस्थानोंके प्राप्त होनेपर नीचगोत्री भी उच्चगोत्री हो जाते हैं। और जो विवक्षित पर्यायमें इन गुणस्थानोंमें नहीं जाते हैं उनके भवके प्रथम समयमें जो गोत्र होता है वही रहता है। यही बात यहाँ कहे गये अन्य कर्मोंके विषयमें जाननी चाहिए।

—उपक्रम अनुयोगद्वार, धवला टीका, पु० १५ पृ० १७३

उच्चागोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलिचरिमसमओ त्ति उदीरणा। णवरि मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा सिया उदीरेदि। देवो देवी

वा संजदो वा णियमा उदीरेंति। संजदासंजदो सिया उदीरेदि। णीचा-गोदस्स मिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव संजदासंजदस्स उदीरणा। णवरि देवेसु णत्थि उदीरणा। तिरिक्ख-णेरइएसु णियमा उदीरणा। मणुसेसु सिया उदीरणा।

उच्चगोत्रकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक उदीरणा होती है। इतनी विशेषता है कि मनुष्य और मनुष्यिनी स्यात् उदीरणा करते हैं। देव, देवी और संयत नियमसे उदीरणा करते हैं। संयतासंयत स्यात् उदीरणा करता है। नीचगोत्रकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक उदीरणा होती है। इतनी विशेषता है कि देवोंमें इसकी उदीरणा नहीं है। तिर्यञ्च और नारकियोंमें नियमसे उदीरणा है। मनुष्योंमें स्यात् उदीरणा है।

—उपक्रम अनुयोगद्वार धवला टीका पु० १५ पृ० ६१

उच्चा-णीचागोदाणं जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण णीचागोदस्स सागरोवमसदपुधत्तं, उच्चागोदस्स उदीरणंतरमुक्कस्सेण असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा।

उच्चगोत्र और नीचगोत्रका जघन्य उदीरणा अन्तर एक समय है और नीचगोत्रका उत्कृष्ट उदीरणा अन्तर सौ सागर पृथक्त्वप्रमाण है और उच्चगोत्रका उत्कृष्ट उदीरणा अन्तर असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

—उपक्रम अनुयोगद्वार, धवला टीका, पु० १५ पृ० ७१

णीचागोदस्स जह० एगसमओ, उच्चागोदादो णीचागोदं गंतूण तत्थ एगसमयमच्छिय विदियसमए उच्चागोदे उदयमागदे एगसमओ लब्भदे। उक्क० असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा। उच्चागोदस्स जह० एगसमओ, उत्तर-सरीरं विउव्विय एगसमएण मुदस्स तदुवलंभादो। एवं णीचागोदस्स वि। उक्क० सागरोवमसदपुधत्तं।

नीचगोत्रका जघन्य काल एक समय है, क्योंकि उच्चगोत्रसे नीचगोत्रको प्राप्त होकर और वहाँ एक समय रहकर दूसरे समयमें उच्चगोत्रके उदयमें आ जानेपर एक समय काल उपलब्ध होता है। तथा उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्‌गल परिवर्तन प्रमाण है। उच्चगोत्रका जघन्य काल एक समय है, क्योंकि उत्तर शरीरकी विक्रिया कर एक समय रहकर मरे हुए जीवके उच्चगोत्रका एक समय काल उपलब्ध होता है। इसी प्रकार नीचगोत्रका भी एक समय काल उपलब्ध होता है। उच्चगोत्रका उत्कृष्ट काल सौ सागर पृथक्त्व प्रमाण है।

—उपक्रम अनुयोगद्वार; धवला टीका, पु० १५ पृ० ६७

गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥३४–२४॥

गोत्रकर्म जीवोंको प्रशस्त और अप्रशस्त गोत्रोंमें उत्पन्न करा कर सर्व प्रकारसे अपना फल देता है ॥३४–२४॥

—ज्ञानार्णव

अप्पा गुरु ण वि सिस्सु ण वि सामिउ ण वि भिक्खु ।
सूरुउ कायरु होइ ण वि ण उत्तमु ण वि णिच्चु ॥॥८९॥

आत्मा न तो गुरु है, न शिष्य है, न स्वामी है, न भृत्य है, न सूर है, न कायर है, न उत्तम है और न नीच है ॥८९॥

—परमात्मप्रकाश

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१३॥
खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥२२९॥

जीवके सन्तान क्रमसे आये हुए आचरणकी गोत्र संज्ञा है। उच्च-आचरण हो तो उच्चगोत्र और नीच आचारण हो तो नीच गोत्र होता है ॥१३॥

यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टि देशसंयत मनुष्य ही होता है, इसलिए इसके देशसंयत गुणस्थानमें तिर्यञ्चायु, उद्योत और तिर्यञ्चगति इन तीन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। अतएव इनकी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ही उदय व्युच्छित्ति हो जाती है ॥३२६॥

—गो० क०

नैवोत्तमः उत्तमकुलप्रसूतः नैव नीचो नीचकुलप्रसूत इति ॥८६॥

आत्मा न तो उत्तम अर्थात् उत्तम कुलप्रसूत है और न नीच अर्थात् नीच कुलप्रसूत है ॥८६॥

—परमात्मप्रकाश टीका

संताणकमेण आगतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा भवति। तत्र उच्चाचरणं उच्चैर्गोत्रं नीचाचरणं नीचैर्गोत्रम्।

अनुक्रम परिपाटीतैं चल्या आया जो आचरण ताकौं गोत्र ऐसी संज्ञा कहिए सो जहाँ ऊँचा उत्कृष्ट आचरण होइ उच्चगोत्र है। जहाँ नीचा निकृष्ट आचरण होइ सो नीचगोत्र है।

—गो० क० गा० १३, जी० प्र० टी०

क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्देशसंयतो मनुष्य एव। ततः कारणात्तत्र तिर्यगायुरुद्योतस्तिर्यग्गतिश्चेति त्रीण्युदये न सन्ति। तेन तत्त्रयस्य तत्सप्तदशभिः सहासंयतगुणस्थाने एव व्युच्छित्तिः २०। देशसंयते तत्त्रयाभावात् तृतीयकषाया नीचैर्गोत्रं चेति पञ्चैव ५। प्रमत्ते स्वस्य पञ्च ५ अप्रमत्ते सम्यक्त्वप्रकृतेः क्षपितत्वात्त्रयम्। अपूर्वकरणादिषु 'छक्कछच्चेव इगिदुगसोलस तीसं बारस' एवं सत्यसंयते आहारकद्विकं तीर्थं चानुदयः। उदयस्त्र्युत्तरशतम् १०३। देशसंयते विंशति संयोज्यानुदयस्त्रयोविंशतिः २३, उदयस्त्र्यशीतिः ८३। प्रमत्ते पञ्च संयोज्याहारकद्विकोदयादनुदयः षड्विंशतिः २६, उदयोऽशीतिः। अप्रमत्ते पञ्च संयोज्यानुदय एकत्रिंशत् ३१, उदयः पञ्चसप्ततिः ७५। अपूर्वकरणे तिस्रः संयोज्यानुदयश्चतुस्त्रिंशत्, उदयो द्वासप्ततिः।

अनिवृत्तिकरणे षट् संयोज्यानुदयश्चत्वारिंशत् ४०, उदयः षट्षष्टिः ६६। सूक्ष्मसाम्पराये षट् संयोज्यानुदयः षट्चत्वारिंशत् ४६, उदयः षष्टिः। उपशान्तकषाये एकां संयोज्यानुदयः सप्तचत्वारिंशत् ४७, उदयः एकान्नषष्टिः ५९। क्षीणकषाये द्वे संयोज्यानुदय एकान्नपञ्चाशत् ४९। उदयः सप्तपञ्चाशत् ५७। सयोगे षोडश संयोज्य तीर्थोदयादनुदयः चतुःषष्टिः, उदयो द्वाचत्वारिंशत्। अयोगे त्रिंशतं संयोज्यानुदयश्चतुर्णवतिः ९४, उदयो द्वादश १२।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि देशसंयत गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही होइ तिर्यंच न होइ तातैं तिर्यंचायु १ उद्योत १ तिर्यंचगति १ इन तीनका उदय पंचम गुणस्थानविषैं नाहीं। इनकी व्युच्छित्ति चौथे ही भई यातैं असंयतविषैं व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् सत्रह अर तिर्यंचायु उद्योत तिर्यंचगति तीन ए ऐसे बीस व्युच्छित्ति है बहुरि देशसंयतविषैं ते तीन नाहीं तातैं प्रत्याख्यान कषाय च्यारि ४ नीचगोत्र १ ऐसे पाँच व्युच्छित्ति हैं। प्रमत्तविषैं गुणस्थानवत् पाँच, अप्रमत्तविषैं सम्यक्त्व मोहनी नाहीं तातैं तीन, बहुरि अपूर्वकरणादिक विषैं गुणस्थानवत् छह छह एक दोय सोलह तीस बारह व्युच्छित्ति जाननी ऐसैं होतैं असंयतविषैं आहारकद्विक तीर्थंकर ए अनुदय तीन उदय एकसौ तीन बहुरि व्युच्छित्ति बीस तातैं देशसंयतविषैं अनुदय तेईस उदय तियासी बहुरि व्युच्छित्ति पाँचका अनुदय आहारकद्विकका उदय तातैं प्रमत्तविषैं अनुदय छब्बीस उदय असी बहुरि अप्रमत्तादिक विषैं नीचली व्युच्छित्ति मिलाए अनुदय अनुक्रमतैं इकतीस चौंतीस चालीस छियालीस सैंतालीस गुणचास जानना। बहुरि व्युछित्ति सोलह तीर्थंकरका उदय तातैं सयोगी विषैं अनुदय चौसठि बहुरि व्युच्छित्ति तीस तातैं अयोगी विषै अनुदय चौराणवैं बहुरि अप्रमत्तादिक विषै उदय अनुक्रमतैं पिचहत्तरि बहत्तरि छयासठि साठि गुणसठि सत्तावन बियालीस बारह जानना।

—गो० क०, गा० ३२९, जी० प्र० टी०

कुल मीमांसा

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणो हि तं पि पणदो पडिच्छमं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

जो गुणोंसे आढ्य हैं, कुल, रूप और वयसे विशिष्ट हैं तथा श्रमणों-के लिए अत्यन्त इष्ट हैं ऐसे गणीको प्राप्त होकर और नमस्कार कर मुझे अङ्गीकार करो ऐसा शिष्यके द्वारा कहनेपर आचार्य अनुगृहीत करते हैं।

—प्रवचनसार

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं ।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥३१॥

जाति, कुल, शिल्प, तपःकर्म और ईश्वरपना इनकी आजीव संज्ञा है। इनके आश्रयसे आहार प्राप्त करना आजीव नामका दोष है।

—मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥९-४९॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्त्यके दस भेद हैं ॥९–२४॥

—तत्त्वार्थसूत्र

महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।

सम्यग्दर्शनसे पवित्र हुए पुरुष महाकुलवाले और महापुरुषार्थवाले मानवतिलक होते हैं।

—रत्नकरण्ड

दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम् ।

दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदायको कुल कहते हैं।

—त० सू०, अ० ९ सू० २४ सर्वार्थसिद्धि

जगत्यस्मिन्महावंशाश्चत्वारः प्रथिता नृप ।
एषां रहस्यसंयुक्ताः प्रभेदा बहुधोदिताः ॥५१॥
इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः ।
ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशांककरनिर्मलः ॥५-२॥
विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽत्यन्तमनोहरः ।
हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थः परिकीर्तितः ५-३॥
अयमादित्यवंशस्ते प्रथितः क्रमतो नृप ।
उत्पत्तिः सोमवंशस्य साम्प्रतं परिकीर्त्यते ॥५-११॥
एष ते सोमवंशोऽपि कथितः पृथिवीपते ।
वैद्याधरमत वंश कथयामि समासतः ॥५-१५॥
एवं वैद्याधरोऽयं ते राजन् वंशः प्रकीर्तितः ।
अवतारो द्वितीयस्य युगस्यातः प्रचक्ष्यते ॥५-५६॥
रक्षन्ति रक्षसां द्वीपं पुण्येन परिरक्षिताः ।
राक्षसानामतो द्वीपं प्रसिद्धिं तदुपागतम् ॥५-३८६॥
एष राक्षसवंशस्य सम्भवः परिकीर्तितः
वंशप्रधानपुरुषान्कीर्तियिष्यास्यतः परम् ॥५-३८७॥

हे राजन्! इस लोकमें चार महावंश प्रसिद्ध हुए हैं। रहस्ययुक्त इनके अनेक भेद-प्रभेद कहे गये हैं ॥१॥ उनमेंसे लोकमें भूषणरूप सर्वश्रेष्ठ पहला इक्ष्वाकुवंश है। चन्द्रमाकी किरणके समान निर्मल दूसरा ऋषिवंश है ॥२॥ अत्यन्त मनोहर तीसरा विद्याधर वंश है। और चौथा जगत्प्रसिद्ध हरिवंश कहा गया है ॥३॥······हे राजन् क्रमसे यह आदित्यवंश कहा है। अब सोमवंशकी उत्पत्तिका कथन करते हैं ॥१०॥···हे पृथिवीपते! यह सोमवंश कहा। अब संक्षेपमें विद्याधरवंशका कथन करते हैं ॥१५॥ ······इस प्रकार हे राजन्! यह विद्याधरवंश कहा। अब दूसरे युगका कथन करते हैं ॥५६॥······पुण्यसे रक्षित होकर राक्षसोंके द्वीपकी रक्षा करते हैं, इसलिए इस द्वीपका नाम राक्षसद्वीप प्रसिद्धिको प्राप्त

हुआ ॥२८६॥ यह राक्षसवंशकी उत्पत्ति कही। अब इस वंशमें उत्पन्न हुए प्रधान पुरुषोंका कथन करते हैं ॥५-८७॥

—पद्मचरित

कुलानामिति सर्वेषां श्रावकाणां कुलं स्तुतम्।
आचारेण हि तत्पूतं सुगत्यर्जनतत्परम् ॥२०-१४०॥
तथा वानरचिन्हेन छत्रादिविनिवेशिना।
विद्याधरा गता ख्यातिं वानरा इति विष्टपे ॥६-२१५॥

सब कुलोंमें श्रावकोंका कुल स्तुत्य होता है, क्योंकि वह अपने आचार के कारण पवित्र है और सुगतिका कारण है ॥२०-१४०॥

उसी प्रकार छत्रादिमें अङ्कित वानरचिह्नके कारण विद्याधर लोक वानर इस ख्यातिको प्राप्त हुआ ॥६-२१५॥

—पद्मचरित

गङ्गासिन्धुमहानद्योर्मध्ये दक्षिणभारते।
चतुर्दश यथोत्पन्नाः क्रमेण कुलकारिणः ॥७-१२४॥
आदित्यवंशसंभूताः क्रमेण पृथुकीर्तयः।
सुते न्यस्तभराः प्राप्तस्तपसा परिनिर्वृत्तिम् ॥१३-१२॥
योऽसौ बाहुबली तस्माज्जातः सोमयशाः सुतः।
सोमवंशस्य कर्ताऽसौ तस्य सूनुर्महाबलः ॥१३-१६॥
इक्ष्वाकुः प्रथमप्रधानमुदगादादित्यवंशस्ततः।
तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्ये कुरूग्रादयः॥
पश्चात् श्रीवृषभादभूदृषिगणः श्रीवंश उच्चैस्तराम्।
इत्थं ते नृपखेचरान्वययुता वंशास्तवोक्ता मया ॥१३-३३॥
हरिरयं प्रभवः प्रथमोऽभवत्सुयशसो हरिवंशकुलोद्गतेः।
जगति यस्य सुनामपरिग्रहाच्चरति भो हरिवंश इति श्रुतिः॥१५-५८॥
उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपविभाकरः ॥१८-६॥

गण्याह कुरुराजानमन्ववाये महोदये।
शान्तिकुन्थ्वरनामानो यत्र तीर्थकरास्त्रयः ॥४५-४॥
भार्गवाचार्यवंशोऽपि श्रृणु श्रेणिक ! वर्ण्यते।
द्रोणाचार्यस्य विख्याता शिष्याचार्यपरम्परा ॥४५-४४॥

गङ्गा और सिन्धु नदीके मध्य दक्षिण भारतवर्षमें क्रमसे चौदह कुलकर उत्पन्न हुए ॥७-१२४॥

भरतके पुत्र आदित्यवंशमें उत्पन्न हुए। ये सब विस्तृत कीर्तिको प्राप्त कर और अपने अपने पुत्रपर राज्यका भार सोंपकर तप करके मोक्षको प्राप्त हुए ॥१३-१२॥

बाहुबलिका सोमयश पुत्र हुआ। उसने सोमवंश चलाया। उसका पुत्र महाबल हुआ ॥१३-१६॥

पहले प्रधान इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ। पुनः उससे आदित्यवंश निकला और उसीसे सोमवंश तथा अन्य कुरुवंश और उग्रवंश आदि निकले। अनन्तर श्री ऋषभदेवके निमित्तसे ही ऋषिगणोंका श्रीवंश चला। इस प्रकार मैंने (गौतमगणधरने) तुम्हें (श्रेणिक राजाके लिए) राजाओं और विद्याधरोंके वंश कहे ॥१३-३३॥

यह हरि राजा हरिवंश कुलकी उत्पत्तिमें तथा उत्तम यश फैलानेमें प्रथम कारण हुआ। जगतमें जिसके सुनामको लेकर हरिवंश यह श्रुति फैली ॥१५-५८॥

उस हरिवंश रूपी उदयाचलपर यदु उदित हुए। उस यदु राजारूपी सूर्यने पृथिवीपर यादववंश फैलाया ॥१८-६॥

गणीने कहा ये पाण्डव विपुल वैभवशाली उस कुरुवंशमें हुए हैं जिसमें शान्ति, कुन्थु और अर ये तीन तीर्थङ्कर उत्पन्न हुए ॥४५-४॥

हे श्रेणिक ! मैं भार्गव आचार्यके वंशका कथन करता हूँ, सुनो। जो द्रोणाचार्य शिष्य आचार्योंकी परम्परा प्रसिद्ध है उसे भार्गववंश कहते हैं ॥४५-४४॥

—हरिवंशपुराण

देसकुलजाइसुद्धो सोमंगो संगभंग उम्मुक्को ।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरिया एरिसो होइ ॥

जो देश, कुल और जातिसे शुद्ध है, सौम्यमूर्ति है, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है और आकाशके समान निर्लेप है ऐसा आचार्य परमेष्ठी होता है ।

—धवला प्र० पुस्तक पृ० ४९ उद्धृत

बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवेरहिं सव्वेहिं ।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ॥
पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टिवंसो दु ।
विज्जाहराण तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं ॥
चारणवंसो तह पञ्चमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं ।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ॥
णवमो य इक्खयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो ।
वाईणेक्कारसमो जारसमो णाहवंसो दु ॥

जिनेन्द्रदेवने जगतमें बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । वे सब पुराण जिनवंशों और राजवंशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिहंतोंका, दूसरा चक्रवर्तियोंका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा वासुदेवोंका, पाँचवाँ चारणोंका और छठा प्रज्ञाश्रमणोंका वंश है । इसी प्रकार सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नौवाँ इक्ष्वाकुवंश, दसवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियोंका वंश और बारहवाँ नाथवंश है ।

—धवला प्र० पु० पृ० ११२ उद्धृत

तत्थ कुलं पञ्चविहं-पञ्चथूहकुलं गुहावासीकुलं सालमूलकुलं असोगवाडकुलं खण्डकेसरकुलं ।

कुल पाँच प्रकारका है—पञ्चस्तूप कुल, गुफावासी कुल, शालमूल कुल, अशोकवाट कुल और खण्डकेशर कुल ।

—कर्म अनुयोगद्वार सूत्र १२६ पु० १३ धवला

नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात्।

इक्ष्वाकुकुल आदिकी उत्पत्तिमें भी उच्चगोत्रका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, परमार्थसे वे हैं ही नहीं।

—प्रकृति अनुयोगद्वार सूत्र १३६ पु० १३ धवला

तस्येष्टमूरुलिङ्गं च सुधौतसितशाटकम्।
आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥३८-११॥
वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते।
आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्यास्य पुष्कला ॥३९-७२॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते ॥३९-८५
कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः।
तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत् ॥४०-१८१॥

अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जाँघका चिह्न है। वह धोती सूचित करती है कि अरिहन्त कुल पवित्र और विशाल है ॥३८, १११॥

वर्णलाभ क्रिया कही। अब कुलचर्या क्रिया कहते हैं—आर्यपुरुषों द्वारा करने योग्य छह कर्मोंसे अपनी आजीविका करना इसकी कुलचर्या क्रिया है ॥३९, ७२॥

पिताकी वंशशुद्धिको कुल कहते हैं ॥३९—८५॥

अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोंकी कुलावधि क्रिया कहलाती है। इसकी रक्षा न होने पर उसकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥४०—८१॥

—महापुराण

कुलं गुरुसन्ततिः।

गुरुकी सन्ततिको कुल कहते हैं।

—मूलाचार अ० ५ गा० ८६ ४४ टीका

कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टम् ॥२०३॥

कुल क्रमसे आये हुए क्रूरता आदि दोषांसे रहित होनेके कारण कुल विशिष्ट हैं ॥२०३॥

—प्रवचनसार टीका

इक्ष्वाकुनाथभोजोग्रवंशास्तीर्थकृता कृताः ।
आद्येन कुर्वता राज्यं चत्वारि प्रथिता भुवि ॥१८–६५॥
अर्ककीर्तिरभूत्पुत्रो भरतस्य रथाङ्गिनः ।
सोमो बाहुबलेस्ताभ्यां वंशौ सोमार्कसंज्ञिकौ ॥१८–६६॥

राज्य करते हुए प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवने लोकमें प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश, भोजवंश और उग्रवंश इन चार वंशोंका निर्माण किया ॥१८–६५॥

भरतचक्रवर्तीका अर्ककीर्ति नामका पुत्र हुआ और बाहुबलीका सोम नामका पुत्र हुआ । इन दोनोंने चन्द्रवंश और सूर्यवंश चलाये ॥१८–६६॥

—धर्मपरीक्षा

किं कुर्वन् पश्यन् मनसालोकयन् । कम् ? स्वम् । क ? उपरिप्रक्रमवशात्सधर्मणम् । कया जात्या च कुलेन च । कथम् मृपा लद्वयेनापि संवृतितया, जाति-कुलयोः परमार्थतः शुद्धेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । तदुक्तम्—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥

जाति और कुलकी शुद्धिका निश्चय करना अशक्य है । ,साथ ही ये दोनों काल्पनिक हैं, इसलिए जो इनका आलम्बन लेकर स्वयंको अन्य साधर्मी पुरुषोंसे बड़ा मानता है वह ·····। कहा भी है—

इस अनादि संसारमें कामदेव दुर्निवार है और कुल स्त्रीके अधीन है, इसलिए इसमें जातिके माननेका कोई अर्थ नहीं है ।

—अनगारधर्मामृत अ० २ श्लो० ८८ टीका

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणैः ।
ये ऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ।

येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणैः।
विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥२-२०॥

विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि विद्यात्राजीवनार्थं गीतादिशास्त्रं, शिल्पं कारुकर्म ताभ्यां विमुक्ता ततोऽन्या वृत्तिर्वार्ता कृष्यादिलक्षणो जीवनोपायो यत्र तस्मिन्।

जो पहले जैनकुलमें उत्पन्न होकर जिनधर्मके अभ्यासके माहात्म्यसे विना प्रयत्नके प्राप्त हुए गुणोंसे पुण्यवान् पुरुषोंके अग्रसर हो कर स्फुरायमान होते हैं ऐसे पुरुष विरले हैं। किन्तु जो भाग्यवश विद्या और शिल्प कर्मसे रहित दीक्षा योग्य मिथ्यादृष्टि कुलमें उत्पन्न होकर भी अपने गुणोंसे प्रकाशमान होते हैं वे भी उनका अनुसरण करते हैं ॥२०॥

गीतादिसे आजीविका करना विद्या है और बढ़ईगिरी आदिका कर्म शिल्प कहलाता है। इन दोनोंसे रहित जो अपनी आजीविका कृषि आदि कर्मसे करते है वे विद्या और शिल्पसे रहित आजीविका करनेवाले कहलाते हैं।

—सागारधर्मामृत

कुलं पूर्वपुरुपपरम्पराप्रभवो वंशः।

पूर्व पुरुष परम्परासे उत्पन्न हुआ वंश कुल कहलाता है।

—सागारधर्मामृत टीका २-२०

क्षत्रियाणां सुगोत्राणि व्यधापियत वेधसा।
चत्वारि चतुरेणैव राजस्थितिसुसिद्धये ॥२-१६३॥
सुवागिक्ष्वाकुराद्यस्तु द्वितीय कौरवो मतः।
हरिवंशस्तृतीयस्तु चतुर्थो नाथनामभाक् २-१६४॥

चतुर आदि ब्रह्माने राज्योंकी परम्पराको व्यवस्थितरूपसे चलानेके लिए क्षत्रियोंके उत्तम चार गोत्रोंका निर्माण किया ॥२-१६३॥ प्रथम इक्ष्वाकु गोत्र, दूसरा कौरव गोत्र, तीसरा हरिवंश और चौथा नाथगोत्र॥२-१६४॥ —पाण्डवपुराण

हरिवर्षादवतीर्णो यद्भवतां पूर्वजः पुरा तस्मात् ।
हरिवंश इति ख्यातो वंशो द्यावापृथिव्योर्वः १-२८॥

क्योंकि तुम्हारा पूर्वज पहले हरिवर्षसे आया था, इसलिए तुम्हारा वंश इस लोकमें हरिवंश नामसे विख्यात आ ॥१-२८॥

—पुराणसारसंग्रह

जातिमीमांसा

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

स्मय अर्थात मानसे रहित जिनदेवने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठके आश्रयसे मान करनेको स्मय कहा है ।॥२५॥ —रत्नकरण्ड

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एव आत्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥
जाति-लिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

जाति देहके आश्रयसे देखी गई है और आत्माका संसार शरीर ही है, इसलिए जो जातिकृत आग्रहसे युक्त हैं, वे संसारसे मुक्त नहीं होते ॥८८॥ ब्राह्मणादि जाति और जटाधारण आदि लिंगके विकल्परूपसे जिनका धर्ममें आग्रह है वे भी आत्माके परम पदको नहीं ही प्राप्त होते ॥८९॥

—समाधितन्त्र

न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः ।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः ॥११-११५॥

पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन ।
त्वग्मांसमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुःप्रभेदाश्च कथं भवन्ति ॥८॥
विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥२५-४४॥
व्यासो वशिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युद्गमौ द्रोणपराशरौ च ।
आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसम्पदाभिः ॥२५-४४॥

ब्राह्मण कुछ चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र वर्णवाले नहीं होते, क्षत्रिय कुछ किंशुकके पुष्पके समान गौरवर्णवाले नहीं होते, वैश्य कुछ हरतालके समान रंगवाले नहीं होते और शूद्र कुछ अङ्गारके समान कृष्णवर्णवाले नहीं होते ॥७॥ चलना फिरना, शरीरका रंग, केश, सुख-दुख, रक्त, त्वचा, मांस, मेदा, अस्थि और रस इन सब बातोंमें वे एक समान होते हैं, इसलिए मनुष्योंके ब्राह्मण आदि चार भेद नहीं हो सकते।

जो विद्या, क्रिया और गुणोंसे हीन है वह जातिमात्रसे ब्राह्मण नहीं हो सकता, किन्तु जो ज्ञान, शील और गुणोंसे युक्त है उसे ही ब्रह्मके जानकार पुरुष ब्राह्मण कहते हैं ॥४४॥ व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कण्ठ, शक्ति, उद्गम, द्रोण और पराशर ये सब आचार और तपरूप अपनी सम्पत्तिसे युक्त होकर ही ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥४४॥

—वराङ्गचरित

चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकम् ।
ज्ञानं देहविशेषस्य न च श्लोकाग्निसम्भवात् ॥११-१६४

विना अन्य हेतुके केवल वेदवाक्य और अग्निके संस्कारसे देहविशेष का ज्ञान होता है ऐसा कहकर चार प्रकारकी जाति मानना उचित नहीं है ॥११-१६४॥

दृश्यते जातिभेदस्तु यत्र तत्रास्य सम्भवः ।
मनुष्यहस्तिवालेयगोवाजिप्रभृतौ यथा ॥११-१६५॥

न च जात्यन्तरस्थेन पुरुषेण स्त्रियां क्वचित् ।
क्रियते गर्भसम्भूतिर्विप्रादीनां तु जायते ॥११–१९६॥
अश्वायां रासभे नास्ति सम्भवोऽस्येति चेन्न सः ।
नितान्तमन्यजातिस्थशफादितनुसाम्यतः ॥११–१९७॥
यदि व तद्वदेव स्याद् द्वयोर्विसदृशः सुतः ।
नात्र दृष्टं तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥११–१९८॥

जातिभेद वहींपर देखा जाता है जहाँपर यह सम्भव है । जैसे मनुष्य हाथी, वालेय, गौ और घोड़ा आदि ये सब अलग अलग जातियाँ हैं ॥११–१९५॥ अन्य जातिका पुरुष अन्य जातिकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं कर सकता, परन्तु ब्राह्मण आदिमें यह क्रिया देखी जाती है ॥११–१९६॥ यदि कोई कहे कि घोड़ी अन्य जातिकी होती है और गधा अन्य जातिका होता है, फिर भी गधा घोड़ीमें गर्भाधान करता है सो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि ये सर्वथा भिन्न जातिके नहीं होते । कारण कि इनके पैरोंमें खुर आदि अवयवोंकी अपेक्षा इनके शरीरमें समानता देखी जाती है ॥११–१९७॥ अथवा इनमें भेद मान लेनेपर जिस प्रकार इनसे उत्पन्न हुई सन्तान विलक्षण होती है उसी प्रकार तथाकथित भिन्न जातिके दो स्त्री-पुरुषोंकी सन्तान भी विलक्षण होनी चाहिए । परन्तु वहाँ वैसी कोई विलक्षणता नहीं दिखलाई देती, इसलिए गुणोंके आधारसे वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है ॥११–१९८॥

मुखादिसम्भवश्चापि ब्राह्मणो योऽभिधीयते ।
निर्हेतुः स्वगेहेऽसौ शोभते भाष्यमाणकः ॥११–१९९॥
ऋषिश्रृङ्गादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते ।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसम्भवात् ॥११–२००॥

जो बिना हेतुके यह कहते हैं कि ब्राह्मण आदि ब्रह्माके मुख आदिसे उत्पन्न हुए है वे ऐसा कहनेवाले अपने घरमें ही शोभा पाते हैं ॥११–

१९९॥ ऋषिशृङ्ग आदि मनुष्य ब्राह्मण हैं यह बात गुणके सम्बन्धसे कही जाती है, ब्राह्मण योनिमें उत्पन्न होनेसे नहीं ॥११-२००॥

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११-२०३॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥११-२०४॥

कोई जाति गर्हित नहीं होती । वास्तवमें गुण कल्याणके कारण हैं, क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रने व्रतोंमें स्थित चाण्डालको ब्राह्मण माना है ॥११-२०३॥ विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल जो भी हो, पण्डित जन उन सबमें समदर्शी होते हैं ॥११-२०४॥

—पद्मपुराण

विशुद्धवृत्तिरेपेषां षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम् ।
योऽतिक्रमेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ॥३८-४२॥
तपः श्रुतं चा जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् ।
तपः- श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥३८-४३॥
अपापोहता वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा ।
दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद् व्रतशुद्धया सुसंस्कृता ॥३८-४४॥
तपः-श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते ।
असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥३८-४७॥
द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः ।
क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ३८-४८॥

यह पूर्वोक्त छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति इन द्विजोंके द्वारा करने योग्य है । जो इसका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रका द्विज है, गुणोंसे द्विज नहीं है॥३८-४२॥ तप, श्रुत और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं। जो तप और श्रुतसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥३८-४३॥

पापरहित वृत्ति ही इनकी उत्तम जाति है। जो दान, पूजा और अध्ययनकी मुख्यतासे तथा व्रतोंकी शुद्धिसे सुसंस्कृत है ॥३८-४४॥ ...इसलिए तप और श्रुत ही जातिसंस्कारका कारण कहा गया है। जो इन दोनों क्रियाओंसे असंस्कृत है वह जातिमात्रसे ही द्विज है ॥३८-४७॥ जो क्रिया और गर्भ इन दोसे जन्मा है ऐसा द्विजन्मा हमें इष्ट है। परन्तु जो क्रिया मन्त्रसे हीन है वह केवल नामधारी द्विज है ॥३८-४८॥

ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् ।
यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥३९-९२॥

तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना ।
जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥३९-९३॥

व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुरस्सरम् ।
सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥३९-९४॥

यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् ।
सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावरूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥३९-९५॥

वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है और सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। जिस समय वह कृती सर्वज्ञके मुखसे उसे प्राप्त करता है ॥३९-९२॥ उस समय वह उत्तम ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है तथा व्रतों और शीलोंसे विभूषित होकर द्विज होता है ॥३९-९३॥ सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रधान माननेवाले उसके मन्त्रपूर्वक धारण किया गया सूत्र व्रतका चिन्ह है। वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥३९-९४॥ तीन लरका यज्ञोपवीत द्रव्य सूत्र है और भावरूप तीन गुणोंसे निर्मित उपासकका भावसूत्र है ॥३९-९५॥

—महापुराण

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्नप्यदर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रदर्शनात् ॥७४-४९१॥

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥७४–४९२॥
अच्छेदो मुक्तियोग्यायाः विदेहे जातिसन्ततेः ।
तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसम्भवात् ॥७४–४९४॥
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसन्ततिः ॥७४–४९५॥

इस शरीरमें वर्ण तथा आकृति आदिकी अपेक्षा कुछ भी भेद देखनेमें नहीं आता तथा ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भधारण किया जाना देखा जाता है ॥७४–४९१॥ तथा मनुष्योंमें गाय और अश्वके समान कुछ भी जातिकृत भेद नहीं है। यदि आकृतिमें भेद होता तो जातिकृत भेद माना जाता। परन्तु इनमें आकृति भेद नहीं हैं, अतः उनमें जातिकी कल्पना करना व्यर्थ है ॥७४-४९२॥ विदेह क्षेत्रमें मुक्तिके योग्य जाति-सन्ततिका विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वहाँपर इसके योग्य नामकर्म और गोत्रकर्मसे युक्त जीवोंकी कभी व्युच्छित्ति नहीं होती ॥७४–४९४॥ परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थ कालमें ही मुक्तियोग्य जातिसन्तति पाई जाती है ॥७४–४९५॥

—उत्तरपुराण

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढ विसेसु ॥८१॥
अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मणइ असेसु ॥८२॥

मूढ़ पुरुष ऐसा अलग अलग मानता है कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, में क्षत्रिय हूँ और मैं शेष अर्थात् शूद्रादि हूँ। मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ और मैं स्त्री हूँ ॥८१॥ किन्तु आत्मा न ब्राह्मण है, न वैश्य है, न क्षत्रिय है और न शेष अर्थात् शूद्र आदि ही है। वह न पुरुष है, न नपुंसक है और न स्त्री है। ज्ञानी आत्माको ऐसा मातता है ॥८२॥

—परमात्मप्रकाश

क्रियाविलोपात् शूद्रान्नादेश्च जातिलोपः स्वयमेवाभ्युपगतः ।

क्रियाका लोप होनेसे और शूद्रान्नके भक्षण करने आदिसे जातिलोप आपने (मीमांसकोंने) स्वयं स्वीकार किया है । यथा—

शूद्राशाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात् ।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते ॥ उद्धृत ।

शूद्रका अन्न खानेसे, शूद्रके साथ सम्पर्क स्थापित करनेसे और शूद्र के साथ बातचीत करनेसे इस जन्ममें शूद्र हो जाता है और मरकर अगले जन्ममें कुत्ता होता है ॥पृ० ४८३॥

ननु ब्राह्मण्यादिजातिविलोपे कथं वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारो जैनानां घटेत ? इत्यप्यसमीचीनम्, क्रियाविशेष-यज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । कथमन्यथा परशुरामेण निःक्षत्रीकृत्य ब्राह्मणदत्तायां पृथिव्यां क्षत्रियसम्भवः । यथा चानेन निःक्षत्रीकृतासौ तथा केनचिन्निर्ब्राह्मणीकृतापि सम्भाव्येत । ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः ।

शंका—ब्राह्मणत्व आदि जातिका लोप कर देनेपर जैनोंके यहाँ वर्णाश्रमव्यवस्था और उसके निमित्तसे होनेवाला तप तथा दान आदि व्यवहार कैसे बनेगा ?

समाधान—मीमांसकोंका यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति क्रियाविशेष करता है और यज्ञोपवीत आदि चिन्हसे युक्त है उसमें वर्णाश्रमधर्म और तप-दान आदि व्यवहार बन जाता है । यदि ऐसा न माना जाय तो परशुरामके द्वारा समस्त पृथिवीको क्षत्रियोंसे शून्य करके उसे ब्राह्मणोंको दान कर देनेपर पुनः क्षत्रिय कहाँसे उत्पन्न हो गये । जिस प्रकार उसने समस्त पृथिवीको क्षत्रिय रहित कर दिया था उसी प्रकार अन्य कोई उसे ब्राह्मण रहित भी कर सकता है, इसलिए यह ब्राह्मण है इत्यादि व्यवहार क्रियाविशेषके निमित्तसे ही होता है ऐसा समझना चाहिए ।

एतेनाविगानतस्त्रैवर्णिकोपदेशोऽत्र वस्तुनि प्रमाणमिति प्रत्युक्तम्, तस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात् । दृश्यन्ते हि बहवस्त्रैवर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवह्रियमाणा विपर्ययभाजः । तन्न परपरिकल्पितायां जातौ प्रमाणमस्ति यतोऽस्याः सद्भावः स्यात् । सद्भावे वा वेश्यापाटकादि-प्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च न स्यात्, जातिर्यतः पवित्रताहेतुः । सा च भवन्मते तदवस्थैव । अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपीष्टं शिष्टै-रादानम्, न तु ब्राह्मण्यादीनाम् । अथ क्रियाभ्रंशात्तत्र ब्राह्मण्यादीनां निन्द्यता, न, तज्जात्युपलम्भे तद्विशिष्टवस्तुव्यवसाये च पूर्ववत्क्रियाभ्रंश-स्याप्यसम्भवात् । ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टव्यक्तिव्यवसायो ह्यप्रवृत्ताया अपि क्रियायाः प्रवृत्तेर्निमित्तम् । स च तदवस्थ एव भवदभ्युपगमेन । क्रियाभ्रंशे तज्जातिनिवृत्तौ च व्रात्येऽप्यस्या निवृत्तिः स्यात्, तद्भ्रंशा-विशेषात् ।

बहुतसे लोक ऐसा कहते हैं कि विवाद रहित होनेसे तीन वर्णका उपदेश प्रकृतमें प्रमाण है, परन्तु उनका ऐसा कहना भी पूर्वोक्त कथनसे ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि यह उपदेश भी निर्दोष नहीं है। अक्सर जो त्रैवर्णिक हैं उनका भी निर्विवादरूपसे ब्राह्मणके समान व्यवहार होता हुआ देखा जाता है । इसलिए मीमांसक आदिके द्वारा मानी गई जाति प्रमाण-सिद्ध न होनेसे उसका सद्भाव नहीं माना जा सकता । फिर भी यदि उसका सद्भाव माना जाता है तो ब्राह्मण स्त्रियोंके वेश्याके गृह आदिमें प्रवेश करने पर न तो उनका ब्राह्मणत्व ही समाप्त होना चाहिए और न निन्दा ही होनी चाहिए, क्योंकि आपके यहाँ कर्मके विना केवल जाति ही पवित्रता का कारण माना गया है और वह पवित्रता उन स्त्रियोंकी उस अवस्था में भी बनी रहती है। यदि ऐसा न माना जाय तो ब्राह्मणजाति गोजातिसे भी निकृष्ट ठहरती है। यह तो जगप्रसिद्ध बात है कि गाय आदि बहुत काल तक चाण्डाल आदिके घरमें रही आती है फिर भी शिष्ट पुरुष उसे

स्वीकार कर लेते हैं पर यह बात ब्राह्मणी आदिके विषयमें नहीं है। यदि कहा जाय कि वेश्याके घरमें प्रवेश करनेपर क्रियाका लोप होनेसे ब्राह्मण स्त्रियाँ निन्दनीय हो जाती हैं सो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि तब भी वह ब्राह्मणी ही बनी रहती है, इसलिए वेश्याके घरमें प्रवेश करनेके पूर्व जैसे उसकी क्रियाका लोप नहीं होता वैसे उसके घरमें प्रवेश करनेके बाद भी उसका लोप होना असम्भव है। आप तो ऐसा मानते हैं कि जो भी व्यक्ति ब्राह्मण है वह क्रिया न भी करे तो भी उसके क्रियाकी प्रवृत्तिका निमित्त बना रहता है और आपके मतसे वह वेश्याके घरमें प्रवेश करनेवाली स्त्रीके है ही। यदि क्रियाका लोप होनेसे उसकी जातिका लोप आप मानते हैं तो व्रात्य पुरुषकी जातिका भी लोप हो जाना चाहिए, क्योंकि क्रियालोप होनेकी अपेक्षा उससे इसमें कोई अन्तर नहीं है।

किञ्च क्रियानुवृत्तौ तज्जातेर्निवृत्तिः स्याद् यदि क्रिया तस्याः कारणं व्यापिका वा स्यात्, नान्यथातिप्रसङ्गात्। न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिदिष्टम्। न च क्रियाभ्रंशे जातेर्विकारोऽस्ति, 'भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः' इत्याभिधानात्। न चाविकृतायाः निवृत्तिः सम्भवति, अतिप्रसङ्गात्।

दूसरे क्रिया न करनेपर जातिका अभाव तो तब होवे जब क्रियाको जातिका कारण माना जावे या क्रियाको व्यापक माना जावे। अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आता है। परन्तु आपको न तो जातिका कोई कारण ही इष्ट है और न किसीको इसका व्यापक मानना ही इष्ट है। यदि आप कहें कि क्रियासे भ्रष्ट होनेपर जातिमें विकार आ जाता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मतमें 'अनेक पदार्थोंमें रहनेवाली जाति एक है, नित्य है और अवयवरहित है' ऐसा स्वीकार किया गया है। और जो विकाररहित होती है उसका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि फिर भी उसका सद्भाव मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

किञ्चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य शरीरस्य उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा वेदाध्यनस्य वा, गत्यन्तरासम्भवात्। न तावज्जीवस्य, क्षत्रियविट्-शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात्, तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात्।

हम पूछते हैं कि ब्राह्मत्व जीव, शरीर, उभय, संस्कार और वेदाध्ययन इनमेंसे किसका है, इनमेंसे किसी एकका मानना ही पड़ेगा, अन्य कोई चारा नहीं है। जीवका तो हो नहीं सकता, क्योंकि जीवका मानने पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि भी ब्राह्मण हो जावेंगे, क्योंकि उनके भी तो जीवका सद्भाव है।

नापि शरीरस्य, अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवत् ब्राह्मण्यासम्भवात्। न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्तानां वा तत्सम्भवति। व्यस्तानां तत्सम्भवे क्षितिजलपवनहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसङ्गः। समस्तानां च तेषां तत्सम्भवे घटादीनामपि तत्सम्भवः स्यात्, तत्र तेषां सामस्त्यसम्भवात्। नाप्युभयस्य, उभयदोषनुषङ्गात्।

शरीरका भी नहीं हो सकता, क्यों शरीर पाँच भूतोंसे बना है, इसलिए पाँच भूतोंसे बने हुए घटादिका जैसे ब्राह्मणत्व नहीं होता वैसे ही वह शरीर का भी नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि वह न तो अलग अलग भूतोंमें उपलब्ध होता है और न मिले हुए भूतोंमें ही। अलग अलग भूतोंमें उसका सद्भाव माननेपर पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इनमेंसे प्रत्येक को ब्राह्मण मानना पड़ेगा। यदि मिले हुए भूतोंमें वह माना जाता है तो घटादिकमें भी उसका सद्भाव सिद्ध हो जायगा, क्योंकि घटादिकमें सभी भूत मिलकर रहते हैं। यदि ब्राह्मणत्वको जीव और शरीर दोनोंका माना जाता है तो अलग अलग जीव और शरीरका माननेपर जो दोष दे आए हैं वे दोनोंका मानने पर भी प्राप्त होते हैं।

नापि संस्कारस्य, अस्य शूद्रबालके कर्त्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसंगात्। किञ्च संस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति वा न वा? यद्यस्ति, संस्कार-

करणं वृथा । अथ नास्ति, तथापि तद् वृथा । अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्य-सम्भवे शूद्रबालकस्यापि तत्सम्भवः केन वार्येत ।

ब्राह्मणत्वको संस्कारका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कार शूद्र बालकका भी किया जा सकता है, इसलिए शूद्र बालकको भी ब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग आता है । दूसरे संस्कार करनेके पहले ब्राह्मण बालकमें ब्राह्मणत्व है या नहीं! यदि है तो संस्कार करना व्यर्थ है । यदि नहीं है तो भी संस्कार करना व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार तो अब्राह्मण भी संस्कारके बलसे ब्राह्मण हो जायगा, इसलिए शूद्र बालकके भी ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति सम्भव है । भला इस अपरिहार्य दोषको कौन रोक सकता है ।

नापि वेदाध्ययनस्य, शूद्रेऽपि तत्सम्भवात् । शूद्रोऽपि हि कश्चिद्देशान्तरं गत्वा वेदं पठति पाठयति वा । न तावतास्य ब्राह्मणत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यत इति । ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मण-क्षत्रियादिव्यवस्था

ब्राह्मणत्वको वेदाध्ययनका मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात तो शूद्रके भी सम्भव है । कोई शूद्र दूसरे देशमें जाकर वेदको पढ़ता है और पढ़ाता भी है । परन्तु इतने मात्रसे आप लोग इसे ब्राह्मण माननेके लिए तैयार नहीं । इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि वर्णोंकी व्यवस्था सदृश क्रियाके कारण ही मानी गई है ऐसा समझना चाहिए । अर्थात् जो भी दया दान आदि क्रियामें तत्पर है वह ब्राह्मण है, जो देशरक्षा आदि कार्य करता है वह क्षत्रिय है, जो व्यापार गोपालन और खेतीबाड़ी करता है वह वैश्य है और जो स्वतन्त्र आजीविका न करके सेवा द्वारा आजीविका करता है वह शूद्र है ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४८६–४८७

…न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्र-प्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि प्रतीयते ।

ब्राह्मण पृथक् जाति है इस बातका निराकरण—

१. घोड़ीमें गधेके निमित्तसे उत्पन्न हुए बच्चोंसे घोड़ेके निमित्तसे उत्पन्न हुए बच्चोंमें जैसी विलक्षणता होती है वैसी विलक्षणता ब्राह्मणीके ब्राह्मणके निमित्तसे उत्पन्न हुए बच्चोंसे ब्राह्मणीमें शूद्रके निमित्तसे उत्पन्न हुए बच्चोंमें स्वप्नमें भी प्रतीत नहीं होती, इसलिए ब्राह्मण आदि पृथक् पृथक् जातियाँ नहीं हैं।

एतेन अनादिकाले तयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता, ययोर्हि तज्जन्मन्यप्यविप्लुतत्वं प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम् ? एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा।

२. इस कथनसे माता पिताकी अनादि काल पूर्व तक निर्दोषताकी प्रतीति होती है यह बात भी नहीं रहती, क्योंकि जिनकी उसी जन्ममें निर्दोषताकी प्रतीति करना शक्य नहीं है उनकी निर्दोषताकी प्रतीति अनादि काल पूर्व तक होगी ऐसा सोचना महान् आश्चर्यकी बात है। इस प्रकार इस कथनसे अनादि कालीन पितृ-प्रवाहकी अपेक्षा जातिकी जो निर्दोषताकी प्रतिज्ञा की थी वह खण्डित हो जाती है।

किञ्च सदैव अबलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात् अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम्। तथा च व्यभिचारो हि प्रवादेन व्याप्तः इत्याद्ययुक्तम्, अत्यन्तप्रच्छन्नकामुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसम्भवतः तस्य तेन व्याप्त्यनुत्पत्तेः। अतः पित्रोरविप्लतत्त्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते।

३. अबलायें सदा ही कामातुर होती हैं। इस जन्ममें ही उनका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिए अनादि कालके भीतर वे कब क्या करती हैं यह जानना ब्रह्माके लिए भी अशक्य है। यदि कहो कि व्यभिचारिणीकी

व्याप्ति प्रवादके साथ है, अर्थात् जो व्यभिचार करेगी उसका प्रवाद अवश्य होगा सो यह सब कहना ठीक नहीं है, क्योंकि बहुतसे कामुक ऐसे होते हैं जो अत्यन्त प्रच्छन्न होकर व्यभिचार करते हैं फिर भी उनका प्रवाद नहीं होता, इसलिए व्यभिचारकी प्रवादके साथ व्याप्ति मानना उचित नहीं है। परिणामस्वरूप माता-पिताकी निर्दोषता किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, इसलिए ब्राह्मण जातिके प्रत्यक्षीकरणमें इसका उपदेश आँखके लिए रञ्चमात्र भी सहायक नहीं है।

नापि आचारविशेषः, स हि ब्राह्मण्यस्यासाधारणो याजनाध्यापन-प्रतिग्रहादिः। स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं न भवति, अव्याप्तेरतिव्याप्ते श्चानुषङ्गात्, याजनादिरहितेषु हि ब्राह्मणेष्वपि तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गाद-व्याप्तिः शूद्रेष्वपि अखिलस्य याजनाद्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मण्यानुषङ्गा-च्चातिव्याप्तिः। अथ मिथ्यासौ आचारविशेषस्तत्र, अन्यत्र कुतः सत्यः? ब्राह्मण्यसिद्धेश्चेत्; अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि आचारसत्यत्वे ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति। किञ्च आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्य-भ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः। तन्न आचारोऽपि तत्प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्।

४. आचार विशेष भी ब्राह्मण आदि जातिका ज्ञान करानेमें सहायक नहीं होता। आपके यहाँ ब्राह्मण जातिका असाधारण आचार विशेष याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह माना गया है, परन्तु वह ब्राह्मण जातिका प्रत्यक्ष ज्ञान करानेमें सहायक नहीं है, क्योंकि उसे ब्राह्मण जातिका प्रत्यक्ष ज्ञान करानेमें सहायक माननेपर अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं। यथा—जो ब्राह्मण याजन आदि कार्य नहीं करते उनमें ब्राह्मण जातिके व्यवहारका अभाव प्राप्त होनेसे अव्याप्ति दोष आता है और शूद्रोंमें याजन आदि समस्त आचार धर्मकी उपलब्धि होती है, इसलिए उनके भी ब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग प्राप्त होनेसे अतिव्याप्ति दोष आता है। यदि कहो कि शूद्रों में जो याजन आदि आचार विशेष उपलब्ध होता है वह मिथ्या है तो हम

पूछते हैं कि ब्राह्मणोंमें वह आचार विशेष समीचीन है यह कैसे समझा जाय। यदि उनमें ब्राह्मणत्वकी सिद्धि होती है, इसलिए उनका आचार विशेष भी समीचीन सिद्ध होता है यह कहो तो ऐसा माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। यथा—आचारकी सत्यता सिद्ध होनेपर ब्राह्मणत्वकी सिद्ध होवे और ब्राह्मणत्वकी सिद्धि होनेपर उसके आचारकी सत्यता सिद्ध होवे। कदाचित् आचारके आलम्बनसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि मान भी ली जाय तो भी व्रत स्वीकार करनेके पूर्व उसके अब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग आता है, इसलिए आचार भी ब्राह्मणजातिके प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेका अङ्ग नहीं माना जा सकता।

एतेन संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता; अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्यविशेषात्। तत्र अव्याप्तिः संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मण्यस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तेः स्यात्। अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मण्यस्यापि तथाविध-संस्कृतस्य ब्राह्मणत्वापत्तेः स्यादिति। एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा।

५. इस पूर्वोक्त कथनसे जो लोग संस्कारविशेषको ब्राह्मण जातिका अङ्ग मानते हैं उनके उस मतका भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि इस विचारके स्वीकार करने पर भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आता है। यथा—संस्कार होनेके पूर्व ब्राह्मणको भी अब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग आता है, इसलिए तो अव्याप्ति दोष आता है। तथा जो अब्राह्मण है उसका ब्राह्मण के समान संस्कार करनेपर उसके भी ब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोष आता है। इस कथनसे जो वेदके अध्ययन और यज्ञोपवीत आदिको ब्राह्मण जातिका अङ्ग मानते हैं उनके उस मतका भी निराकरण हो जाता है।

ब्रह्मप्रभवत्वस्य च तदङ्गत्वे अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात्। किञ्च ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा? यदि नास्ति; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः। न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता। अथ

अस्ति, किं सर्वत्र मुखप्रदेशे एव वा? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः। अथ मुखप्रदेश एव, तदान्यत्रास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादयो वन्द्याः स्युः।

६. ब्रह्मासे उत्पत्ति होना ब्राह्मण होनेका कारण है ऐसा मानने पर भी अतिप्रसङ्ग दोष आता है, क्योंकि ब्राह्मणोंके समान अन्य सब प्राणियोंकी भी ब्रह्मासे उत्पत्ति हुई है, इसलिए इस आधारसे उन सबको ब्राह्मण मानना पड़ेगा। जिस ब्रह्मासे तुम ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति मानते हो वह स्वयं ब्राह्मण है या नहीं। यदि कहो कि वह ब्राह्मण नहीं है तो फिर उससे ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती, क्योंकि जो मनुष्य नहीं है उससे मनुष्यकी उत्पत्ति होती हुई दिखलाई नहीं देती। यदि कहो कि ब्रह्मा भी ब्राह्मण है तो हम पूछते हैं कि वह सर्वाङ्गसे ब्राह्मण है या केवल मुखके प्रदेशमें ही ब्राह्मण है। यदि कहो कि वह सर्वाङ्गसे ब्राह्मण है तो पहलेके समान ही सब प्राणियोंके ब्राह्मण होनेका प्रसङ्ग आता है। यदि कहो कि मुख वह प्रदेशमें ही ब्राह्मण है तो मुखके सिवा अन्य प्रदेशमें उसके शूद्र होनेका प्रसङ्ग आता है और ऐसी अवस्थामें विप्रोंको उसके पैरोंकी वन्दना नहीं करनी चाहिए।

किञ्च ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव वासौ जायते, विकल्पद्वयेऽपि अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः। तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति। न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते। न च अप्रतिपन्नं विशेषणं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातुं समर्थम्, अतिप्रसङ्गात्। यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति।

७. एक विचार यह भी है कि ब्राह्मण ही उसके मुखसे उत्पन्न होता है या उसके मुखसे ही ब्राह्मण उत्पन्न होता है इन दो विकल्पोंमेंसे कौन विकल्प ठीक माना जाय। वास्तवमें इन दोनों ही विकल्पोंके मानने पर

अन्योन्याश्रय दोष आता है। यथा—ब्राह्मण जातिकी सिद्धि होने पर उसीकी ब्रह्माके मुखसे उत्पत्ति सिद्ध होवे और ब्रह्माके मुखसे ही ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति सिद्ध होने पर ब्राह्मण जातिकी सिद्ध होवे। इस प्रकार ये दोनों बातें अन्योन्याश्रित हैं। दूसरे ब्रह्मासे उत्पत्तिरूप विशेषणका ज्ञान ब्राह्मण जातिका साक्षात्कार होते समय किसे होता है अर्थात् किसीको नहीं होता और जब विशेषणका ज्ञान नहीं होता ऐसी अवस्थामें विशेष्यका निश्चय करानेमें वह कैसे समर्थ हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषणका ज्ञान हुए विना उससे विशेष्यका निश्चय माननेपर अतिप्रसङ्ग दोष आता है। नियम यह है कि विशेषणका ज्ञान हो जानेपर ही वह अपने विशेष्यका ज्ञान करा सकता है। जैसे दण्ड आदि विशेषणका ज्ञान हो जानेपर ही वह दण्डी पुरुष आदिका ज्ञान करानेमें समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ ब्राह्मण जातिका ज्ञान करानेमें विशेषण उसकी ब्रह्मासे उत्पत्ति होना है। पर ब्राह्मण ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ है यह तो किसीको दिखलाई देता नहीं, इसलिए उससे ब्राह्मणजातिका बोध नहीं हो सकता।

—न्यायकुमुदचन्द्र

जातिलिङ्गमितिद्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्तते।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद् द्वितयं त्येजत् ॥३२-८६॥

जाति और लिंग ये दोनों शरीरके आश्रयसे रहते हैं और संसार शरीरस्वरूप है, इसलिए इन दोनोंका त्याग कर देना चाहिए॥३२-८६॥

—ज्ञानार्णव

उच्चासु नीचासु हन्त जन्तोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धि-हानी।
उच्चो न नीचोऽहमपास्तबुद्धिः स मन्यते मानपिशाचवश्यः ७-२६॥

उच्चोऽपि नीचं स्वमपेक्षमाणो नीचस्य दुःखं न किमेति घोरम्।
नीचोऽपि पश्यति यः स्वमुच्चं स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति ७-२७

उच्चत्व-नीचत्वविकल्प एव विकल्प्यमानः सुख-दुःखकारी ।
उच्चत्व-नीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु ॥७-३८॥
हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।
उपैति दृष्टं सिकतानिपीडी फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः ॥७-३९॥

उच्च जाति प्राप्त होने पर जीवकी वृद्धि नहीं होती और नीच जाति मिलने पर हानि नहीं होती। किन्तु मानरूपी पिशाचके वशीभूत हुआ यह अज्ञानी जीव 'मैं उच्च हूँ नीच नहीं हूँ' ऐसा मानता है ॥७-३६॥ जो पुरुष उच्च है वह भी अपनेको नीच मानता हुआ क्या नीच पुरुषके घोर दुःखको नहीं प्राप्त होता है और जो नीच पुरुष है वह भी अपनेको उच्च मानता हुआ क्या उच्च पुरुषके सुखको नहीं प्राप्त होता ॥७-३७॥ वास्तवमें यह उच्च और नीचपनेका विकल्प ही सुख और दुःखका करनेवाला है। कोई उच्च और नीच जाति है और वह सुख और दुःख देती है यह कदाचित् भी नहीं है ॥७-३८॥ अपने उच्चपनेका निदान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष धर्मका नाश करता है और सुखको नहीं प्राप्त होता। जैसे बालुको पेलनेवाला लोकनिन्द्य पुरुष कष्ट भोगकर भी कुछ भी फलका भागी नहीं होता ऐसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए ॥७-३९॥

—अमितिगतिश्रावकाचार

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः ।
सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥१८-२३॥

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥१८-२४॥

ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः ।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ॥१८-२५॥

भेदे जायेत विप्राणां क्षत्रियो न कथञ्चन ।
शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रवस्य न सम्भवः ॥१८-२६॥

ब्राह्मणोऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा ।
विप्रायां शुद्धशीलायां जनिता नेदमुत्तरम् ॥१८-२७॥
न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता ।
कालेनादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥१८-२८॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया ।
विद्यन्ते तात्त्विकाः यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥१८-२९॥
दृष्टा योजनगन्धादिप्रसूतानां तपस्विनाम् ।
व्यासादीनां महापूजा तपसि क्रियतां मतिः ॥१८-३०॥
शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि ।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥१८-३१॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः १८-३२॥
जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः ।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः १८-३३॥

जो प्राणी सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित हैं वे केवल जातिमात्रसे धर्मको नहीं प्राप्त करते ॥१८-२३॥ आचारके भेदसे ही जातिभेद कल्पित किया गया है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो ब्राह्मण नामकी कोई नियत जाति नहीं है ॥१८-२४॥ ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि चारोंकी वास्तवमें एक मनुष्य जाति ही है। आचार मात्रसे ही ये विभाग किये जाते हैं ॥१८-२५॥ क्योंकि जिस प्रकार चावलोंकी जातिमें मुर्फे कोदों उत्पन्न होते हुए नहीं दिखाई देते उसी प्रकार यदि इनमें सर्वथा भेद होता तो ब्राह्मण जातिमें क्षत्रिय किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए ॥१८-२६॥ इसपर कोई ब्राह्मण कहता है कि तुम पवित्र आचारके धारकको तो ब्राह्मण कहते हो, परन्तु उससे शुद्ध शीलको धारण करनेवाली ब्राह्मणीकी कुक्षिसे उत्पन्न हुएको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते हो। परन्तु उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण और ब्राह्मणी सर्वदा शीलसे ही रहें, अनादि

कालसे उनके कुटुम्बमें कभी भी स्खलन न हो यह सम्भव नहीं है ॥१८-२७, २८॥ वास्तवमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया ये गुण तात्त्विक रूपसे जिस किसी भी जातिमें विद्यमान हों, सज्जन पुरुष उसी जातिको पूजनीय मानते हैं ॥१८-२९॥ क्योंकि योजनगन्धा (धीवरी) आदिकी कुक्षिसे उत्पन्न हुए व्यास आदि तपस्वियोंकी महापूजा होती हुई देखी गई है, इसलिए सबको तपश्चरणमें अपना उपयोग लगाना चाहिए ॥१८-३०॥ नीचजातिमें उत्पन्न होकर भी शीलवान् पुरुष स्वर्ग गये हैं तथा शील और संयमका नाश करनेवाले कुलीन पुरुष नरकको प्राप्त हुए हैं ॥१८-३१॥ यतः गुणोंसे अच्छी जाति प्राप्त होती है और गुणोंका नाश होनेसे वह भी नष्ट हो जाती है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको गुणोंमें अत्यन्त आदर करना चाहिए ॥१८-३२॥ सज्जन पुरुषोंको अपनेको नीच बनानेवाला जातिमद कभी नहीं करना चाहिए और जिससे अपनेमें उच्चपना प्रगट हो ऐसे शीलका आदर करना चाहिए ॥१८-३३॥

—धर्मपरीक्षा

जातयोऽनादयः सर्वास्तक्रियापि तथाविधा ।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ।
तक्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥

सब जातियाँ और उनका आचार-व्यवहार अनादि है। इसमें वेद और मनुस्मृति आदि दूसरे शास्त्रोंको प्रमाण माननेमें हमारी (जैनोंकी) कोई हानि नहीं है॥ रत्नोंके समान वर्ण अपनी अपनी जातिके आधारसे ही शुद्ध हैं। उनका आचार-व्यवहार उसी प्रकार चले इसमें जैनागमविधि उत्तम साधन है ॥पृ० ४७३॥

सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसम्भवः ।
न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥

जिसमें समीचीन धर्मकी प्राप्ति सम्भव है वह जाति परलोकका हेतु है, क्योंकि बीज रहित शुद्ध भूमि शस्यको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होती ॥

—यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ४१२

पुंसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलङ्कैः कलौ ।
सद्दग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरूप्यशौर्यादिभिः ।
स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्दैवतः
तज्जात्या च कुलेन चोपरि मृषा पश्यन्नधः स्वं क्षिपेः॥२–८८॥

हे अपनी जाति और कुलको उच्च माननेवाले ! यदि तू स्त्री-पुरुषोंमें प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, वदान्यता, धन, कला, सुन्दरता और शूरवीरता आदि गुणोंके साथ इस कलिकालमें दैववश अभिजात कुलमें उत्पन्न हुआ है। किन्तु निन्दा योग्य कार्यों द्वारा अन्य स्त्री-पुरुषोंको हीन-बल समझकर आकुलित करता है तो तू अपने इस कल्पित जाति और कुलके अभिमानवश स्वयंको नरकमें धकेलता है ॥२–८८॥

—अनगारधर्मामृत

जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः ।
कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः॥

जो मनुष्य जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करता है वह नीचगोत्रका बन्ध करता है ।

—अनगारधर्मामृत २–८८ टीका

येऽपि वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—जातिर्ब्राह्मणादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं ॥८८॥ तर्हि ब्राह्मणादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह—जातिलिङ्गरूपविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबन्धः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिङ्गं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेषः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है इसलिए वही परम पदके योग्य है ऐसा जो लोग कहते हैं वे भी मुक्तिके योग्य नहीं है उनको ध्यानमें रखकर पूज्यपाद आचार्यने 'जातिर्देहाश्रिता दृष्टा' इत्यादि श्लोक कहा है। इस श्लोकमें जातिसे ब्राह्मण आदि जाति ली गई है। वह देहके आश्रयसे होती है इत्यादि श्लोकका अर्थ सुगम है ॥८८॥ ब्राह्मण आदि जातिसे विशिष्ट मनुष्य निर्वाण आदिकी दीक्षासे दीक्षित होकर मुक्तिको प्राप्त करता है ऐसा कहनेवालेको उद्देश्यकर आचार्य पूज्यपादने 'जातिलिङ्गविकल्पेन' इत्यादि श्लोक कहा है। जिन शैवमत आदिके माननेवालोंको ऐसा आगमका आग्रह है कि जाति और लिङ्गका भेद अर्थात् उत्तम जातिविशिष्ट लिङ्ग मुक्तिका हेतु है ऐसा आगममें कहा है, अतः उतने मात्रसे मुक्ति होगी इस प्रकारका जिन्हें आगमाभिनिवेश है वे भी आत्माके परम पदको नहीं प्राप्त होते ॥८९॥

—समाधितन्त्र संस्कृत टीका

अतीचारव्रताद्येषु प्रायश्चित्तं गुरूदितम् ।
आचरेज्जातिलोपञ्च न कुर्यादतियत्नतः ॥६३॥
सर्व एव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम् ।
यत्र न व्रतहानिः स्यात् सम्यक्त्वस्य च खण्डनम् ॥६४॥

व्रत आदिमें अतीचार लगनेपर गुरुके द्वारा बतलाये गये प्रायश्चित्तसे उन्हें शुद्ध कर लेना चाहिए। तथा जातिलोप न हो इसमें प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥६३॥

सज्जनोंको सभी लौकिक विधि जैनविधि रूपसे प्रमाण है। मात्र वह ऐसी होनी चाहिए जिसमें व्रतोंकी हानि न हो और सम्यक्त्वका नाश न हो ॥६४॥

—रत्नमाला

वर्णमीमांसा

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

प्रजाके जीनेकी इच्छा रखनेवाले प्रजापति आदिनाथने सर्व प्रथम प्रजाको कृषि आदि कर्मका उपदेश दिया। उसके बाद तत्त्वके जानकार और अद्भुत उदयवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ उन्होंने ममताका त्यागकर वैराग्य धारण किया ॥२॥ —बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदिनाथस्तुति

अथावनीन्द्रः स महासभायां प्रकाशयन् धर्मकथापुराणम् ।
मिथ्यामहामोहमलीमसानां चित्तप्रसादार्थमिदं जगाद ॥१॥
अप्येक एवात्र यदि प्रजानां कथं पुनर्जातिचतुष्प्रभेदः
प्रमाणदृष्टान्तनयप्रवादैः परीक्ष्यमाणो विघटामुपैति ॥२॥
चत्वार एकस्य पितुः सुताश्चेत्तेषां सुतानां खलु जातिरेका ।
एवं प्रजानां च पितैक एव पित्रैकभावाच्च न जातिभेदाः ॥३॥
फलान्यथोदुम्बरवृक्षजातेर्यथाग्रमध्यान्तभवानि यानि ।
रूपाकृतिस्पर्शसमानि तानि तथैकतो जातिरपि प्रचिन्त्या ॥४॥
ये कौशिकाः काश्यपगोतमाश्च कौडिन्यमाण्डव्यवशिष्ठगोत्राः ।
आत्रेयकौत्साङ्गिरसाः सगार्ग्या मोद्गल्यकात्यायनभार्गवाश्च ॥५॥
गोत्राणि नानाविधजातयश्च मातृस्नुषामैथुनपुत्रभार्याः ।
वैवाहिकं कर्म च वर्णभेदः सर्वाणि चैक्यानि भवन्ति तेषाम् ॥६॥
न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः ।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः ॥७॥
पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन ।
त्वग्मांसमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुःप्रभेदाश्च कथं भवन्ति ॥८॥
कृतं युगे नास्ति च वर्णभेदस्त्रेताप्रवृत्तावथवाथ भृत्यम् ।
आभ्यां युगाभ्यां च निकृष्टभावाद्यद्द्वापरं वर्णकुलाकुलं तत् ॥९॥

इतिप्रवादैरतिलोभमोहैर्द्वेषैः पुनर्वर्णविपर्ययैश्च ।
विश्रम्भघातैः स्थितिसत्यभेदैर्युक्तः कलिस्तत्र भविष्यतीति ॥१०॥
क्रियाविशेषाद्व्यवहारमात्राद् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥११॥

अनन्तर सम्राट् वराङ्गने राज्यसभामें धर्मकथा और पुराणका व्याख्यान करते हुए मिथ्यात्व महामोहसे मलिन चित्तवाले सभासदोंके चित्तको प्रसन्न करनेके लिए इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥१॥ यदि सब प्रजा एक है तो वह चार जातियोंमें कैसे विभक्त हो गई, क्योंकि प्रमाण, दृष्टान्त और नयविधिसे परीक्षा करनेपर जातिव्यवस्था खण्ड-खण्ड हो जाती है ॥२॥ उदाहरणार्थ एक पिताके यदि चार पुत्र हैं तो उन सबकी एक ही जाति होगी। इसी प्रकार सब मनुष्योंका पिता (मनुष्यजाति नामकर्म या ब्रह्म) एक ही है, अतएव पिताके एक होनेसे जातिभेद बन नहीं सकता ॥३॥ जिस प्रकार सभी उदुम्बर वृक्षोंके ऊपर, नीचे और मध्यभागमें लगे हुए फल, रूप और स्पर्श आदिकी अपेक्षा समान होते हैं उसी प्रकार एकसे उत्पन्न होनेके कारण उनकी जाति भी एक ही जाननी चाहिए ॥४॥ लोकमें यद्यपि जो कौशिक, काश्यप, गौतम, कौडिन्य, माण्डव्य, वशिष्ट, आत्रेय, कौत्स, आङ्गिरस, गार्ग्य, मौद्गल्य, कात्यायन और भार्गव आदि अनेक गोत्र, नाना जातियाँ तथा माता, बहू, साला, पुत्र और स्त्री आदि नाना सम्बन्ध, इनके अलग अलग वैवाहिक कर्म और नाना वर्ण प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनके वे सब वास्तवमें एक ही हैं ॥५-६॥ ब्राह्मण कुछ चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र वर्णवाले नहीं होते, क्षत्रिय कुछ किंशुकके पुष्पके समान गौर वर्णवाले नहीं होते, वैश्य कुछ हरिताल के समान रंगवाले नहीं होते और शूद्र कुछ कोयलेके समान कृष्ण वर्णवाले नहीं होते ॥७॥ चलना-फिरना, शरीरका रंग, केश, सुख-दुख, रक्त, त्वचा, मांस, मेदा, हड्डी और रस इन सब बातोंमें वे समान होते हैं, इसलिए चार भेद कैसे हो सकते हैं ॥८॥ कृतयुगमें तो वर्णभेद था ही

नहीं। त्रेतायुगमें अवश्य ही स्वामी सेवकभाव दिखलाई देने लगा। इन युगोंमें मनुष्योंके जो भाव थे वे द्वापर युगमें न रहे। मनुष्य निकृष्ट विचार के होने लगे, इसलिए द्वापर युगमें समस्त मानव समुदाय अवश्य ही नाना प्रकारके वर्णोंमें विभक्त हो गया ॥९॥ आगे चलकर तो कलियुगमें नाना प्रकारके अपवाद, अत्यन्त लोभ, मोह, द्वेष, वर्णोंका विपर्यास, विश्वासघात, मर्यादाका उल्लंघन और सत्यका अपलाप आदि बातें भी होंगी ॥१०॥ शिष्ट पुरुषोंने जो चार वर्ण कहे हैं वे केवल क्रियाविशेषका ख्याल करके व्यवहारको चलानेके लिए ही कहे हैं। ब्राह्मण वर्णका मुख्य कर्म दया है, क्षत्रियवर्णका मुख्य कर्म अभिरक्षा है, वैश्यवर्णका मुख्य कर्म कृषि है और शूद्रकर्णका मुख्य कर्म शिल्प है। चार वर्ण होनेका यही कारण है। अन्य किसी भी प्रकार चार वर्ण नहीं हो सकते ॥११॥

—वराङ्गचरित सर्ग २५

ततः कृपासमासक्तहृदयो नाभिनन्दनः।
शशास चरणप्राप्ता बद्धाञ्जलिपुटाः प्रजाः ३-२५४॥

शिल्पानां शतमुद्दिष्टं नगराणां च कल्पनम्।
ग्रामादिसन्निवेशाश्च तथा वेश्मादिकारणम् ॥३-२५५॥

क्षतित्राणे नियुक्ता ये तेन नाथेन मानवाः।
क्षत्रिया इति ते लोके प्रसिद्धिं गुणतो गताः ॥३-२५६॥

वाणिज्यकृषिगोरक्षाप्रभृतौ ये निवेशिताः।
व्यापारे वैश्यशब्देन ते लोके परिकीर्तिताः ॥३-२५७॥

ये तु श्रुत्वा द्रुतिं प्राप्ता नीचकर्मविधायिनः।
शूद्रसंज्ञामवापुस्ते भेदैः प्रेष्यादिभिस्तथा ॥३-२५८॥

युगं तेन कृतं यस्मादित्थमेतत्सुखावहम्।
तस्मात्कृतयुगं प्रोक्तं प्रजाभिः प्राप्तसम्मदम् ॥३-२५९॥

अनन्तर चित्तसे परम कृपालु ऋषभदेवने हाथ जोड़कर चरणोंमें बैठी हुई प्रजाको सैकड़ों प्रकारकी शिल्पकला, नगरों और ग्रामोंकी रचना तथा मकान आदि बनानेकी सब विधि बतलाई ॥३-२५४,२५५॥ उन्होंने जिन्हें आपत्तिसे रक्षा करनेमें नियुक्त किया वे अपने इस गुणके कारण इस लोकमें क्षत्रिय इस नामसे प्रसिद्ध हुए ॥३-२५६॥ जो वाणिज्य, कृषि और गोरक्षा आदि व्यापारमें नियुक्त किये गये वे लोकमें वैश्य इस नामसे सम्बोधित किये गये ॥३-२५७॥ तथा जो इन सब बातोंको सुनकर लज्जित हुए और नीच कर्म करने लगे, वे शूद्र कहे गये। उनके प्रेष्य आदि नाना भेद हुए ॥३-२५८॥ यतः आदिनाथने अपने राज्य-कालमें सुखकर युगकी रचना की, इसलिए प्रजाने हर्षित होकर उसे कृतयुग कहा ॥३-२५९॥

यदा तदा समुत्पन्नो नाभेयो जिनपुङ्गवः ।
राजन् तेन कृतः पूर्वः कालः कृतयुगाभिधः॥५-१६३॥

कल्पिताश्च त्रयो वर्णाः क्रियाभेदविधानतः ।
शस्यानां च समुत्पत्तिर्जायते कल्पतो यतः ॥-१६४॥

जब भोगभूमिका अन्त हुआ तब नाभिराजाके पुत्र तीर्थङ्कर ऋषभदेव उत्पन्न हुए। हे राजन्! उन्होंने कृतयुग कालकी रचना की ॥५-१६३॥ तथा क्रियाके भेदसे तीन वर्ण बनाये, क्योंकि उस समयसे धान्य आदि उत्पन्न होने लगे ॥५-१६४॥

सुहृत्वाद्भगवान् ब्रह्मा नाभेयस्तस्य ये जनाः ।
भक्ताः सन्तस्तु पश्यन्ति ब्राह्मणास्ते प्रकीर्तिताः॥११-२०१॥

क्षत्रियास्तु क्षतत्राणाद्वैश्याः शिल्पप्रवेशनात् ।
श्रुतात्सदागमाद्ये तु द्रुतास्ते शूद्रसंज्ञिताः ॥११-२०२॥

चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥११-२०५॥

बड़े होनेसे भगवान् आदिनाथ ब्रह्मा माने गये हैं और उनके जो भक्तजन रहे हैं वे लोकमें ब्राह्मण इस नामसे प्रख्यात हुए हैं ॥११-२०१॥ आपत्तिसे रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय और शिल्पमें प्रवेश पानेके कारण वैश्य कहे गये हैं। तथा श्रुत अर्थात् सदागमसे जो दूर भाग खड़े हुए वे शूद्र इस नामको प्राप्त हुए ॥११-२०२॥ चातुर्वर्ण्य तथा चाण्डाल आदि अन्य जितने भी विशेषण हैं वे सब आचार भेदके कारण लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥११-२०५॥

—पद्मचरित

ततो वीक्ष्य क्षुधार्त्ताणाः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिः ।
कृत्वार्तिहरणं तासां दिव्याहारैः कृपान्वितः ॥६-३३॥

सर्वानुपदिदेशासौ प्रजानां वृत्तिसिद्धये ।
उपायान् धर्मकामार्थान् साधनानपि पार्थिवः ॥६-३४॥

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमित्यपि ।
पट्कर्म शर्मसिद्ध्यर्थं सोपायमुपदिष्टवान् ॥६-३५॥

पशुपाल्यं ततः प्रोक्तं गोमहिष्यादिसंग्रहः ।
वर्जनं क्रूरसत्त्वानां सिंहादीनां यथायथम् ॥६-३६॥

ततः पुत्रशतेनापि प्रजया च कलागमः ।
गृहीतः सुगृहीतं च कृतं शिल्पिशतं जनैः ॥६-३७॥

पुरग्रामनिवेशाश्च ततः शिल्पिजनैः कृताः ।
सखेटकर्वटाख्याश्च सर्वत्र भरतक्षितौ ॥६-३८॥

क्षत्रियाः क्षततस्त्राणाद्वैश्या वाणिज्ययोगतः ।
शूद्राः शिल्पादिसम्बन्धाज्जाता वर्णास्त्रयोऽप्यतः ॥६-३९॥

षड्भिः कर्मभिरासाद्य सुखितामर्थवत्तया ।
प्रजाभिस्तत्सुतुष्टाभिः प्रोक्तं कृतयुगं युगम् ॥६-४०॥

अनन्तर दयालु प्रजापति ऋषभदेवने समस्त प्रजाको क्षुधासे पीड़ित देखकर दिव्य आहारों द्वारा उसके कष्टको दूर किया ।।६-३३।। राजा ऋषभदेवने प्रजाकी आजीविकाकी सिद्धिके लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके साधनरूप सब उपाय बतलाये ।।६-३४।। सर्व प्रथम उसे सुखी करनेके लिए उपाय सहित असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मोंका उपदेश दिया ।।६-३५।। अनन्तर पशुपालन और गाय, भैंस आदिके संग्रहकी तथा सिंह आदि क्रूर जीवोंके निवारण करनेकी यथा-योग्य शिक्षा दी ।।६-३६।। उनके सौ पुत्रोंने और प्रजावर्गने कला शास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर सैकड़ों शिल्पियोंका निर्माण किया ।।६-३७।। फल-स्वरूप उन शिल्पियोंने भारतभूमिमें खेट और कर्वटके साथ ग्राम और संनिवेशोंकी रचना की ।।६-३८।। आपत्तिसे रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय; व्यापारके निमित्तसे वैश्य और शिल्पकर्म आदिके सम्बन्धसे शूद्र ये तीन वर्ण उत्पन्न हुए ।।६-३९।। इन छह कर्मोंके आश्रयसे प्रजा यथार्थ-रूपमें सुखी हो गई, अतः सन्तुष्ट हो उसने उस युगको कृतयुग इस नामसे अभिहित किया ।।६-४०।।

—हरिवंशपुराण

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१६-१७९॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात् ।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१६-१८०॥
तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता ।
कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१६-१८१॥
वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात् करकौशलम् ।
तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम् ॥१६-१८२॥
उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा ।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१६-१८३॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् ।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ॥१६–१८४॥
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१६–१८५॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्यु कर्त्तकादयः ॥१६–१८६॥
यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसङ्करम् ।
विवाहजातिसम्बन्धव्यवहारश्च तन्मतम् ॥१६–१८७॥
यावती जगती वृत्तिः अपापोपहता च या ।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥१६–१८८॥
युगादिब्रह्मा तेन यदित्थं स कृतो युगः ।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥१६–१८९॥

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म प्रजाकी आजीविकाके कारण हैं ॥१६–१७९॥ भगवान् ऋषभदेवने अपनी मतिकी कुशलतासे इन्हीं छह कर्मों द्वारा अपनी आजीविका करनेका उपदेश दिया सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी थे, वीतराग नहीं थे। भावार्थ—सांसारिक कार्योंका उपदेश सराग अवस्थामें ही दिया जा सकता है ॥१६–१८०॥ शस्त्र लेकर सेवा करना असिकर्म है, लिखकर सेवा करना मषिकर्म है, खेती-बाड़ी करना कृषिकर्म है, शास्त्रसे आजीविका करना विद्याकर्म है, व्यापार करना वाणिज्यकर्म है और हाथोंकी कुशलतासे आजीयिका करना शिल्पकर्म है। वह शिल्पकर्म चित्रकला और पत्रच्छेद आदिके भेदसे अनेक प्रकारका माना गया है ॥१६–१८१,१८२॥ उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान्ने तीन वर्ण उत्पन्न किए। आपत्तिसे रक्षा करना आदि गुणोंके कारण वे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाये ॥१६–१८३॥ जो शस्त्रसे आजीविका करने लगे वे क्षत्रिय हुए, जो कृषि, व्यापार और पशुपालनसे आजीविका करने लगे वे वैश्य हुए और जो उनकी शुश्रषा

करके आजीविका करने लगे वे शूद्र हुए। शूद्रोंके दो भेद हैं—कारु और अकारु। धोबी आदि कारु शूद्र हैं और शेष अकारु शूद्र हैं ॥१६-१८४, १८५॥ कारु शूद्रोंके दो भेद हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य। जो प्रजा से बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं और नाई आदि स्पृश्य शूद्र हैं १६-१८६॥ सब प्रजा यथायोग्य अपने अपने कर्मको सांकर्यके बिना करने लगी। विवाह, जाति सम्बन्ध और व्यवहार नियमानुसार चलने लगे ॥१६-१८७॥ संसारमें जितनी पापरहित आजीविका थी वह सब भगवान् ऋषभदेवकी सम्मतिसे प्रवृत्त हुई। सो ठीक ही है, क्योंकि वे सनातन ब्रह्मा थे ॥१६-१८८॥ युगके आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेवने इस प्रकार युगका निर्माण किया, इसलिए पुराणके जानकर उसे कृतयुग इस नामसे जानते हैं ॥१६-१८९॥

अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य सन्निधौ।
प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥१६-२४१॥
कृत्वादितः प्रजासर्गं तद् वृत्तिनियमं पुनः।
स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात् प्रजाः ॥१६-२४२॥

स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥१६-२४३॥

ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रां अस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः।
जलस्थलादियात्राभिः तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ॥१६-२४४॥

न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥१६-२४५॥
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान्।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छेज्येति तत्क्रियाः ॥१६-२४६॥

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः।
वहेत् स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥१६-२४७

७.अनन्तर राज्यके अधिपति हो विश्वस्रष्टा भगवान् ऋषभदेवने अपने पिता नाभिराजके समीप ही प्रजा पालनकी ओर ध्यान दिया ॥१६–२४१॥ उन्होंने सर्व प्रथम प्रजाका निर्माण कर उसकी आजीविकाके नियम बनाये तथा वह अपने-अपने धर्मका उल्लंघन न कर सके इस प्रकारके नियन्त्रण की व्यवस्था कर शासन करने लगे ॥१६–२४२॥ विभुने अपनी दोनों भुजाओंसे शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी रचना की। तात्पर्य यह है कि उन्होंने शस्त्रपाणि क्षत्रियोंको आपत्तिसे रक्षा करनेरूप कर्ममें नियुक्त किया ॥१६–२४३॥ अनन्तर अपने दोनों ऊरुओंसे यात्रा दिखला कर वैश्योंकी रचना की, क्योंकि जलयात्रा और स्थलयात्रा आदिसे आजीविका करना वैश्योंका मुख्य कर्म है ॥१६–२४४॥ निम्न श्रेणिकी आजीविका करनेवाले शूद्रोंकी रचना बुद्धिमान् ऋषभदेवने अपने दोनों पैरोंसे की, क्योंकि उत्तम वर्णवालोंकी शुश्रूषा आदिके भेदसे उनकी आजीविका अनेक प्रकारकी मानी गई है ॥१६–२४५॥ इस प्रकार तीन वर्णोंकी रचना भगवान ऋषभदेवने की। तथा मुखसे शास्त्रोंको पढ़ाते हुए भरत-चक्रवर्ती आगे ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे, क्योंकि अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना और पूजा करना कराना ये ब्राह्मणोंके कर्म हैं ॥१६–२४६॥ उन्होंने यह भी बताया कि शूद्र शूद्रके साथ विवाह करे। वैश्य वैश्या और शूद्राके साथ विवाह कर सकता है। क्षत्रिय उक्त दो और क्षत्रिय कन्याके साथ विवाह कर सकता है तथा ब्राह्मण मुख्य रूपसे ब्राह्मण और कदाचित् अन्य वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह कर सकता है। १६–२४७॥

स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसङ्कीर्णिरन्यथा ॥१६–२४८॥
कृष्यादिकर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान्।
कर्मभूमिरियं तस्मात् तदासीत्तद्व्यवस्थया ॥१६–१४६॥

जो अपनी इस वृत्तिका त्याग कर अन्य वृत्तिको स्वीकार करता है उस पर राजाओंको नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए, अन्यथा वर्णसंकर हो

जायगा अर्थात् वर्णव्यवस्थाका लोप हो जायगा १६–२४८॥ युगनिर्माता भगवान् ऋषभदेवने कृषि आदि छह कर्मोंकी व्यवस्था राज्यप्राप्तिके पूर्व ही कर दी थी, इसलिए उस व्यवस्थाके कारण उस समय वह कर्मभूमि कहलाने लगी ॥१६–२४६॥

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८–४५॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ॥
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥३८–४६॥

जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है। फिर भी आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदोंके कारण वह इस लोकमें चार प्रकारकी हो गई है ॥३८–४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्रोंके धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थका अर्जन करनेसे वैश्य और निम्न श्रेणी की आजीविकाका आश्रय लेनेसे शूद्र कहलाते हैं ३८–४६॥

गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः ।
पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥३८–१३७॥

धन-धान्य आदि सम्पदा और मकान मिल जाने पर पिताकी आज्ञासे अलगसे आजीविका करने लगनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥३८–१३७॥

सृष्ट्यन्तरमतो दूरं अपास्य नयतत्त्ववित् ।
अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥४०–१८९॥
तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी ।
तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥४०–१९०॥

नय और तत्त्वको जाननेवाला द्विज दूसरोंके द्वारा रची हुई सृष्टिको दूरसे ही त्यागकर अनादि क्षत्रियोंके द्वारा रची गई धर्मसृष्टि की प्रभावना करे ॥४०–१८९॥ तथा इस सृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंको वह कहकर सृष्टिके हेतु दिखलावे कि तीर्थंकरोंके द्वारा रची गई यह धर्मसृष्टि ही सनातन है ॥४०–१९०॥

तेनास्मिन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने ।
ततः कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥४२–६॥
तत्कथं कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितयी प्रजा
कर्तव्या रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥४२–१०
रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः ।
सोऽन्वयोऽनादिसन्तत्या बीजवृक्षवदिष्यते ४२–११॥
विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया ।
तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता ॥४२–१२॥

धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिए इस भारतवर्षमें जन्म लेकर भगवान् ऋषभदेवने क्षत्रियोंकी यह सृष्टि चलाई ॥४१–६॥ क्योंकि कर्मभूमिज होनेसे वर्तमानमें दो प्रकारकी प्रजा पाई जाती है। एक वह जो रक्षा करने योग्य होती है और दूसरी वह जो रक्षा करनेमें उद्यत होती है ॥४२–१०॥ जो रक्षा करनेमें उद्यत होते हैं उनकी परम्पराको क्षत्रिय कहते हैं। बीज-वृक्षके समान उनकी वह परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है ॥४२–११॥ विशेषता इतनी है कि देश और कालकी अपेक्षा उनकी सृष्टि होती है। प्रजाके लिए न्यायवृत्तिका आलम्बन लेना ही उनका समुचित आचार है ॥४२–१२॥

—महापुराण

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्नप्यदर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रदर्शनात् ॥७४–४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥७४–४९२॥
जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः ।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥७४–४९३॥
अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसन्ततेः ।
तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसम्भवात् ॥७४–४९४॥

शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसन्ततिः

एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे ॥७४-४९५॥

इस शरीरमें वर्ण तथा आकृतिकी अपेक्षा कुछ भी भेद देखनेमें नहीं आता। और ब्राह्मणी आदिमें शूद्रके द्वारा गर्भधारण किया जाना देखा जाता है ॥७४-४९१॥ तथा मनुष्योंमें गाय और अश्वके समान जातिकृत कुछ भी भेद नहीं है। यदि आकृतिमें भेद होता तो जातिकृत भेद माना जाता। परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें आकृति भेद नहीं है, अतः उनमें जातिकी कल्पना करना अन्यथा है ॥७४-४९२॥ जिनके जातिनामकर्म और गोत्रकर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे त्रिवर्ण हैं और शेष शूद्र कहे गये हैं ॥७४-४९३॥ विदेह क्षेत्रमें मोक्षके योग्य जातिसन्ततिका विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वहाँपर [illegible] के योग्य नामकर्म और गोत्रकर्मसे युक्त जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ॥७४-४९४॥ परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थ कालमें ही मुक्तियोग्य जातिसन्तति पाई जाती है। जिनागममें मनुष्योंका वर्णविभाग इसप्रकार बतलाया गया है ॥७४-४९५॥

—उत्तरपुराण

लोकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तस्मिन् भवो लौकिकः आचार इति सम्बन्धः।...तद्दर्शनघाति।...तस्मात्तत्कृत्यं सर्वदा न कर्तव्यम्।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनकी लोक संज्ञा है और इनमें होनेवाले आचारको लौकिक आचार कहते हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध है।

—मूलाचार अ० ५ श्लो० ५१ टीका।

जिनः कल्पद्रुमापाये लोकानामाकुलात्मनाम्।

दिदेश षट्क्रियाः पूतो जीवनस्थितिकारिणीः ।१८-२६।

कल्पवृक्षोंके नष्ट हो [illegible] जिनेन्द्रने ([illegible]) [illegible] उपदेश दिया ॥१८-२६॥

व्रतिनो ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रियाः क्षतरक्षिणः ।
वाणिज्यकुशला वैश्याः शूद्राः प्रेपणकारिणः ॥१८-६६॥

व्रतोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण कहलाये, आपत्तिसे रक्षा करनेवाले क्षत्रिय कहलाये, व्यापारमें कुशल वैश्य कहलाये और सेवकका कर्म करनेवाले शूद्र कहलाये ॥१८-६६॥

—धर्मपरीक्षा

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा ।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ।
तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुर्धीस्तत्र दुर्लभा ।
संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका है—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्मका आधार लोक है और पारलौकिक धर्मका आधार आगम है। सब जातियाँ (ब्राह्मणादि) और उनका आचार-व्यवहार अनादि है। इसमें वेद और मनुस्मृति आदि दूसरे शास्त्रोंको प्रमाण माननेमें हमारी (जैनोंकी) कोई हानि नहीं है। रत्नोंके समान वर्ण अपनी अपनी जातिके आधारसे ही शुद्ध हैं। उनके आचार-व्यवहारके लिए जैन आगमकी विधि सर्वोत्तम है, क्योंकि संसार भ्रमणसे मुक्तिका कारण वर्णाश्रमधर्मको मानना उचित नहीं है और संसारका व्यवहार स्वतःसिद्ध होते हुए उसमें आगमकी दुहाई देना भी व्यर्थ है। ऐसी सब लौकिक विधि

जिसमें सम्यक्त्वकी हानि नहीं और व्रतोंमें दूषण नहीं आता, जैनोंको प्रमाण है।

—यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ३७३

चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहासपुराणमीमांसान्यायधर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥१॥ त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥२॥ स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥३॥ धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥४॥ अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥५॥ त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥६॥ अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥ भूतसंरक्षणं शस्त्रजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥ वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम् ॥९॥ त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणाम् ॥१०॥ सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥ आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥ आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥१३॥ आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो। विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥१४॥ निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥१५॥ स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥१६॥ यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ॥१७॥ अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय ॥१८॥ वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ॥१९॥

चार वेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह उनके अङ्ग हैं। ये दस तथा इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्यास्थान त्रयी कहलाते हैं ॥१॥ त्रयीके अनुसार

वर्ण और आश्रमोंके धर्म और अधर्मकी व्यवस्था होती है ॥२॥ अपने अपने पक्षके अनुरागके अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए समस्त लोकव्यवहारमें सभी धर्मवाले मिलकर अधिकारी होते हैं ॥३॥ स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। वे वेदार्थका संग्रह करके बनी हैं, इसलिए वेद ही हैं ॥४॥ अध्ययन, यजन और दान ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णके समान धर्म हैं ॥५॥ तीन वर्ण द्विजाति हैं ॥६॥ पढ़ाना, पूजा कराना और दान लेना ये ब्राह्मणोंके मुख्य कर्म हैं ॥७॥ प्राणियोंकी रक्षा करना, शस्त्रद्वारा आजीविका करना, सज्जनोंका उपकार करना, दीनोंका उद्धार करना और रणसे विमुख नहीं होना ये क्षत्रियोंके कर्म हैं ॥८॥ कृषि आदिसे आजीविका करना, निष्कपट भावसे यज्ञ आदि करना, अन्नशाला खोलना, प्यायुका प्रबन्ध करना, धर्म करना और वाटिका आदिका निर्माण करना ये वैश्योंके कर्म हैं ॥९॥ तीन वर्णोंके आश्रयसे आजीविका करना, बढ़ई आदिका कार्य करना, नृत्य-गान और भिक्षुओंकी सेवा सुश्रूषा करना ये शूद्रोंके कर्म हैं॥१०॥ जो (कन्याका) एक विवाह करते हैं वे सच्छूद्र हैं ॥११॥ जिनका आचार निर्दोष है, जो गृह, पात्र और वस्त्र आदिकी सफाई रखते हैं तथा शरीरको शुद्ध रखते हैं वे शूद्र होकर भी देव, द्विज और तपस्वियोंकी परिचर्या करनेके अधिकारी हैं ॥१२॥ क्रूर भावका त्याग अर्थात् अहिंसा, सत्यवादिता, पर धनका त्याग अर्थात् अचौर्य, इच्छापरिमाण, प्रतिलोभ विवाह नहीं करना और निषिद्ध स्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य रखना यह चारों वर्णोंका समान धर्म है ॥१३॥ जिस प्रकार सूर्यका दर्शन सबको समानरूपसे होता है उसी प्रकार अहिंसा आदि धर्म सबके लिए साधारण है। मात्र विशेष धर्म (अलग अलग वर्णके कर्म) अलग अलग है ॥१४॥ अपने आगमके अनुसार प्रवृत्ति करना यतियोंका स्वधर्म है ॥१५॥ अपने धर्मसे विरुद्ध चलने पर यतियोंको अपने अपने आगमके अनुसार प्रायश्चित्त होता है ॥१६॥ जो पुरुष जिस देवका श्रद्धालु हो वह उस देव की प्रतिष्ठा करे ॥१७॥ भक्तिके विना की गई पूजाविधि तत्काल शापका कारण होती है ॥१८॥ वर्ण

और आश्रमवालोंके अपने अपने आचारसे च्युत होने पर त्रयीके अनुसार शुद्धि होती है ॥१६॥

—नीतिवाक्यामृत त्रयीसमुद्देश

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः ॥६॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं ॥६॥

—नीतिवाक्यामृत विद्यावृद्धसमुद्देश

स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसंकरः ॥५५॥

जिस देशमें एक वर्णका मनुष्य दूसरे वर्णका कर्म नहीं करता है उस देशमें रहना चाहिए।

—नीतिवाक्यामृत सदाचारसमुद्देश

षट्कर्मजीवनोपायैः सन्नियुज्याकुलाः प्रजाः ।
येन कल्पद्रुमापाये कल्पवृक्षायितं पुनः ॥३-५५॥

आदिनाथ जिनेन्द्र कल्पवृक्षोंका अभाव होने पर आजीविकासे आकुल हुई प्रजाको आजीविकाके उपायरूप छह कर्मोंमें लगाकर स्वयं कल्पवृक्षके समान सुशोभित होने लगे ॥३-५५॥

—वर्धमानचरित

'हउं वरु बंभणु वइसु हउं खत्तिउ हउं सेसु' अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो वणिक् अहं क्षत्रियोऽहं शेषः शूद्रादिः। पुनश्च कथंभूतः? 'पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु' पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोऽहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति। इदमत्र तात्पर्यम्—यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्वप्रकारेण हेतुभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति सम्बद्धान् करोति। कोऽसौ कथंभूतः? अज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥८१॥

आशय यह है कि यद्यपि ये ब्राह्मण आदि भेद कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं फिर भी जो आत्मा अज्ञानी अर्थात् अपने शुद्ध आत्म-

तत्त्वकी भावनासे रहित है वह इन सब भेदोंको उपादेयरूप सदा आनन्द स्वभाव वीतराग आत्मतत्त्वके साथ सम्बद्ध करता है। अर्थात् इन ब्राह्मणादि भेदोंको आत्मा मानता है ॥८१॥

'अप्पा वंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु। पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि' आत्मा ब्राह्मणो न भवति, वैश्योऽपि नैव, नापि क्षत्रियो, नापि शेषः शूद्रादिः, पुरुषनपुंसकस्त्रीलिङ्गरूपोऽपि नैव। तर्हि किंविशिष्टः? 'णाणिउ मुणइ असेसु' ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् किं करोति? मनुते जानाति। कम्? अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति। तद्यथा—यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुल्लिङ्गादिलिङ्गभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्धेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोऽन्तरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥८६॥

तात्पर्य यह है कि ये ब्राह्मण आदि जितने वर्णभेद हैं और पुल्लिङ्ग आदि लिङ्गभेद हैं वे उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा जीवसे अभिन्न होकर भी निश्चयनयसे जीवसे भिन्न और हेय हैं। किन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधिसे च्युत हुआ यह बहिरात्मा उन सब भेदोंको आत्मामें घटित करता है। यह इस मिथ्यादृष्टि जीवका महान् अज्ञान है ॥८७॥

—परमात्मप्रकाश ब्रह्मदेव टीका

ब्राह्मणवर्णमीमांसा

द्विजातयो मुख्यतया नृलोके तद्वाक्यतो लोकगतिः स्थितिश्च।
देवाश्च तेषां हवनक्रियाभिस्तृप्तिं प्रयान्तीति च लोकवादः ॥२८॥

संसारमें यह किंवदन्ती चली आ रही है कि मनुष्योंमें ब्राह्मण सर्वत्र श्रेष्ठ हैं। उनके उपदेशसे ही लोकव्यवहार चलता है, मर्यादा निश्चित होती है और उनकी हवनक्रियासे देवगण तृप्तिको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

पत्राणि पुष्पाणि फलानि गन्धान्वस्त्राणि नानाविधभोजनानि ।
संगृह्य सम्यग्वहुभिः समेताः स्वयं द्विजा राजगृहं प्रयान्ति ॥२९॥

प्रवेष्टुकामाः क्षितिपस्य वेश्मद्वास्स्थैर्निरुद्धाः क्षणमीक्षमाणाः ।
तिष्ठन्त्यभद्राः करुणं ब्रुवाणा नालं किमेतत्परिभूतिमूलम् ॥३०॥

किन्तु जब ये द्विज पत्र, फूल, फल, गन्ध, वस्त्र और नाना प्रकारके भोजनोंको संग्रह कर इन्हें लेकर स्वयं राजमहलमें प्रवेश करते हैं तो द्वारपालके द्वारा ये दीन बाहर ही रोक दिये जानेपर प्रतीक्षा करते हुए वहीं खड़े रहते हैं और भीतर प्रवेश करनेके लिए गिड़गिड़ाने लगते हैं। क्या उनका यह पराभव उसके मूल कारणोंको बतलानेके लिए पर्याप्त नहीं है ॥२९-३०॥

यदीश्वरं प्रीतिमुखं त्वपश्यंस्ते मन्यते भूतलराज्यलाभम् ।
पराङ्मुखश्चेन्नृपतिस्तथैव राज्याद्विनष्टा इव ते भवन्ति ॥३१॥

किसी प्रकार भीतर प्रवेश करके यदि राजाको प्रसन्न देखते हैं तो अपनेको ऐसा मानने लगते हैं कि पृथिवीका राज्य ही मिल गया है और कदाचित् राजाको अपनेसे प्रतिकूल पाते हैं तो समझते हैं कि मानो पृथिवीका राज्य ही चला गया है ॥३१॥

भवन्ति रोपान्नृपतेर्द्विजानां दिशो दश प्रज्वलिता इवात्र ।
द्विजातिरोपान्नृपतेः पुनः स्याद्भल्लातकस्नेह इवाश्मपृष्ठे ॥३२॥

राजाके रोषवश वे ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि मानो उनके चारों ओर दशों दिशाएँ ही प्रज्वलित हो उठी हैं और यदि सब ब्राह्मण मिलकर रुष्ट हो जाते हैं तो राजाके लिए उसका उतना ही प्रभाव होता है जितना कि भिलवेके तेलको पत्थरके ऊपर बहानेका होता है ॥३२॥

ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः ।
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवन्त्युत्तमजातयस्ते ॥३३॥

जो द्विज दूसरोंका निग्रह और अनुग्रह करनेमें असमर्थ हैं, गरीब हैं,

विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥

जो विद्या, क्रिया और गुणोंसे हीन है व जातिमात्रसे ब्राह्मण नहीं हो सकता । किन्तु जो ज्ञान, शील और गुणोंसे युक्त है, ब्रह्मके जानकर पुरुष उसे ही ब्राह्मण कहते हैं ॥४३॥

व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युद्गमो द्रोणपराशरौ च ।
आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसम्पदाभिः ॥४४॥

व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कण्ठ, शक्ति, उद्गम, द्रोण और पाराशर ये सब आचार और तपरूप अपनी सम्पत्तिसे युक्त होकर ही ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥४४॥

—वरांगचरित सर्ग २५

वर्णत्रयस्य भगवान् सम्भवो मे त्वयोदितः ।
उत्पत्तिं सूत्रकण्ठानां ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥४-८६॥
प्राणिघातादिकं कृत्वा कर्म साधु जुगुप्सितम् ।
परं वहन्त्यमी गर्वं धर्मप्राप्तिनिमित्तकम् ॥४-८७॥

तदेषां विपरीतानां उत्पत्तिं वक्तुमर्हसि ।
कथं चैषां गृहस्थानां भक्तो लोकः प्रवर्तते ॥४-८८॥
एवं पृष्टो गणेशोऽसाविदं वचनमब्रवीत् ।
कृपाङ्गनापरिष्वक्तहृदयोद्गतमत्सरः ॥४-८९॥

हे भगवन् आपने मुझे तीन वर्णों की उत्पत्ति कही । इस समय मैं सूत्र कण्ठोंकी उत्पत्ति कैसे हुई यह सुनना चाहता हूँ ॥४-८६॥ क्योंकि ये धर्म प्राप्तिका निमित्त बतला कर साधुओंके द्वारा निन्दनीय कहे गये प्राणिघात आदि कर्म करके भी गर्विष्ठ हो रहे हैं ॥४-८७॥ इसलिए विपरीत आचरण करनेवाले इनकी उत्पत्तिका कारण जानना चाहता हूँ । गृहस्थ होते हुए भी जनता इनकी भक्ति क्यों करती है यह भी जानना चाहता हूँ ॥४-८८॥

राजा श्रेणिकके इस प्रकार पूछने पर कृपारूपी अङ्गनासे आश्लिष्ट चित्त होनेसे मात्सर्य रहित गौतम गणधर इस प्रकार कहने लगे ॥८६॥

श्रेणिक श्रूयतामेषां यथा जातः समुद्भवः।
विपरीतप्रवृत्तीनां मोहावष्टब्धचेतसाम् ॥४-६०॥
साकेतनगरासन्ने प्रदेशे प्रथमो जिनः।
आसांचक्रेऽन्यदा देवतिर्यग्मानववेष्टितः ॥४-६१॥
ज्ञात्वा तं भरतस्तुष्टो ग्राहयित्वा सुसंस्कृतम्।
अन्नं जगाम यत्यर्थं बहुभेदप्रकल्पितम् ॥४-६२॥
प्रणम्य च जिनं भक्त्या समस्तांश्च दिगम्बरान्।
असौ करद्वयं कृत्वा वाणीमेतां प्रभाषत ॥४-६३॥
प्रसादं भगवन्तो मे कर्तुमर्हथ याचिताः।
प्रतीच्छत मया भिक्षां शोभनामुपपादिताम् ॥४-६४॥
इत्युक्ते भगवानाह भरतेयं न कल्पते।
साधूनामीदृशी भिक्षा यं तदुद्देशसंस्कृता ॥४-६५॥
एते हि तृष्णया मुक्ता निर्जितेन्द्रियशत्रवः।
विधायापि बहून्मासानुपवासं महागुणाः ॥४-६६॥
भिक्षां परिग्रहे लब्धां निर्दोषां मौनमास्थिताः।
भुञ्जन्ते प्राणधृत्यर्थं प्राणा धर्मस्य हेतवः ॥४-६७॥
धर्मं चरन्ति मोक्षार्थं यत्र पीडा न विद्यते।
कथञ्चिदपि सत्त्वानां सर्वेषां सुखमिच्छताम् ॥४-६८॥

हे श्रेणिक ! विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले और मोहसे आक्लिष्ट चित्तवाले इनकी उत्पत्ति जिस प्रकार हुई कहता हूँ, सुनो ॥६०॥ किसी दिन देव, तिर्यञ्च और मनुष्योंसे वेष्टित प्रथम जिन ऋषभदेव अयोध्या नगरीके समीपवर्ती प्रदेशमें विराजमान थे ॥६१॥ उस समय इस वृत्तको जानकर भरत चक्रवर्ती सन्तुष्ट हो यतियोंके लिए उत्तम प्रकारसे तैयार किया गया

अनेक प्रकारका भोजन लेकर वहाँ गये ॥६२॥ तथा जिनेन्द्रदेवको और समस्त दिगम्बर साधुओंको दोनों हाथोंसे तीन आवर्त व भक्तिपूर्वक नमस्कार कर यह वचन बोले ॥६३॥ हे भगवन् हमारे ऊपर कृपा कर तैयार की गई उत्तम भिक्षाको ग्रहण कीजिए ॥६४॥ भरतके द्वारा ऐसी प्रार्थना करने पर भगवान्ने कहा हे भरत ! साधुओंके उद्देश्यसे बनाई गई भिक्षा वे ग्रहण नहीं करते ॥६५॥ महागुणवाले वे अनेक महीनों तक उपवास करके भी तृष्णा रहित और इन्द्रियविजयी बने रहते हैं ॥६६॥ केवल नवधा भक्तिपूर्वक प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षाको ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्राण धर्म प्राप्तिमें हेतु हैं ॥६७॥ मोक्षकी इच्छासे वे उस धर्मका पालन करते हैं जिसमें सुखके इच्छुक प्राणियोंको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं होती ॥६८॥

श्रुत्वा तद्वचनं सम्राडचिन्तयदिदं चिरम् ।
अहो बत महाकष्टं जैनेश्वरमिदं व्रतम् ॥४–६६॥

तिष्ठन्ति मुनयो यत्र स्वस्मिन् देहेऽपि निःस्पृहाः ।
जातरूपधराः धीराः शान्तप्रशममूर्तयः ॥४–१००॥

इदानीं भोजयाम्येतान्सागारव्रतमाश्रितान् ।
लक्षणं हेमसूत्रेण कृत्वैतेन महान्धसा ॥४–१०१॥

प्रकाममन्यदप्येभ्यो दानं यच्छामि भक्तितः ।
कनीयान् मुनिधर्मस्य धर्मोऽमीभिः समाश्रितः ॥४–१०२॥

सम्यग्दृष्टिजनं सर्वं ततोऽसौ धरणीतले ।
न्यमन्त्रयन्महावेगैः पुरुषैः स्वस्य सम्मतैः ॥४–१०३॥

ये वचन सुनकर भरत चक्रवर्ती विचार करने लगे, अहो यह जैन दीक्षा बड़ी कठिन है ॥६६॥ इसे पालन करनेवाले धीर, शान्त और प्रशममूर्ति दिगम्बर साधु अपने शरीरमें भी निस्पृह होते हैं ॥१००॥ अब मैं गृहस्थ व्रत-को धारण करनेवालोंको हेमसूत्रसे चिह्नित कर भोजन कराऊँगा ॥१०१॥

और इन्हें भक्तिपूर्वक यथेच्छ दान भी दूँगा, क्योंकि इन्होंने मुनिधर्मसे छोटे धर्मको स्वीकार किया है ॥१०२॥ तदनुसार इसने अपने अत्यन्त क्रियाशील पुरुषोंके द्वारा सब प्रदेशोंके सम्यग्दृष्टियोंको आमन्त्रित करनेका आदेश दिया है ॥१०३॥

महान् कलकलो जातः सर्वस्यामवनौ ततः ।
भो भो नरा महादानं भरतः कर्तुमुद्यतः ॥४-१०४॥

उत्तिष्ठाशु गच्छामो वस्त्ररत्नादिकं धनम् ।
आनयामो नरा ह्येते प्रेपितास्तेन सादराः ॥४-१०५॥

उक्तमन्यैरिदं तत्र पूजयत्येप सम्मतान् ।
सम्यग्दृष्टिजनान् राजा गमनं तत्र नो वृथा ॥४-१०६॥

भरत महाराजका इस प्रकार निमन्त्रण मिलनेपर समस्त भूमण्डलमें महान् कलकल शब्द होने लगा। जनता एक दूसरेसे कहने लगी अहो भरत महाराज महादान करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥१०४॥ उठो, शीघ्रता करो, चलकर दानमें मिली हुई वस्त्र रत्नादिक सम्पदा ले आवें। देखो न उन्होंने अपने आदमियोंको आदरपूर्वक आमन्त्रित करनेके लिए भेजा है ॥१०५॥ कुछ मनुष्य यह भी कहने लगे कि राजा अपने मन्दिरमें आये हुए माननीय सम्यग्दृष्टियोंका ही आदर-सत्कार करता है, इसलिए वहाँ अपना जाना व्यर्थ है ॥१०६॥

ततः सम्यग्दृशो याता हर्षं परममागताः ।
समं पुत्रैः कलत्रैश्च पुरुषा विनयस्थिताः ॥४-१०७॥

मिथ्यादृशोऽपि सम्प्राप्ता मायया वसुतृष्णया ।
भवनं राजराजस्य शक्रप्रासादसन्निभम् ॥४-१०८

अङ्गणोप्तयवव्रीहिमुद्गमापाङ्कुरादिभिः ।
उच्चित्यलक्षणैः सर्वान् सम्यग्दर्शनसंस्कृतान् ॥४-१०९॥

अलक्षयत्सररत्नेन सूत्रचिह्नेन चारुणा ।
चामीकरमयेनासौ प्रवेशयदथो गृहम् ॥४-११०॥
मिथ्यादृशोऽपि तृष्णार्त्तारिचिन्तया व्याकुलीकृताः ।
जल्पन्तो दीनवाक्यानि प्रविष्टाः दुःखसागरम् ॥४-१११॥

इस वृत्तको सुनकर स्त्रीपुत्रसहित परम विनयी सम्यग्दृष्टि पुरुष बड़े प्रसन्न हुए ॥१०७॥ वे तो राजमन्दिर गये ही । उनके साथ धनकी तृष्णा-वश मायावी मिथ्यादृष्टि भी गये ॥१०८॥ किन्तु राजाने आँगनमें बोए गये जौ, धान्य, मूग और उड़द आदिके उगे हुए सचित्त अंकुरों द्वारा सब सम्यग्दृष्टियोंको पहिचानकर उन्हें ही सुन्दर स्वर्णसूत्रसे विभूषितकर महलमें प्रवेश कराया ॥१०९, ११०॥ इससे अत्यन्त लोभी मिथ्यादृष्टि मनुष्य आकुलतासे पीड़ित चित्त और खेदखिन्न हो दीन वचन बोलने लगे ॥१११॥

ततो यथेप्सितं दानं श्रावकेभ्यो ददौ नृपः ।
पूजितानां च चिन्तेयं तेषां जाता दुरात्मनाम् ॥४-११२॥
वयं केऽपि महापूता जगते हितकारिणः ।
पूजिता यत्र नरेन्द्रेण श्रद्धयात्यन्ततुङ्गया ॥४-११३॥
ततस्ते तेन गर्वेण समस्ते धरणीतले ।
प्रवृत्तायाचितुं लोकं दृष्ट्वा द्रव्यसमन्वितम् ॥४-११४॥
ततो मतिसमुद्रेण भरताय निवेदनम् ।
यथाद्येति मया जैने वचनं सदसि श्रुतम् ॥४-११५॥
वर्द्धमानजिनस्यान्ते भविष्यन्ति कलौ युगे ।
एते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः ॥४-११६॥
प्राणिनो मारयिष्यन्ति धर्मबुद्ध्या विमोहिताः ।
महाकषायसंयुक्ताः सदापापक्रियोद्यताः ॥४-११७॥
कुग्रन्थं वेदसंज्ञं च हिंसाभाषणतत्परम् ।
वक्ष्यन्ति कर्तृनिर्मुक्तं मोहयन्तोऽखिलाः प्रजाः ॥४-११८॥

महारम्भेषु संसक्ताः प्रतिग्रहपरायणाः ।
करिष्यन्ति सदा निन्दां जिनभाषितशासने ॥४–११९॥
निर्ग्रन्थमग्रतो दृष्ट्वा क्रोधं यास्यन्ति पापिनः ।
उपद्रवाय लोकस्य विषवृक्षाङ्कुरा इव ॥४–१२०॥
तच्छ्रुत्वा भरतः क्रुद्धः तान्सर्वान् हन्तुमुद्यतः ।
त्रासितास्ते ततस्तेन नाभेयं शरणं गताः ॥४–१२१॥
यस्मान्मा हननं पुत्र ! कार्षीरिति निवारितः ।
ऋषभेण ततो याता माहना इति ते श्रुतिम् ॥४–१२२॥

अनन्तर राजाने श्रावकोंको दानमें इच्छानुसार धन दिया। किन्तु अपना इस प्रकार आदर-सत्कार देखकर उन दुरात्माओंके मनमें यह विचार आने लगा कि राजाने बड़ी श्रद्धासे हमारा आदर-सत्कार किया है, इससे जान पड़ता है कि लोकमें बड़े पवित्र और सबका हित करनेवाले हम ही हैं ॥११२-११३॥ फलस्वरूप वे गर्वित हो समस्त भूमण्डलमें जिसे धनी देखते थे उसीसे धनकी याचना करने लगे ॥११४॥ यह सब देखकर मतिसागरने भरत महाराजसे निवेदन किया कि मैंने आज समवसरणमें यह वाणी सुनी है कि वर्द्धमान जिनके बाद कलिकालमें आपके द्वारा बनाये गये सब पाखण्डी और अहङ्कारी हो जावेंगे ॥११५, ११६॥ मोह और कषाय संयुक्त होकर पाप क्रियामें उन्मत्त हो धर्मबुद्धिसे प्राणियोंका घात करने लगेंगे ॥११७॥ समस्त प्रजाको मोहित करते हुए हिंसाका व्याख्यान करनेवाले खोटे ग्रन्थ वेदको अकर्तृक बतलावेंगे ॥११८॥ आरम्भ प्रधान कार्योंमें तत्पर रहेंगे, सबसे दान लेंगे, जिनशासनकी सदा निन्दा करेंगे ॥११९॥ और निर्ग्रन्थको अपने सामने आता हुआ देखकर क्रोध करेंगे। तात्पर्य यह है कि विषवृक्षके अंकुरके समान ये पापी भी सब जनताका अहित करनेवाले होंगे ॥१२०॥ यह सुनकर क्रोधित हो भरत महाराज उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुए। फलस्वरूप पीड़ित हुए वे सब भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें गये ॥१२१॥ भगवान्ने भरत महाराज

से यह कहकर कि हे पुत्र ! इन्हें मत मार उसे इस कर्मसे निवृत्त किया। इसीसे वे उस समयसे 'माहन' कहे जाने लगे ॥१२२॥

—पद्मचरित पर्व ४

चतुर्दशमहारत्नैर्निधिभिर्नवभिर्युतः ।
निःसपत्नं ततश्चक्री बुभोज वसुधां कृती ॥११-१०३॥

अदाद् द्वादशवर्षाणि दानं चासौ यथेप्सितम् ।
लोकाय कृपया युक्तः परीक्षापरिवर्जितम् ॥११-१०४॥

जिनशासनवात्सल्यभक्तिभारवशीकृतः ।
परीक्ष्य श्रावकान् पश्चाद् यवव्रीह्यङ्कुरादिभिः ॥११-१०५॥

काकिण्या लक्षणं कृत्वा सुरत्नत्रयसूत्रकम् ।
संपूज्य स ददौ तेभ्यो भक्तिदानं कृते युगे ॥११-१०६॥

ततस्ते ब्राह्मणाः प्रोक्ता व्रतिनो भरतादृताः ।
वर्णत्रयेण पूर्वेण जाता वर्णचतुष्टयी ॥११-१०७॥

चौदह रत्न और नौ निधियोंसे युक्त भरत चक्रवर्ती राज्यादि कार्योंमें सफलता प्राप्त कर शत्रु रहित पृथिवीका भोग करने लगा ॥११-१०३॥ उस समय उसने सब कृपासे प्रेरित होकर परीक्षा किये बिना लोगोंको बारह वर्ष तक यथेच्छ दान दिया ॥११-१०४॥ इसके बाद जिनशासनमें प्रगाढ वात्सल्य और भक्तिवश कृतयुगमें उसने यव और धान्य आदिके अंकुरों द्वारा श्रावकोंकी परीक्षा करके तथा काकिनी रत्नके द्वारा उन्हें रत्नत्रयसूत्रसे चिह्नित करके आदर-सत्कार पूर्वक भक्तिदान दिया ॥११-१०५, १०६॥ इस प्रकार भरत चक्रवर्तीसे आदर पाकर वे सब व्रती श्रावक ब्राह्मण कहलाये। तात्पर्य यह है कि पहलेके तीन वर्णोंसे उस समय चार वर्ण उत्पन्न हो गये ॥११-१०७॥

—हरिवंशपुराण

कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत ।
परार्थे सम्पदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥३८–५॥

शासनव्यवस्था सम्बन्धी सब कार्य कर चुकनेपर उनके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरोंके उपकारमें अपनी सम्पत्तिका किस प्रकार उपयोग करूँ ॥३८–५॥

महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् ।
प्रीणयामि जगद्विश्वं विष्वक् विश्राणयन् धनम् ॥३८–६॥

मैं जिनेन्द्रदेवका जीवन निर्माणमें परम सहायक महामह यज्ञ करके धन वितरण करता हुआ समस्त विश्वको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥३८–६॥

नानागारा वसून्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निस्पृहाः ।
सागारः कतमः पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥३८–७॥

परम निस्पृह मुनिजन तो हमारा धन स्वीकार करते नहीं। परन्तु गृहस्थोंमें वे कौन गृहस्थ हैं जो सब धान्य आदि समृद्धिके द्वारा आदरणीय हो सकते हैं ॥३८–७॥

येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनाम् ।
तर्पणीया हि तेऽस्माभिः ईप्सितैर्वसुवाहनैः ॥३८–८॥

जो अणुव्रतोंको धारण करनेवाले हैं, धीर हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं वे ही हमारे द्वारा इच्छित धन और सवारी आदि देकर प्रसन्न करने योग्य हैं ॥३८–८॥

इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् ।
परीचिक्षिपुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुजः ॥३८–९॥

इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करने योग्य व्यक्तियोंकी परीक्षा करने की इच्छासे भरत महाराजने उस समय सब राजाओंको आमन्त्रित किया ॥३८–९॥

सदाचारैर्निजैरिष्टैः अनुजीविभिरन्विताः ।
अद्यास्मदुत्सवे यूयं आयातेति पृथक्-पृथक् ।।३८-१०।।

और सबके पास खबर भेज दी कि आप सब अलग-अलग अपने अपने सदाचारी इष्ट अनजीवी जनोंके साथ आज हमारे उत्सवमें सम्मिलित हों ।।३८-१०।।

हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् ।
सम्राडर्चीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ।।३८-११।।

इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिए अपने महलके प्राङ्गणको हरे अंकुर पुष्प और फलोंसे व्याप्त कर दिया ।।३८-११।।

तेष्वव्रता विना सङ्गात् प्राविक्षन् नृपमन्दिरम् ।
ताननेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वयत् प्रभुः ।।३८-१२।।

उनमें जो अव्रती थे वे विना किसी प्रतिबन्धके राजमन्दिरमें घुस आये। राजा भरतने उन्हें एक ओर करके शेष लोगोंको भीतर बुलाया ।।३८-१२।।

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थं ईहमाना महान्वयाः ।
नैषुः प्रवेशनं तावद् यावदार्द्राङ्कुराः पथि ।।३८-१३।।

परन्तु ऊँची परम्पराको माननेवाले और अपने-अपने व्रतोंकी सफलता को चाहनेवाले उन लोगोंने जब तक मार्गमें अंकुर हैं तब तक राजमन्दिर में प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ।।३८-१३।।

सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् ।
निश्चक्रमुः कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरवः ।।३८-१४।।

पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे धान्योंसे व्याप्त राजप्राङ्गणको उल्लंघन किये विना बाहर चले गये ।।३८-१४।।

कृतानुबन्धना भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम् ।
प्रासुकेन पथान्येन भेजुः क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ।।३८-१५।।

परन्तु चक्रवर्तीके पुनः आग्रह करनेपर वे अन्य प्रासुक मार्गसे राज-प्राङ्गणको उल्लंघन कर उनके पास पहुँचाये गये ॥३८-१५॥

प्राक् केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः ।
केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥३८-१६॥

पहले किस कारणसे नहीं आये थे और अब किस कारणसे आये हो इस प्रकार चक्रवर्ती द्वारा पूछे जानेपर उन्होंने प्रत्युत्तरमें कहा ॥३८-१६॥

प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम् ।
न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥३८-१७॥

आज पर्वके दिन प्रवाल, पत्र, और पुष्प आदिका तथा उनमें उत्पन्न हुए निर्दोष जीवोंका विघात करना उचित नहीं है ॥३८-१७॥

सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥३८-१८॥

हे देव हमने सर्वज्ञदेवकी वाणीमें सुना है कि इन हरे अंकुर आदिमें अनन्त निगोदिया जीव वास करते हैं ॥३८-१८॥

तस्मान्नास्माभिराक्रान्तं अद्यत्वे त्वत्गृहाङ्गणम् ।
कृतोपहारमार्द्राद्रैः फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥३८-१९॥

इसलिए हरित फल, पुष्प और अंकुरोंसे सुशोभित राजप्राङ्गणमेंसे हम लोग नहीं आये हैं ॥३८-१९॥

इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान् ।
पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतैः ॥३८-२०॥

इस प्रकार उनके वचनोंसे सन्तुष्ट हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोंमें दृढ़ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान मान आदि सत्कारसे सम्मानित किया ॥३८-२०॥

तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः ।
उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राह्वैः एकाद्येकादशान्तकैः ॥३८-२१॥

तथा पद्म नामकी निधिसे प्राप्त हुए किन्हींको एक ब्रह्मसूत्रसे, किन्हींको दो ब्रह्मसूत्रोंसे और किन्हींको तीन चार आदि ग्यारह ब्रह्मसूत्रोंसे चिह्नित किया ॥३८-२१॥

गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् ।
सत्कारः क्रियते स्मैषां अव्रताश्च बहिःकृताः ॥३८-२२॥

जिनकी जितनी प्रतिमा थीं उनके अनुसार यज्ञोपवीत धारण करनेवाले उन श्रावकोंका सत्कार किया और अव्रतियोंको बाहर कर दिया ॥३८-२२॥

अथ ते कृतसम्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः ।
भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं लोकश्चैनानपूजयत् ॥३८-२३॥

इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा सन्मानको प्राप्त हुए वे सब व्रती अपने अपने व्रतोंमें और भी दृढ़ हो गये तथा अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे ॥३८-२३॥

इज्यां वर्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥३८-२४॥

कुलधर्मोऽयमित्येषां अर्हत्पूजादिवर्णनम् ।
ततः भरतराजर्षिः अन्ववोचदनुक्रमात् ॥३८-२५॥

उपासकाध्ययन सूत्रका विषय होनेसे भरतने उन्हें इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ॥३८-२४॥ यह इनका कुल धर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय उनके समक्ष अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका व्याख्यान किया ॥३८-२५॥

वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै ।
तेनायं श्लाघतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥४०-१८२॥

वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता ।
अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥४०-१८३॥

सब वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है। इससे यह प्रशंसाको प्राप्त होता हुआ स्व और पर दोनोंका उपकार करनेमें समर्थ होता है ॥४०-१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है तो यह अन्यसे उत्कृष्ट नहीं हो सकता और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपनेको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥४०-१८३॥

स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः ।
ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो वधमर्हति ॥४०-१६४॥

सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः ।
गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्वयात्मता मता ॥४०-१६५॥

तस्मादवध्यतामेष पोषयेत् धार्मिके जने ।
धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥४०-१६६॥

तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः ।
एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥४०-१६७॥

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः ।
स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥४०-१६८॥

अपने आत्मामें स्थिर हुआ उत्तम द्विज अवध्य पदका अधिकारी है, क्योंकि उसमें गुणोंका उत्कर्ष होनेके कारण ब्राह्मण वधके योग्य नहीं होता ॥४०-१६४॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए और विशेष कर ब्राह्मणोंको नही मारना चाहिए इस प्रकार गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्षके कारण वध भी दो प्रकारका माना गया है ॥४०-१६५॥ इसलिए धार्मिक मनुष्योंमें यह अपनी अवध्यताको पुष्ट करे। वह धर्मका ही माहात्म्य है जो इस धर्ममें स्थित रहकर किसीसे तिरस्कृत नहीं होता ॥४०-१६६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पुष्ट नहीं करेगा तो सब तरहसे यह वध्य हो जायगा

और ऐसा होने पर अरिहन्तदेवके धर्मकी प्रमाणता नष्ट हो जायगी ॥४०–१६७॥ इसलिए सब प्रकारके प्रयत्न करके सनातन धर्मकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि उसकी अच्छी तरहसे रक्षा करने पर वह चराचर की रक्षा कर सकता है ॥४०–१६८॥

स्याददण्ड्यत्वमप्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः ।
धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥४०–१६६॥

तद्धर्मस्थीयमाम्नायं भावयन् धर्मदर्शिभिः ।
अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥४०–२००॥

परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः ।
ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥४०–२०१॥

युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी ।
अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम् ॥४०–२०२॥

इसी प्रकार धर्ममें स्थिर हुआ यह द्विज अदण्ड्य पदका भी अधिकारी है, क्योंकि धर्ममें स्थित हुआ मनुष्य ही दूसरेको दण्ड देनेमें समर्थ होता है ॥४०-६६॥ नियम यह है कि धर्म तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंने जो धार्मिक परम्परा स्थापित की है उसका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधार्मिक पुरुषोंको दण्ड देता है ४०–२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा देव द्रव्य और गुरुद्रव्य त्यागने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका द्रव्य भी त्यागने योग्य है, इसलिए द्विज दण्ड देने योग्य नहीं है ॥४०–२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको दण्ड न देने योग्य स्थापित करता है ॥४०–२०२॥

मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारचुञ्चवः ।
त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥४१–३०॥

एकाद्येकादशान्तानि दत्तान्येभ्यो मया विभो ।
व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥४१-३१॥

विश्वस्य धर्मसर्गस्य त्वयि साक्षात्प्रणेतरि ।
स्थिते मयातिबालिश्याद्दिमाचरितं विभो ॥४१-३२॥

दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत् साम्प्रतं न वा ।
दोलायमानमिति मे मनः स्थापय निश्चितौ ॥४१-३३॥

हे भगवन्! मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा श्रावकाचारमें निपुण द्विज निर्माण किए हैं ॥४१-३०॥ हे विभो! उन्हें ग्यारह प्रतिमाओंके विभागक्रमसे व्रतोंके चिह्नस्वरूप एक सूत्र, दो सूत्र इत्यादि रूप ग्यारह सूत्र दिए हैं ॥४१-३१॥ हे विभो समस्त धर्मसृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी मूर्खतावश यह आचरण किया है ॥४१-३२॥ इसमें दोष क्या है और गुण क्या है तथा यह कार्य उचित हुआ या नहीं इस प्रकार दोलायमान मेरे चित्तको किसी निश्चयमें स्थिर कीजिए ॥४१-३३॥

साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् ।
किन्तु दोषानुसङ्गोऽत्र कोऽप्यस्ति स निशम्यताम् ॥४१-४५॥

आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः ।
ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः ॥४१-४६॥

ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः ।
भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ॥४१-४७॥

तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति ।
पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति धनाशयाः ॥४१-४८॥

सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः ।
जनान् प्रतारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ॥४१-४९॥

त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः ।
धर्मद्रुहो भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥४१-५०॥

सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ॥४१-५१॥

अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः ।
चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी वत ॥४१-५२॥

पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः ।
वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥४१-५३॥

द्विजातिसर्जनं तस्मान्नाद्य यद्यपि दोषकृत् ।
स्याद्दोषवीजमायत्यां कुपाखण्डप्रवर्तनात् ॥४१-५४॥

इति कालान्तरे दोषवीजमप्येतदञ्जसा ।
नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥४१-५५॥

यथान्नमुपयुक्तं सत् क्वचित्कस्यापि दोषकृत् ।
तथाप्यपरिहार्यं तद् बुधैर्बहुगुणास्थया ॥४१-५६॥

तथेदमपि मन्तव्यमद्यत्वे गुणवत्तया ।
पुंसामाशयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोषकृत् ॥४१-५७॥

इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान् ऋषभदेवने उत्तर दिया कि हे वत्स ! धर्मात्मा द्विजोंकी पूजा कर बहुत ही उत्तम कार्य किया है । किन्तु उसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४१-४५॥ हे आयुष्मन् ! तूने जो इन गृहस्थोंकी रचना की है सो ये कृतयुगके अन्त तक ही उचित आचारका पालन करेंगे ॥४१-४६॥ उसके बाद कलियुगके निकट आनेपर ये जाति-वादके अभिमानवश भ्रष्ट आचारको धारण कर सन्मार्गके विरोधी बन जावेंगे ॥४१-४७॥ इस समय ये लोग हम सबमें श्रेष्ठ हैं इस प्रकार जातिमदके वशीभूत होकर धनकी इच्छासे दूसरोंको मिथ्या आगमोंसे मोहित करने लगेंगे ॥४१-४८॥ सत्कार लाभसे गर्विष्ठ और मिथ्यामदसे

उद्धत हुए ये स्वयं मिथ्याशास्त्रोंको रचकर दूसरे मनुष्योंको ठगने लगेंगे ॥४१–४६॥ जिनकी चेतना पापसे उपहत हो गई है ऐसे ये मिथ्या-दृष्टि लोग कृतयुगके अन्तमें विकारभावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जावेंगे ॥४१–५० प्राणियोंके मारनेमें निरत और मधु तथा मांसके भोजन को प्रिय माननेवाले ये अधर्मी लोग प्रवृत्तिलक्षण धर्मकी घोषणा करेंगे ॥४१–५१॥ खेद है कि दुष्ट आशयवाले ये लोग अहिंसालक्षण धर्मको दूषितकर वेदोक्त धर्मको पुष्ट करेंगे ॥४१–५२॥ पापसूत्रको धारण करनेवाले, धूर्त और प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर ये लोग आगामी युगमें सन्मार्गसे विरुद्ध प्रवृत्ति करने लगेंगे ॥४१–५३॥ इसलिए वर्तमानमें यद्यपि द्विजजातिकी उत्पत्ति दोषकारक नहीं है तो भी आगामी कालमें खोटे मतोंकी प्रवृत्ति करनेवाली होनेसे दोषका बीज है ॥४१–५४॥ इस प्रकार यद्यपि कालान्तरमें यह नियमसे दोषका बीज है तो भी धर्मसृष्टिका उल्लंघन न हो, इसलिए इस समय उसका त्याग नहीं करना चाहिए ॥४१–५५॥ जिस प्रकार उपयोगमें लाया गया अन्न कहींपर किसीके लिए दोषकारक होता है तो भी बुद्धिमान् मनुष्य उसमें सम्भव बहुत गुणोंकी आस्थासे उसका त्याग नहीं कर सकते ॥४१–५६॥ उसी प्रकार पुरुषोंका भिन्न भिन्न आशय होनेसे यद्यपि ये आगे चलकर दोषकारक हो जावेंगे तथापि इस समय गुणवान् ही मानना चाहिए ॥४१–५७॥

—महापुराण

श्रावकाः पूजिताः पूर्वं भक्तितो भरतेन ये ।
चक्रिपूजनतो जाता ब्राह्मणास्ते मदोद्धताः ॥१८–६४॥

पहले जिन श्रावकोंकी भरत महाराजने भक्तिपूर्वक पूजा की थी, चक्रवर्तीके द्वारा पूजे जानेके कारण वे ब्राह्मण मदोद्धत हो गये १८–६४॥

—धर्मपरीक्षा

अहिंसासद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः ।
यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धतः ।

जो समीचीन अहिंसाव्रतका पालन करता है, ज्ञानवान् है, सांसारिक भोगाकांक्षासे रहित है और परिग्रह रहित है, वास्तवमें वही ब्राह्मण है। किन्तु जो जातिमदसे अन्धा हो रहा है वह ब्राह्मण नहीं है।

—यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ४१२

विवाह मीमांसा

कन्यादानं विवाहः । परस्य विवाहः परविवाहः । परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् । परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी । कुत्सिता इत्वरी कुत्सायां क इत्वरिका । या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता । या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता । परिगृहीता च अपरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते । इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीते । तयोर्गमने इत्वरिकापरिगृहीतापरिग्रहीतागमने ।

कन्याका ग्रहण करना विवाह है। किसी अन्यका विवाह परविवाह है और इसका करना परविवाहकरण है। जिसका स्वभाव पर पुरुषके पास जाना आना है वह इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यन्त आचरट होती है वह इत्वरिका कहलाती है। यहाँ कुत्सित अर्थमें 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। जिसका एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। तथा जो वेश्या या व्यभिचारिणी होनेसे पर पुरुषके पास जाती आती रहती है और जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता कहलाती है। परिगृहीता इत्वरिकामें गमन करना परिगृहीताइत्वरिकागमन है और अपरिगृहीता इत्वरिकामें गमन करना अपरिगृहीताइत्वरिकागमन है। —त० सू० ७-२८, सर्वार्थसिद्धि

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः । १ । सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते । परस्य विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् ।

अयनशीलेत्वरी । २ । ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी । ततः कुत्सायां कः इत्वरिका ।

सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विशेषरूपसे वहन करना विवाह है ॥१॥ सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन अर्थात् कन्याका वरण करना विवाह कहा जाता है । परका विवाह परविवाह है तथा परविवाहका करना परविवाहकरण है ।

जो गमनशील है वह इत्वरी है ॥२॥ ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई कलागुणज्ञताके कारण तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी स्त्रीवेदके उदयकी प्रकर्षता और आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके आलम्बनसे जिसका स्वभाव पर पुरुषके पास जानेका है वह इत्वरी है । यहाँ कुत्सा अर्थमें क प्रत्यय करके इत्वरिका शब्द बना है । (शेष कथन सर्वार्थसिद्धिके समान है ।)

—त० सू० अ० ७ सू० २८ तत्त्वार्थराजवार्तिक

स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचिरं वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥५३॥
अक्षान्तिस्तत्र नो युक्ता पितुर्भ्रातुर्निजस्य वा ।
स्वयंवरगतिज्ञस्य परस्येह च कस्यचित् ॥५४॥
कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः शुभगोऽपरः ।
कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिवन्धोऽस्ति कश्चन ॥५५॥

स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या अपने लिए प्रिय लगनेवाले वरका वरण करती है । वहाँ यह कुलीन है या अकुलीन है ऐसा कोई नियम नहीं है ॥५३॥ इसलिए स्वयंवरविधिके जानकार चाहे निजी माता-पिता हो या अन्य कोई उन्हें स्वयंवरमें क्रोध करना उचित नहीं है ॥५४॥ कोई महाकुलीन

होकर भी दुर्भग होता है और कोई अकुलीन होकर भी सुभग होता है। स्वयंवरमें कुलका और सौभाग्यका किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं है ॥५५॥

—हरिवंशपुराण सर्ग ३१

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः। परस्य विवाहः परविवाहः। तस्य करणं परविवाहकरणम्। अयनशीला इत्वरी। सैव कुत्सिता इत्वरिका। तस्यां परिगृहीतायामपरिगृहीतायां च गमनमित्वरिका-परिगृहीतापरिगृहीतागमनम्।

सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन अर्थात् स्वीकार करना विवाह है, परका विवाह परविवाह है तथा उसका करना परविवाह-करण है। इत्वरी शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—अयनशीला अर्थात् गमन करनेरूप स्वभाववाली। वह यदि अत्यन्त गलत मार्गसे गमन करे तो इत्वरिका कहलाती है। वह दो प्रकारकी होती है—परिगृहीता और अपरि-गृहीता। इन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंमें गमन करना इत्वरिकापरिगृहीता-गमन और इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन है। (ये अतीचार स्वदारसन्तोष या परस्त्रीत्याग व्रतके जानने चाहिए)।

—त० सू०, अ० ७ सू० २८ श्लोकवार्तिक

विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥२॥

विवाहपूर्वक व्यवहार चार वर्णके मनुष्योंको कुलीन रखता है ॥२॥

एतदुक्तं भवति—अनुवर्ण्यं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां वर्णतया योऽसौ विवाहस्तत्र तत्सन्तानं भवति तत्स्वकुलधर्मेण वर्तत इति न कदाचिद्व्यभिचरति।

तात्पर्य यह है अनुवर्ण्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका जो अपने-अपने वर्णके अनुसार विवाह होकर सन्तान होती है वह अपने अपने कुलधर्मके अनुसार चलती है, उसका कदापि उल्लंघन नहीं करती।

—टीका सूत्र २

युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥३॥

युक्तिसे जो वरणविधि होती है अर्थात् अग्नि, देव और द्विजकी साक्षीपूर्वक जो पाणिग्रहण होता है उसका नाम विवाह है ॥३॥

समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥२०॥

जो समानविभववाले होकर कुलीन हों और दोनोंका अलग-अलग गोत्र हो उनमें विवाह सम्बन्ध होता है ॥२०॥

विकृतप्रत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥२७॥ आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥२८॥

विकृतप्रत्यूढा होने पर भी कन्या पुनर्विवाह कर सकती है ऐसा स्मृतिकारोंका कथन है ॥२७॥ अनुलोम विधिसे चार वर्णकी कन्याको स्वीकार करनेवाले ब्राह्मण, तीन वर्णकी कन्याको स्वीकार करनेवाले क्षत्रिय और दो वर्णकी कन्याको स्वीकार करनेवाले वैश्य होते हैं ॥२८॥

—नीतिवाक्यामृत विवाहसमुद्देश

तत्र परिगृहीताः सस्वामिकाः। अपरिगृहीता स्वैरिणी प्रोषितभर्तृका कुलाङ्गना वा अनाथा।

जिसका स्वामी है उसे परिगृहीता कहते हैं और जो स्वैरिणी, पतित्यक्ता या अनाथ कुलाङ्गना है उसे अपरिगृहीता कहते हैं।

—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० ५२ टीका

मैथुनं न कार्यं न च कारणीयमिति व्रतं यदा गृहीतं भवति तदान्यविवाहकरणं मैथुनकरणमित्यर्थतः प्रतिसिद्धमेव च भवति।

मैथुन न करना चाहिए और न कराना चाहिए ऐसा व्रत जब ग्रहण किया जाता है तब अन्यका विवाह करना मैथुन करना ही है, इसलिए वह निषिद्ध ही है।

—सागारधर्मामृत अ० ४, श्लो० ५८ टीका

चरित्रग्रहण मीमांसा

अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२०३॥ एक्कं हि चेव तिरिक्खगदिमागच्छंति त्ति ॥२०४॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा छण्णो उप्पाएंति— आभिणिबोहियणाणं णो उप्पाएंति सुदणाणं णो उप्पाएंति ओहिणाणं णो उप्पाएंति सम्मामिच्छत्तं णो उप्पाएंति सम्मत्तं णो उप्पाएंति संजमासंजमं णो उप्पाएंति ॥२०५॥

नीचेकी सातवीं पृथिवीके नारकी नरकसे निकल कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२०३॥ एक मात्र तिर्यञ्चगतिको प्राप्त होते हैं ॥२०४॥ तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हो कर वे इन छहको नहीं उत्पन्न करते हैं—आभिनिबोधिकज्ञानको नहीं उत्पन्न करते हैं, श्रुतज्ञानको नहीं उत्पन्न करते हैं, अवधिज्ञानको नहीं उत्पन्न करते हैं, सम्यग्मिथ्यात्वको नहीं उत्पन्न करते हैं, सम्यक्त्वको नहीं उत्पन्न करते हैं और संयमासंयमको नहीं उत्पन्न करते हैं ॥२०५॥

छट्ठीए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२०६॥ दुवे गदीओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेव ॥२०७॥ तिरिक्खमणुस्सेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा मणुसा केइं छ उप्पाएंति—केइं आभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइमोहिणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजममुप्पाएंति ॥२०८॥

छठी पृथिवीके नारकी नरकसे निकल कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२०६॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२०७॥ नरकसे आकर तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए कोई तिर्यञ्च और मनुष्य छहको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको

उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं और कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं ॥२०८॥

पंचमीए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीयो आगच्छंति ॥२०९॥ दुवे गदीओ आगच्छंति–तिरिक्खगदिं चेव मणुसगदिं चेव ॥२१०॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा केइं छ उप्पाएंति ॥२११॥ मणुस्सेसु उववण्णल्लया मणुसा केइमट्ठमुप्पाएंति— केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइमोहिणाण-मुप्पाएंति केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजममुप्पाएंति केइं संजममुप्पा-एंति ॥२१२॥

पाँचवी पृथिवीके नारकी नरकसे निकल कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२०९॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२१०॥ नरकसे आकर तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्च कोई पूर्वोक्त छहको उत्पन्न करते हैं ॥२११॥ तथा नरकसे आकर मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए मनुष्य कोई आठको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं और कोई संयमको उत्पन्न करते हैं ॥२१२॥

चउत्थीए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उवट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२१३॥ दुवे गदीओ आगच्छंति–तिरिक्खगइं चेव मणुसगइं चेव ॥२१४॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा केइं छ उप्पाएंति ॥२१५॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा केइं दस उप्पाएंति— केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइं मोहिणाण-मुप्पाएंति केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइं केवलणाणमुप्पाएंति केइं

सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजम-मुप्पाएंति केइं संजममुप्पाएंति। णो बलदेवत्तं णो वासुदेवत्तं णो चक्कवट्टित्तं णो तित्थयरत्तं। केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं परिविजाणंति ॥२१६॥

चौथी पृथिवीके नारकी नरकसे निकल कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२१३॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको ही प्राप्त होते हैं ॥२१४॥ नरकसे आकर तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुए कोई तिर्यञ्च पूर्वोक्त छहको उत्पन्न करते हैं ॥२१५॥ मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए कोई मनुष्य दसको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं कोई केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं और कोई संयमको उत्पन्न करते हैं। ये बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर नहीं होते। मात्र कितने ही अन्तःकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाणको प्राप्त होते हैं और सब दुखोंका अन्त कर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२१६॥

तिसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२१७॥ दुवे गदीओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेव ॥२१८॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा केइं छ उप्पाएंति ॥२१९॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुस्सा केइमेक्कारस उप्पाएंति—केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइमोहिणाणमुप्पाएंति केइं केवलणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजम-मुप्पाएंति केइं संजममुप्पाएंति। णो बलदेवत्तं णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति णो चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति। केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति केइमंतयडा

होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं परिविजाणंति ॥२२०॥

प्रथमादि तीन पृथिवियोंके नारकी नरकसे निकल कर कितनी गतियों को प्राप्त होते हैं ॥२१७॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको ही प्राप्त होते हैं ॥२१८॥ नरकगतिसे आकर तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्च कोई पूर्वोक्त छहको उत्पन्न करते हैं ॥२१९॥ मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए मनुष्य कोई ग्यारहको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं और कोई संयमको उत्पन्न करते हैं। ये बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती नहीं होते। कोई तीर्थङ्करपदको उत्पन्न करते हैं और कोई अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाणको प्राप्त होते हैं और सब दुखोंका अन्तकर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२२०॥

तिरिक्खा मणुसा तिरिक्ख-मणुसेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति ॥२२१॥ चत्तारि गदीओ गच्छंति–णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं देवगदिं चेदि ॥२२२॥ णिरय-देवेसु उववण्णल्लया णिरय-देवा केइं पंचमुप्पाएंति—केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइमोहिणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति ॥२२३॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खमणुसा केइं छउप्पाएंति ॥२२४॥ मणुसेसु उववण्णल्लया तिरिक्ख-मणुस्सा जहा चउत्थपुढवीए भंगो ॥२२५॥

तिर्यञ्च और मनुष्य तिर्यञ्च और मनुष्यगतिसे च्युत होकर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२२१॥ नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति इन चारों गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२२२॥ नरकगति और देवगति

में उत्पन्न हुए नारकी और देव कोई पाँचको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं और कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं ॥२२३॥ तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य और तिर्यञ्च कोई छहको उत्पन्न करते हैं ॥२२४॥ तथा मनुष्योंमें उत्पन्न हुए तिर्यञ्च और मनुष्योंका भङ्ग चौथी पृथिवीके समान है ॥२२५॥

देवगदीए देवा देवेहि उव्वट्टिदचुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२२६॥ दुवे गदाओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेदि ॥२२७॥ तिरक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा केइं छ उप्पाएंति ॥२२८॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा केइं सव्वं उप्पाएंति केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइं मोहिणाणमुप्पाएंति केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइं केवलणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजममुप्पाएंति केइं संजमं उप्पाएंति केइं बलदेवत्तमुप्पाएंति केइं वासुदेवत्तमुप्पाएंति केइं चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुःखाणमंतं परिविजाणंति ॥२२९॥

देवगतिमें देव देवगतिसे च्युत हो कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२२६॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२२७॥ देवगतिसे आकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कितने ही तिर्यञ्च पूर्वोक्त छहको उत्पन्न करते हैं ॥२२८॥ तथा मनुष्योंमें उत्पन्न हुए कितने ही मनुष्य कोई सबको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिकज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमको उत्पन्न करते

हैं, कोई बलदेव होते हैं, कोई वासुदेव होते हैं, कोई चक्रवर्ती होते हैं और कोई अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाणको प्राप्त होते हैं और सब दुखोंका अन्तकर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२२६॥

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय देवादेवीओ सोधम्मीसाणकप्पवासिय-देवीओ च देवा देवेहि उव्वट्टिदचुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२३०॥ दुवे गदीओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेदि ॥२३१॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा केइं छ उप्पाएंति ॥२३२॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा केइं दस उप्पाएंति—केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति केइं सुदणाणमुप्पाएंति केइमोहिणाणमुप्पाएंति केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइं केवलणाणमुप्पाएंति केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजममुप्पाएंति केइं संजममुप्पाएंति णो बलदेवत्तमुप्पाएंति णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति णो चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति णो तित्थयरत्तमुप्पाएंति केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुःखाणमंतं परिविजाणंति ॥२३३॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव, उनकी देवाङ्गनाएँ तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवाङ्गनाएँ वहाँसे मरकर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२३०॥ तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति इन दो गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२३१॥ उक्त स्थानोंसे आकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कितने ही तिर्यञ्च छहको उत्पन्न करते हैं ॥२३२॥ तथा मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए कितने ही मनुष्य कोई दसको उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिक ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वको उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं, कोई संयमको उत्पन्न करते हैं, वहाँसे मरकर आए हुये जीव

बलदेव नहीं होते, वासुदेव नहीं होते, चक्रवर्ती नहीं होते और तीर्थङ्कर नहीं होते, तथा कितने ही मनुष्य अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं तथा सब दुखोंका अन्तकर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२३३॥

सोहम्मीसाण जाव सदर–सहस्सारकप्पवासियदेवा जधा देवगदिभंगो ॥२३४॥ आणादादि जाव णवगेवज्जविमाणवासियदेवा देवेहि चुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२३५॥ एक्कं हि चेव मणुसगदिमागच्छंति ॥२३६॥ मणुस्सेसु उववण्णल्लया मणुस्सा केइं सव्वे उप्पाएंति ॥२३७॥ अणुदिस जाव अवराइदविमाणवासियदेवा देवेहि चुदसमाणा कदि गदीयो आगच्छंति ॥२३८॥ एक्कं हि चेव मणुसगदिमागच्छंति ॥२३९॥ मणुस्सेसु उववण्णल्लया मणुस्सा तेसिमाभिणिवोहियणाणं सुदणाणं णियमा अत्थि। ओहिणाणं सिया अत्थि सिया णत्थि। केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केइं केवलणाणमुप्पाएंति। सम्मामिच्छत्तं णत्थि। सम्मत्तं णियमा अत्थि। केइं संजमासंजममुप्पाएंति। संजमं णियमा उप्पाएंति। केइं बलदेवत्तमुप्पाएंति णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति। केइं चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुःखाणमंतं परिविजाणंति ॥२४०॥ सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवा देवेहि चुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२४१॥ एक्कं हि मणुसगदिमागच्छंति ॥२४२॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा तेसिमाभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं च णियमा अत्थि। केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति केवलणाणं णियमा उप्पाएंति। सम्मामिच्छत्तं णत्थि सम्मत्तं णियमा अत्थि। केइं संजमासंजममुप्पाएंति संजमं णियमा उप्पाएंति। केइं बलदेवत्तमुप्पाएंति णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति केइं चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति। सव्वे ते णियमा अंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुःखाणमंतं परिविजाणंति ॥२४३॥

सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर सतार-सहस्रार कल्प तकके देवोंका भङ्ग सामान्य देवोंके समान है। आनत कल्पसे लेकर नौ ग्रैवेयक तकके विमानवासी देव वहाँसे च्युत होकर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२३५॥ एक मात्र मनुष्यगतिको प्राप्त होते हैं ॥२३६॥ मनुष्योंमें उत्पन्न हो कर कितने ही मनुष्य सबको उत्पन्न करते हैं ॥२३७॥ अनुदिशसे लेकर अपराजित तकके विमानवासी देव वहाँसे च्युत हो कर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२३८॥ एक मात्र मनुष्यगतिको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ मनुष्योंमें उत्पन्न होकर उनके आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान नियमसे होता है। अवधिज्ञान स्यात् होता है और स्यात् नहीं होता। कितने ही मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं और कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। इनके सम्यग्मिथ्यात्व नहीं होता। सम्यक्त्व नियमसे होता है। कितने ही संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं, संयमको नियमसे उत्पन्न करते हैं। कितने ही बलदेव होते हैं। वासुदेव कोई नहीं होता। कितने ही चक्रवर्ती होते हैं, कितने ही तीर्थङ्कर होते हैं तथा कितने ही अन्तकृत हो कर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं तथा सब दुखोंका अन्त कर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२४०॥ सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव वहाँसे च्युत होकर कितनी गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥२४१॥ एक मात्र मनुष्यगतिको प्राप्त होते हैं ॥२४२॥ मनुष्योंमें उत्पन्न हुए उनके आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान नियमसे होता है। कितने ही मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करते हैं। केवलज्ञानको नियमसे उत्पन्न करते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व नहीं होता। सम्यक्त्व नियमसे होता है। कितने ही संयमासंयमको उत्पन्न करते हैं। संयमको नियमसे उत्पन्न करते हैं। कितने ही बलदेव होते हैं। वासुदेव नहीं होते। कितने ही चक्रवर्ती होते हैं और कितने ही तीर्थङ्कर होते हैं। वे सब नियमसे अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाणको

प्राप्त होते हैं तथा सब दुखोंका अन्त कर अनन्त सुखका अनुभव करते हैं ॥२४३॥

—जीवस्थान चूलिका

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥१॥

वन्धुवर्गसे पूँछकर तथा माता, पिता, स्त्री और पुत्र इनका त्याग कर यह प्राणी ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको स्वीकार कर संसारसे विरक्त होता है ॥१॥

—प्रवचनसार चारित्राधिकार

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥४॥

जो जानता है वह ज्ञान और जो देखता है वह दर्शन कहा गया है। तथा ज्ञान और दर्शनके प्राप्त होने पर चारित्र होता है ॥४॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥२०॥

संयमचरण दो प्रकारका है—सागार और अनगार। जो परिग्रहसे युक्त है उसके सागार संयमचरण होता है और जो परिग्रह रहित है उसके अनगार संयमचरण होता है ॥२०॥

—चरित्रप्राभृत

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

जो पाँच महाव्रतों और तीन गुप्तियोंसे युक्त है वह संयत है। वह निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है और वन्दनीय है ॥२०॥

दुइयं च वुत्त लिंगं उक्किट्ठं अवर सावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभावेण मोणेण ॥२१॥

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण ।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥
भाव रहित पढ़नेसे अथवा भाव रहित सुननेसे क्या कार्य सिद्ध होता है ? वास्तवमें भाव ही गृहस्थपने और मुनिपनेका कारण है ॥६६॥

दव्वेण सयलणग्गा णारय-तिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥
द्रव्यसे नारकी और तिर्यञ्च यह सब सकल संघात नग्न रहता है। परन्तु परिणामोंसे अशुद्ध होनेके कारण वे भाव श्रमणपनेको नहीं प्राप्त होते ॥६७॥

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणावज्जिओ सुइरं ॥६८॥
जिन भावनासे रहित नग्न दुख पाता है, संसार सागरमें परिभ्रमण करता है और चिरकाल तक रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करता ॥६८॥

अयसाण भावणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥
जो अपयशोंका पात्र है, पापसे मलिन है तथा पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और मायाबहुल है ऐसे नग्न श्रमणसे तुझे क्या मतलब ॥६९॥

पयडहि जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥७०॥
तूँ अन्तरङ्गके भावगत दोषसे शुद्ध होकर जिनवरके लिङ्गको प्रकट कर, क्योंकि बाह्य परिग्रहके सद्भावमें यह जीव भावमलसे स्वयंको मलिन कर लेता है ॥७०॥

धम्मे णिप्पवासो दोसावासो य उंच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥
जो धर्मसे दूर है, दोषोंका घर है तथा ईखके फूलके समान निष्फल और निर्गुण है वह नग्नरूपसे नटश्रमण है ॥७१॥

१६६॥ जो दीक्षा योग्य कुलमें नहीं उत्पन्न हुए हैं और विद्या तथा शिल्प कर्म द्वारा आजीविका करते हैं वे उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं माने गये हैं ॥४०-१७०॥ अपने योग्य व्रतोंको धारण करनेवाले उनके लिये सन्यास पर्यन्त एक धोती धारण करना यह योग्य चिन्ह हो सकता है ॥४०-१७१॥ इन्हें निरामिष भोजन करना चाहिए, कुलस्त्रीके सेवनका व्रत लेना चाहिए, अनारम्भ वधका त्याग करना चाहिए और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥४०-१७२॥ इस प्रकार व्रतोंसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको जो द्विज धारण करता है उसके सम्पूर्ण व्रतचार्या विधि समझनी चाहिए ॥४०-१७३॥

—महापुराण

येषां भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुद्धयति ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्याः तच्छूद्रावयवाः ॥२।१।१०४॥

भोजनके कार्यमें आया हुआ जिनका पात्र संस्कार करनेसे शुद्ध हो जाता है वे पात्र्यशूद्र हैं जो शूद्रोंके अन्तर्गत हैं।

—अमोघवृत्ति

वर्णेनार्हद्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति। येन रूपेणार्हन्त्यमवाप्यते तदिह नैर्ग्रन्थ्यमर्हद्रूपमभिप्रेतम्। अतिशयोपेतस्यार्हद्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुतरमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते। तक्षायस्कारं कुलालवरूढं रजकतन्तुवायम्। नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः प्राप्नोति। चण्डालमृतपाः। न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः। वर्णेनेति किम्। मूकबधिराः। एते करणदोषेणायोग्याः। अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम्। ब्राह्मणक्षत्रियौ।

वर्णसे जो अर्हद्रूपके अयोग्य हैं उनके वाची शब्दोंका द्वन्द्वसमासमें एकवद्भाव होता है। जिस रूपमें आर्हन्त्यपद प्राप्त होता है वह निर्ग्रन्थ अवस्था यहाँपर अर्हद्रूपपदसे अभिप्रेत है। अनेक अतिशयसम्पन्न और

प्रतिहार्योंसे युक्त जो अरिहन्त अवस्था है वह इनके बहुत ही अयोग्य है, अर्थात् ऐसे वर्णवाले उस अवस्थाको कथमपि नहीं प्राप्त कर सकते, इसलिए यहाँपर उस अवस्थाका ग्रहण नहीं किया है। उदाहरण—तक्षायस्कारं कुलालवरूढं रजकतन्तुवायम्।

शंका—इन शब्दोंमें भी एकवद्भाव प्राप्त होता है, अतः 'चण्डालमृतपाः'के स्थानमें 'चण्डालमृतपम्' होना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि इन शब्दोंका 'दधि-पय' आदिमें अन्तर्भाव होकर द्वन्द्वसमास जानना चाहिए।

शंका—सूत्रमें 'वर्णेन' पद क्यों दिया है?

समाधान—'मूकबधिराः' इत्यादि स्थलमें एकवद्भाव न हो इसके लिए 'वर्णेन' पद दिया है।

—महावृत्ति पृ० ७८

वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥१।४।९७॥

जो वर्णसे निर्ग्रन्थ होनेके अयोग्य हैं उनके वाची शब्दोंका द्वन्द्व समासमें एकवद्भाव होता है।

—शब्दार्णवचन्द्रिका

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो॥३-२५ उद्धृत॥
............यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि।

जो निरोग है, जो उम्रसे तपको सहन करनेमें समर्थ है, जो सौम्य-मुख है और जो दुराचार आदि लोक अपवादसे रहित है ऐसा तीन वर्णोंमेंसे कोई एक वर्णका मनुष्य जिनदीक्षा लेनेके योग्य है।

यथायोग्य सच्छूद्र आदि भी जिनदीक्षाके योग्य है।

—प्रवचनसार अ० ३, गा० २५ जयसेनटीका

वर्णेन जातिविशेषेणार्हद्रूपस्य नैर्ग्रन्थस्यायोग्यानां द्वन्द्व एकवद् भवति। तक्षायस्कारं कुलालवरुटं रजकतन्तुवायम्। वर्णेनेति किम्? मूकबधिरौ अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम्! ब्राह्मणक्षत्रियौ ।१।४।९७।

वर्णसे अर्थात् जातिविशेषसे जो अर्हद्रूप अर्थात् निर्ग्रन्थपदके अयोग्य हैं उनका द्वन्द्वसमास करनेपर एकवद्भाव होता है यथा—तक्षायस्कारं कुलालवरुटं रजकतन्तुवायम्। सूत्रमें 'वर्णेन' पद क्यों दिया है? 'मूकबधिरौ' इसमें एकवद्भाव न हो इसके लिए दिया है। 'अर्हद्रूपायोग्यानाम्' पद क्यों दिया है? 'ब्राह्मणक्षत्रियौ' इसमें एकवद्भाव न हो इसके लिए दिया है।

—शब्दार्णवचन्द्रिका वृत्ति

येषां भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति ते पात्रमर्हन्ति इति। पन्याः तच्छूद्रावयवः। तक्षायस्कारं कुलालवरूढम्। पान्यग्रहणं किम्? चण्डालमृतपाः।

जिनके भोजनका पात्र संस्कारसे शुद्ध हो जाता है वे पात्र हो सकते हैं। यहाँपर पन्य शब्दसे ऐसे प्रत्येक शूद्रका ग्रहण किया है। तक्षायस्कारं कुलालवरुटम्। सूत्रमें 'पान्य' पद क्यों दिया है? 'चण्डालमृतपाः' इसमें एकवद्भाव न हो इसके लिए दिया है।

—चिन्तामणि लघुवृत्ति

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥

संसारसमुद्रसे तारनेवाले और चातुर्वर्ण्यसम्पन्न आचार्यकी ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें देवके समान आराधना करनी चाहिए।

जिनेन्द्रदेवके इस शासनमें ऊँच और नीच सभी जन पाये जाते हैं, क्योंकि जिस प्रकार एक खम्भेके आश्रयसे महल नहीं टिक सकता उसी प्रकार एक पुरुषके आश्रयसे जैन शासन भी नहीं टिक सकता।

—यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ४०७

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः॥
अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने।
स पुमान् दीक्षितात्मा स्यान्नत्वजादियमाशयः? ॥

दीक्षा ग्रहण करने योग्य तीन वर्ण होते हैं। तथा आहारके योग्य चार वर्ण हैं, क्योंकि सभी जन्तु मन, वचन और कायपूर्वक धर्ममें अधिकारी माने गये हैं।

जिसका सब जीवोंमें द्रोहभाव नहीं है और जो प्रतिदिन जिनपूजा आदि यज्ञकर्ममें निरत है वह मनुष्य दीक्षाके योग्य है। किन्तु जो जाति-मदसे लिप्त है वह दीक्षा योग्य नहीं है (?)।

—यशस्तिलकचम्पू आश्वास ८ पृ० ४१२

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः॥२–१९॥

सम्यग्दर्शनसे निर्मल बुद्धिका धारी द्विज जीवन पर्यन्तके लिए महा-पापोंका त्यागकर उपनीतिसंस्कारपूर्वक जिनधर्मके सुननेका अधिकारी होता है॥२–१९॥

अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—

अब आहार आदिकी शुद्धिको करनेवाला शूद्र भी ब्राह्मणादिके समान यथायोग्य धर्मक्रिया करनेका अधिकारी है इस बातका समर्थन करते हुए आगेका श्लोक कहते हैं—

दीक्षा व्रताविष्करणं व्रतोन्मुखस्य वृत्तिरिति यावत्। सा चात्रोपासकदीक्षा जिनमुद्रा वा उपनीत्यादिसंस्कारो वा ॥२–२०॥

व्रतोंको प्रकट करना दीक्षा कहलाती है। व्रतोंके सम्मुख हुए जीवकी जो वृत्ति होती है उसे दीक्षा कहते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। वह यहाँपर उपासकदीक्षा, जिनमुद्रा या उपनीत्यादिसंस्कार यह तीनों प्रकारकी दीक्षा ली गई है ॥२–२०॥

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्यास्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥२–२२॥

उपस्कर, आचार और शरीरकी शुद्धिसे युक्त शूद्र भी ब्राह्मणादिके समान जिनधर्मके सुननेका अधिकारी है, क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर धर्मसेवन करनेवाला होता है ॥२–२२॥

अस्तु भवतु। कोऽसौ शूद्रोऽपि। किंविशिष्टस्तादृशो जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः। किंविशिष्टः सन् उपस्करः आसनाद्युपकरणं आचारः मद्यादिविरतिः वपुः शरीरं तेषां त्रयाणां शुद्ध्या पवित्रतया विशिष्टः। कुत इत्याह जात्येत्यादि। हि यस्मादस्ति भवति। कोऽसौ आत्मा जीवः। किंविशिष्टो धर्मभाक् श्रावकधर्माराधकः। कस्यां सत्यां कालादिलब्धौ कालादीनां कालदेशादीनां लब्धौ धर्माराधनयोग्यतायां सत्याम्। किंविशिष्टोऽपि हीनो रिक्तोऽल्पो वा किं पुनरुत्कृष्टो मध्यमो वेत्यपिशब्दार्थः। कया जात्या वर्णसम्भूत्या वर्णलक्षणमार्षे यथा–

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः॥

जो शूद्र उपस्कर अर्थात् आसन आदि उपकरण, आचार अर्थात् मद्य आदिका त्याग और वपु अर्थात् शरीर इन तीनोंकी पवित्रतासे युक्त है वह जिनधर्मके सुनने अर्थात् ग्रहण करनेका अधिकारी है, क्योंकि जो आत्मा जाति अर्थात् वर्णसे हीन अर्थात् रहित है या जघन्य वर्णका है वह भी धर्मभाक् अर्थात् श्रावकधर्मका आराधक होता है। उत्कृष्ट और मध्यम वर्णका मनुष्य तो जिनधर्मके ग्रहण करनेका अधिकारी होता ही है यह मूल श्लोकोंमें आये हुए 'अपि' शब्दका अर्थ है। आर्षमें वर्णका लक्षण इस प्रकार कहा है—

जिन जीवोंमें जाति और गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यानके कारण होते हैं वे तीन वर्णवाले हैं और इनके सिवा शेष सब शूद्र कहे गये हैं।

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंऽशतः ॥४-२१॥

जिसे सम्यग्ज्ञान हो गया है, जिसका चारित्रमोहनीयकर्म गल गया है और जो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे निस्पृह है वह यदि हिंसादि पापोंसे पूरी तरह विरत होता है तो यति होता है और एकदेश विरत होता है तो श्रावक होता है ॥४-२१॥

—सागरधर्मामृत

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥७-१४२॥

क्रियाभेदसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद कहे गये हैं। जैनधर्ममें अत्यन्त आसक्त हुए वे सब भाई-भाईके समान हैं ॥७-१४२॥

—त्रैवर्णिकाचार

अइबालवुड्ढदासेरगब्भिणीसंढकारुगादीणं।
पव्वज्जा दिंतस्स हु छग्गुरुमासा हवदि छेदो ॥२१९॥
विंति परे एदेसु व कारुगणिग्गंथदिक्खणे गुरुणो।
गुरुमासो दायव्वो तस्स य णिग्घाडणं तह य ॥२२०॥

णाविय‌कुलालतेलियसालियकल्लाललोहयाराणं ।
मालारप्पहुदीणं तव्वदाणे विण्णि गुरुमासा ॥२२१॥
चम्मारवरुडछिंपियखत्तियरजगादिगाण चत्तारि ।
कोसट्टयपारद्धियपासियसावणियकोलयादिसु अट्टं ॥२२२॥
चंडालादिसु सोलस गुरुमासा वाहडोववाउरिया ।
प्पहुदीणं वत्तीसं गुरुमासा होंति तव्वदाणे ॥२२३॥
चउसट्ठी गुरुमासा गोक्खयमायंगखट्टिकादीणं ।
णिग्गंथदिक्खदाणे पायच्छित्तं समुद्दिट्टं ॥२२४॥

अतिबालक, वृद्ध, दास, गर्भिणी स्त्री, नपुंसक और कारु शूद्रोंको दीक्षा देनेवाले आचार्यको छह गुरुमास नामक प्रायश्चित कहा गया है ॥२१६॥

दूसरे आचार्य कहते हैं कि जो इन सबको और कारु शूद्रोंको दीक्षा देता है उसे एक गुरुमास नामक प्रायश्चित देना चाहिए और उसे संघसे अलग कर देना चाहिए ॥२२०॥

जो नाई, कुम्हार, तेली, शालिक, कलार, लुहार और मालीको दीक्षा देता है उसके लिए दो गुरुमास नामक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥२२१॥

जो चम्हार, वरुड, छिपी, कारीगिर और धोबी आदिको जिनदीक्षा देता है उसे चार गुरुमासनामक प्रायश्चित्त कहा गया है। तथा जो कोशरुक, पारधी, नकली साधु, श्रावणिक और कोलको दीक्षा देता है उसे आठ गुरुमास नामक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥२२२॥

चाण्डाल आदिको जिनदीक्षा देनेपर सोलह गुरुमास तथा गाड़ीवान, डोंव और व्याध आदिको जिनदीक्षा देनेपर बत्तीस गुरुमासनामक प्रायश्चित कहा गया है ॥२२३॥

गायको मारनेवाले, मातङ्ग और खटीकको निर्ग्रन्थ दीक्षा देनेपर चौसठ गुरुमासनामक प्रायश्चित कहा गया है ॥२२४॥

—छेदपिण्ड

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे ।
कुलहीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोदिष्टशासने ॥१०६॥
न्यक्कुलानामचेलैकदीक्षादायी दिगम्बरः ।
जिनाज्ञाकोपतोऽनन्तसंसारः समुदाहृतः ॥१०७॥
दीक्षां नीचकुलं जानन् गौरवाच्छिष्यमोहतः ।
यो ददात्यथ गृह्णाति धर्मोद्दाहो द्वयोरपि ॥१०८॥
अजानाने न दोषोस्ति ज्ञाते सति विवर्जयेत् ।
आचार्योऽपि स मोक्तव्यः साधुवर्गैरतोऽन्यथा ॥१०९॥
कुलीनक्षुल्लकेष्वेव सदा देयं महाव्रतम् ।
सल्लेखनोपरूढेषु गणेन्द्रेण गुणेच्छुना ॥११३॥
कारिणो द्विविधाः सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदतः ।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥१५४॥

सर्वज्ञपदके योग्य दीक्षामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही योग्य माने गये हैं । जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट शासनमें कुलहीनको दीक्षा नहीं है ॥१०६॥

जो दिगम्बर नीच कुलवालेको दिगम्बरपदकी दीक्षा देता है वह जिनाज्ञाका लोप करनेवाला होनेसे अनन्त संसारका पात्र होता है ॥१०७॥

जो गुरुतावश शिष्योंके मोहसे यह नीचकुली है ऐसा जानकर भी उसे दीक्षा देता है या लेता है उन दोनोंके धर्मका लोप हो जाता है ॥१०८॥

किन्तु अज्ञात अवस्थामें नीचकुलीको दीक्षा देनेमें दोष नहीं है । परन्तु ज्ञात होनेपर उसका निवारण कर देना चाहिए । अन्यथा साधुसमुदायका कर्तव्य है कि वह ऐसे आचार्यका त्याग कर दे ॥१०९॥

गुणोंके इच्छुक आचार्य सल्लेखनामें लगे हुए कुलीन क्षुल्लकोंको ही महाव्रत स्वीकार करावे ॥११३॥

भोज्य और अभोज्यके भेदसे कारुशूद्र दो प्रकारके प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे भोज्य शूद्रोंको ही सर्वदा क्षुल्लकव्रत देना चाहिए ॥१५४॥

—प्रायश्चित्तचूलिका

पिण्डशुद्धेरभावत्वान्मद्यमांसनिषेवनात् ।
सेवादिर्नीचवृत्तित्वात् शूद्राणां संस्कारो न हि ॥
पौनर्पुनर्विवाहत्वात् पिण्डशुद्धेरभावतः ।
ऋत्वादिसु क्रियाभावात् तेषु न मोक्षमार्गता ॥
संस्कृते देह एवासौ दीक्षाविधिरभिस्मृतः ।
शौचाचारविधिप्राप्तो देहः संस्कर्तुमर्हति ॥
विशिष्टान्वयजो शुद्धो जातिकुलविशुद्धिभाक् ।
न्यसतेऽसौ सुसंस्कारैस्ततो हि परमं तपः ॥

शूद्रोंकी पिण्डशुद्धि नहीं देखी जाती, वे मद्य-मांसका सेवन करते हैं और सेवा आदि नीच वृत्तिसे अपनी आजीविका करते हैं, इसलिए उनका संस्कार नहीं होता।

शूद्रोंमें बार-बार पुनर्विवाह होता है, उनकी पिण्डशुद्धि नहीं होती तथा उनमें ऋतुधर्म आदिके समय क्रियाका अभाव है, इसलिए उनमें मोक्षमार्गता नहीं बनती।

संस्कारसम्पन्न देहमें ही यह दीक्षाविधि कही गई है तथा शौचाचार-विधिको प्राप्त हुआ देह ही संस्कारके योग्य है।

जो विशिष्ट अन्वयमें उत्पन्न हुआ है, शुद्ध है तथा जाति और कुलके आश्रयसे विशुद्धियुक्त है वही सुसंस्कारोंका अधिकारी है और उसीसे परम तप होता है।

—स्मृतिसार

आहारग्रहणमीमांसा

उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तम, मध्यम या जघन्य घरमें तथा दरिद्र या समर्थ व्यक्तिके यहाँ सर्वत्र जिसमें आहार स्वीकार किया जाता है, जिनदीक्षा इस प्रकारकी होती है ॥४८॥

—बोधप्राभृत

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं ।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥३१॥

जाति, कुल, शिल्पकर्म, तपःकर्म और ऐश्वर्य ये आजीव हैं। इनसे अपने लिए आहारको प्राप्त करना आजीव नामका दोष है ॥३१॥

सूदी सुंडी रोगी मदय णवुंसय पिसाय णग्गो य ।
उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खीया ॥४९॥
अतिबाला अतिवुड्ढा घासंती गब्भिणी य अंधलिया ।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अह व णीचत्था ॥५०॥
पूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च विज्झवणं ।
किच्चा तहाग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥५१॥
लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खमियं ।
एवंविहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥५२॥

जिसने बालकको जन्म दिया है, जो मद्यपान करनेमें आसक्त रहता है, जो रोगी है, जो मृतकको श्मशानमें छोड़कर आया है, जो नपुंसक है, जो पिशाचरोगसे पीड़ित है, जो नग्न है, जो लघुशङ्का आदि करके आया है, जो मूर्च्छित है, जो वमन करके आया है, जिसे रक्त लगा

हुआ है, जो वेश्या है, जो आर्यिका या वैरागिनी है, जो शरीरका उबटन या तैलमर्दन कर रही है, जो अतिबाला है, जो अतिवृद्धा है, जो भोजन कर रही है, जो गर्भिणी है अर्थात् जिसे गर्भ धारण किये पाँच माहसे ऊपर हो गये हैं, जो अन्धी है, जो भीत आदिके अन्तरसे खड़ी है, जो बैठी है, जो साधुसे ऊँचे स्थान पर खड़ी है, जो साधुसे नीचे स्थानपर खड़ी है, जो फूँक रही है, जो अग्निको जला रही है, जो लकड़ी आदिको सरका रही है, जो राख आदिसे अग्निको झक रही है, जो जलादिसे अग्निको बुझा रही है, जो वायुको रोक रही है या लकड़ी आदिको छोड़ रही है, जो घर्षण कर रही है, जो गोबर आदिसे लीप रही है, जो मार्जन कर रही है तथा जो दूध पीते बालकको छुड़ाकर आई है। इसी प्रकार और भी कार्य करनेवाली स्त्री या पुरुष यदि दान करता है तो दायक दोष होता है ॥४६-५०॥

उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं ।
उववेसणं सदंसं भूमीसंफास णिट्ठवणं ॥७६॥

आहारके समय अपने मल-मूत्रके निर्गत होनेपर, अभोज्यगृहमें प्रवेश होने पर, स्वयं गिर पड़ने, बैठ जाने या भूमिका स्पर्श होने पर और थूक खखार आदिके बाहर निकल पड़ने पर मुनि आहारका त्याग कर देते हैं ॥७६॥

—मूलाचारपिण्डशुद्ध्यधिकार

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥४७॥

नीच, उच्च और मध्यम कुलोंमें गृहोंकी पंक्तिके अनुसार चारिका करते हुए मुनि अज्ञात और अनुज्ञात भिक्षाको मौनपूर्वक स्वीकार करते हैं ॥४७॥

—मूलाचार अनगारभावनाधिकार

परिहारो दुविहो-अणवट्ठओ पारंचिओ चेदि। तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मासकालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहारो पडिवंदणविरहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंबिलपुरिमड्ढेयट्ठाणणिव्वियदीहि सोसियरसरुहिरमांसो होदि। जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि। किंतु साधम्मियवज्जियखेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासखवणं वि उवइट्ठं। एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आइरियाणं णव-दसपुव्वहराणं होदि।

परिहार दो प्रकारका है—अनवस्थाप्य और पारञ्चिक। उनमेंसे अनवस्थाप्य परिहारप्रायश्चित्तका जघन्य काल छह महीना और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह कायभूमिसे दूर रहकर ही विहार करता है, प्रतिवन्दनासे रहित होता है, गुरुके सिवा अन्य सब साधुओंके साथ मौनका नियम रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिनके पूर्वार्धमें एकासन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीरके रस, रुधिर और मांसको शोषित करनेवाला होता है। पारञ्चिक तप भी इसी प्रकारका होता है। किन्तु इसे साधर्मी पुरुषोंसे रहित क्षेत्रमें आचरण करना चाहिए। इसमें उत्कृष्ट रूपसे छह मासके उपवासका भी उपदेश दिया गया है। ये दोनों ही प्रकारके प्रायश्चित्त राजाके विरुद्ध आचरण करने पर नौ और दस पूर्वोंको धारण करनेवाले आचार्य करते हैं।

—धवला कर्मअनुयोगद्वार पृ० ६२

·········तथा पर्यटतोऽभोजनगृहप्रवेशो यदि भवेत् चाण्डालादिगृहप्रवेशो यदि स्यात्··· ॥७६॥

तथा चारिका करते हुए साधुका अभोजन घरमें प्रवेश हो जावे अर्थात् चाण्डाल आदिके घरमें प्रवेश हो जावे तो साधु अन्तराय मानकर आहारका त्याग कर देते हैं ॥७६॥

—मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार टीका

.........तथान्ये च बहवश्चण्डालादिस्पर्शकलहेष्टमरणसाधर्मिकसन्यासपतनप्रधानमरणादयोऽशनपरित्यागहेतवः... ॥८१॥

चाण्डाल आदिका स्पर्श होना, झगड़ा-फिसाद होना, इष्ट व्यक्तिका मरण होना, साधर्मी बन्धुका सन्यास पूर्वक मरण होना और राजा आदि प्रधान व्यक्तिका मरण होना इत्यादिक और भी बहुतसे भोजनके त्यागके हेतु हैं ॥८१॥

—मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार टीका

.........नीचोच्चमध्यमकुलेषु दरिद्रेश्वरसमानगृहिषु गृहपंक्त्या हिंडंति पर्यटन्ति मौनेन मुनयः समाददते भिक्षां गृह्णन्ति ॥४७॥

नीच, उच्च और मध्यम कुलोंमें अर्थात् दरिद्र व्यक्तियोंके घरमें, ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्तियोंके घरमें और साधारण स्थितिवाले व्यक्तियोंके घरमें गृहपंक्तिके अनुसार चारिका करते मुनि हुए मौनपूर्वक भिक्षाको ग्रहण करते हैं ॥४७॥

—मूलाचार अनगारभावना अधिकार टीका

उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् ।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥
अभक्तानां कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु ।
न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम् ॥
शिल्पिकारुकवाक्पण्यसम्भलीपतितादिषु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥

जो उच्छिष्ट हो, नीच लोगोंके योग्य हो दूसरेके उद्देश्यसे बनाया गया हो, ग्लानिकर हो, दुर्जनोंके द्वारा छुआ गया हो तथा देव और यक्षादिके निमित्तसे बनाया गया हो ऐसे भोजनका आहार साधुको नहीं देना चाहिए।

जो भक्त न हों, कदर्य हों, अव्रती हों, दीन हों और करुणाके पात्र हों उनके घर साधु आहार न ले।

शिल्पी, कारु, भाट, कुटनी, और पतित आदि तथा पाखण्डी और साधुवेषसे आजीविका करनेवालेके यहाँ मुनि देहस्थिति न करे अर्थात् आहार न ले।

—यशस्तिलकचम्पू

अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः स्वदातृगृहाद् वामतस्त्रिषु गृहेषु दक्षिणतश्च त्रिषु वर्तमानैः षड्भिः स्वप्रतिग्राहिणा च सप्तमेन......

दान देनेका अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सच्छूद्र है। दाताके घरके साथ बाईं ओरके तीन घर और दाईं ओरके तीन घर इस प्रकार कुल सात घरके दिये गये आहारको साधु स्वीकार करता है।

—अनगारधर्मामृत अ० ४ श्लो० १६७

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक्।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना ॥५-२२॥

कुत्ता आदिको आहार आदि करानेसे दाताको पुण्य लाभ होता है इस प्रकार दाताके अनुकूल वचन बोलना वनीपक नामका दोष है। तथा शिल्प और कुल आदिका विज्ञापन कर आजीविका करना आजीव नामका दोष है ॥५-२२॥

आजीवास्तप ऐश्वर्यं शिल्पं जातिस्तथा कुलम्।
तैस्तूत्पादनमाजीव एष दोषः प्रकथ्यते ॥

तप, ऐश्वर्य, शिल्प, जाति और कुल इनका प्रख्यापन कर आजीविका उत्पन्न करना आजीव नामका दोष कहा जाता है।

—उद्धृत ५-२२

मलिनीगर्भिणीलिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च।
शवादिनापि क्लीवेन दत्तं दायकदोषभाक् ॥५-३४॥

जो मलिन है, जो गर्भ धारण किये है तथा आर्यिका आदि लिङ्गको धारण किये है इस प्रकारकी नारी या पुरुषके द्वारा, तथा शवको स्मशान

में छोड़ कर आये हुए पुरुषके द्वारा इसी प्रकार नपुंसकके द्वारा साधुको आहार दिये जाने पर दायक दोष होता है ॥५–३४॥

सूती शौण्डी तथा रोगी शवः षण्ढः पिशाचवान् ।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी ॥
वान्ताऽभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी ।
अदन्त्यन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा ॥
फूत्कारं ज्वालनं चैव सारणं छादनं तथा ।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्वा निश्च्यावघट्टने ॥
लेपनं मार्जनं त्यक्त्वा स्तनलग्नं शिशुं तथा ।
दीयमानेऽपि दानेऽस्ति दोषो दायकगोचरः ॥

(उद्धृत)

(ये श्लोल मूलाचारकी गाथाओंका अनुसरण करते हैं, जिनका अर्थ पूर्वमें दे आये हैं ।)

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादेश्चाण्डालादिनिकेतने ।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम् ॥५–५३॥

आहारके समय साधुको पेशाव और वीर्यका आ जाना मूत्र नामका अन्तराय है । तथा आहारके लिए चारिका करते समय साधुका चण्डाल आदिके घरमें प्रवेश करना अभोज्यगृहप्रवेश नामका अन्तराय है ॥५–५३॥

···चाण्डालादिनिकेतने चाण्डालश्वपचवरुटादीनामस्पृश्यानां गृहे ।

यहाँ 'चाण्डालादिनिकेतन' पदसे चाण्डाल, श्वपच और वरुट आदि अपृश्योंके घरका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि आहारके समय चारिका करते हुए यदि साधु अपृश्य शूद्रोंके घरमें प्रवेश करता है तो अभोज्यगृहप्रवेश नामका अन्तराय होता है ।

तद्वच्चण्डालादिस्पर्शः कलहः प्रियप्रधानमृती ।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च ॥५–५६॥

उसी प्रकार चाण्डाल आदिका स्पर्श होना, कलह होना, इष्ट पुरुषका मरण होना, प्रधान पुरुषका मरण होना, भय होना, लोकजुगुप्सा होना तथा साधर्मी पुरुषका संन्यासपूर्वक मरण होना······इत्यादि आहारत्यागके और भी कारण जानने चाहिए ॥५–५६॥

···चण्डालादिस्पर्शश्चाण्डालश्वपचादिछुप्तिः । टीका ।

इस श्लोकमें 'चाण्डालादिस्पर्श' पदसे चाण्डाल और श्वपच आदिका स्पर्श लिया गया है ॥५–६ टीका ॥

—अनगारधर्मामृत

उत्तममज्झिमगेहे उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादिसहिते राजसदनादौ मध्यमगेहे नीचैर्गृहे तृणपर्णादिनिर्मिते निरपेक्षा उच्चैर्गृहं भिक्षार्थं गच्छामि नीचैर्गृहं अहं न व्रजामि न प्रविशामीत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति। दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा दारिद्रस्य निर्धनस्य गृहं न प्रविशामि ईश्वरस्य धनवतो गृहे प्रविशाम्यहं निवेशे इत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति । सव्वत्थ गिहिदपिंडा सर्वत्र योग्यगृहे गृहीतपिण्डा स्वीकृताहारा प्रव्रज्या ईदृशी भवति । किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह—

उत्तुङ्ग तोरण आदिसे युक्त राजप्रासाद आदि उत्तम घर है। इसकी तथा मध्यम घर और तृण-पर्णादिसे निर्मित नीच घरकी अपेक्षासे रहित दीक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि जिनदीक्षामें दीक्षित हुआ साधु ऐसा कभी विचार नहीं करता कि मैं भिक्षाके लिए उत्तम घरमें ही जाऊँगा, नीच घरमें नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार दारिद्र और धनसम्पन्नताकी अपेक्षा से रहित दीक्षा होती है। मैं दरिद्रके घरमें प्रवेश नहीं करूँगा, केवल धनवान्के घरमें प्रवेश करूँगा इस प्रकारकी अपेक्षासे रहित दीक्षा होती है। किन्तु जिसमें सब योग्य घरोंमें आहारको स्वीकार किया जाता है दीक्षा इस प्रकारकी होती है। वह अयोग्य घर कौन-सा है जिस घरमें भिक्षा नहीं ग्रहण की जाती, आगे इसी बातको बतलाते हैं—

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥१॥

नीच कर्मसे आजीविका करनेवाले गायक, कोतवाल, माली, भरट, वेश्या और तेलीके घर जाकर साधु आहार नहीं लेते ॥१॥

(नीतिसार श्लो० ३६)

अस्यायमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते। तलारस्य कोटपालस्य नीचकर्मोपजीविनः चर्मजलशकटादेर्वाहकादेः विलङ्गस्य भरटस्य वेश्याया गणिकायाः तैलिकस्य घाञ्चिकस्य ।

दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥२॥

तथा दीन, बालकको जननेवाली, दर्जी, मदिराका विक्रय करनेवाले और मद्यपायीके घर जाकर भी साधु भिक्षा नहीं लेते ॥२॥

(नीतिसार श्लो० ३८)

दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते । सूतिकाया या बालकानां जननं कारयति । अन्यत्सुगमम् ।

इस श्लोकमें दीन शब्द आया है । उसका यह तात्पर्य है कि जो श्रावक होकर भी दीन वचन बोलता है उसके यहाँ भी साधु भिक्षा नहीं लेते ।

शालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुदः ।
नापितश्चेति विज्ञेया पञ्च ते पञ्च कारवः ॥३॥
रजकस्तक्षकश्चैव अयःसुवर्णकारकः ।
दृषत्कारादयश्चेति कारवो बहवः स्मृताः ॥४॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना ।
एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥५॥

(नीतिसार श्लो० ४०)

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।
मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसङ्गमः ॥६॥

(नीतिसार० श्लो० ४२)

शाली, माली, कुम्हार, तेली और नाई ये पाँच कारु शूद्र जानने चाहिए। धोबी, तक्षक, लुहार, सुनार और कारीगिर इत्यादि बहुत प्रकारके कारु शूद्र जानने चाहिए ॥३, ४॥ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले साधु इनके घरमें भोजन कर लेते हैं। इसी प्रकार और भी अपने मनसे जान लेना चाहिए ॥५॥ अपने हाथसे भोजन बना लेना उत्तम है, परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके घरमें भोजन करना उत्तम नहीं है, क्योंकि वहाँ पर सब प्रकारके सावद्यका समागम देखा जाता है ॥६॥

—बोधप्राभृत टीका

...चाण्डालनीचलोकमार्जारशुनकादिस्पर्शरहितं यतियोग्यं भोज्यम् ।

चाण्डाल, नीचलोक, बिल्ली और कुत्ता आदिके स्पर्शसे रहित भोजन साधुके योग्य होता है।

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका

चंडालअण्णपाणे भुत्ते सोलस हवंति उपवासा ।
चंडालाणं पत्ते भुत्ते अट्ठेव उववासा ॥२३६॥

चाण्डालका अन्न-पानके भोजन करने पर सोलह उपवास करने चाहिए। तथा चाण्डालके पात्रमें भोजन करने पर आठ ही उपवास करने चाहिए ॥२३६॥

—छेदपिण्ड

कारुयपत्तम्मि पुणो भुत्ते पीदे वि तत्थ मलहरणं ।
पंचुववासा णियमा णिद्दिट्ठा छेदकुसलेहिं ॥८५॥

कारुशूद्रके पात्रमें भोजन करने पर और उससे पानी पीने पर भी छेदशास्त्रमें कुशल पुरुषोंने पाँच उपवास उसका प्रायश्चित्त कहा है ॥८५॥

—छेदशास्त्र

जातिवर्णकुलोनेषु भुंक्तेऽजानन् प्रमादतः ।
सोपस्थानं चतुर्थं स्यान्मासोऽनाभोगतो मुहुः ॥६३॥

जो जाति, वर्ण और कुलसे हीन पुरुषके घर जानकारीके विना भोजन करता है उसे प्रतिक्रमणपूर्वक उपवास करना चाहिए। तथा जो बार-बार भोजन करता है उसे अनाभोगके साथ एक माहका प्रायश्चित्त कहा है ॥६३॥

जातिवर्णकुलोनेषु भुञ्जानोऽपि मुहुर्मुहुः ।
साभोगेन मुनिर्नूनं मूलभूमिं समश्नुते ॥६४॥

किन्तु जो साधु जाति, वर्ण और कुलसे हीन पुरुषके यहाँ बार-बार भोजन करता है वह आभोगपूर्वक मूलस्थानको प्राप्त होता है ॥६४॥

चण्डालसंकरे स्पृष्टे पृष्टे देहेऽपि मासिकम् ।
तदेव द्विगुणं भुक्ते सोपस्थानं निगद्यते ॥१०१॥

चाण्डालके साथ मिश्रण होने पर या उसका स्पर्श होने पर पञ्च-कल्याण नामक प्रायश्चित्त करना चाहिए। तथा उसका भोजन करने पर प्रतिक्रमण सहित उससे दूना प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥१०१॥

—प्रायश्चित्तचूलिका

किरातचर्मकारादिकपालानां च मन्दिरे ।
समाचरति यो भुक्तिं तत्प्रायश्चित्तमीदृशम् ॥६॥

जो किरात, चमार आदि और कापालिकके घरमें भोजन करता है उसे आगे कहे अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥६॥

इहाष्टादशजातीनां यो भुक्तिं सदने पुनः ।
समाचरति चैतस्य प्रायश्चित्तमिदं भवेत् ॥७॥

जो अठारह जातियोंके घर भोजन करता है उसे इस प्रकार प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥७॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूद्रादिगृहसङ्गतः ।
अन्नपानं भवेन्मिश्रं यदि शुद्धिरियं भवेत् ॥११॥

जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके भोजन-पानका शूद्रादिके घरके भोजन-पान संसर्गसे हो जाता है उन्हें इस प्रकार शुद्धि करनी चाहिए ॥११॥

मिथ्यादृगशु(ग्छूद्र) मिश्रान्नपानादि च भवेद्यदि ।
प्रायश्चित्तं भवेदत्राभिषेकत्रितयं घटैः ॥१२॥

जिनके भोजन-पानका मिथ्यादृष्टियोंके भोजन-पानके साथ मिश्रण हो जाता है उन्हें यह प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥१२॥

तद्गृहे भोजनं चाष्टौ उपवासाः प्रकीर्तिताः ॥१५॥

जो पाँच प्रकारके कारु शूद्रोंके घर भोजन करते हैं उन्हें प्रायश्चित्त-स्वरूप आठ उपवास करना चाहिए ॥१५॥

—प्रायश्चित्तग्रन्थ

समवसृतिप्रवेशमीमांसा

मिच्छाइट्ठि अभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइयाइं ।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ॥९३२॥

समवसरणके इन बारह कोठोंमें मिथ्यादृष्टि, अभव्य तथा अनध्यवसायसे युक्त, सन्देह युक्त और विविध प्रकारकी विपरीत वृत्तिवाले जीव कदापि नहीं होते ॥९३२॥

—त्रिलोकप्रज्ञप्ति

तत्र वाह्ये परित्यज्य वाहनादिपरिच्छदम् ।
विशिष्टकाकुदैर्युक्ता मानपीठं परीत्य ते ॥५७-१७१॥
प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः ।
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥५७-१७२॥
पापशीला विकुर्माणाः शूद्राः पाखण्डपाण्डवाः ।
विकलाङ्गेन्द्रियोद्भ्रान्ता परियन्ति बहिस्ततः ॥५७-१७३॥

समवसरणके प्राप्त होने पर वाहन आदि सामग्रीको वहीं बाहर ही छोड़कर तथा विशिष्ट चिह्नोंसे युक्त होकर वे सब उत्तम पुरुष मानपीठको घेर कर तथा अनादिसे आये हुए मानस्तम्भकी प्रदक्षिणा पूर्वक वन्दना करके उत्तम भक्तियुक्त होकर भीतर प्रवेश करते हैं। और जो पापशील विकारयुक्त शूद्रतुल्य पाखण्डमें पटु हैं वे तथा विकलाङ्ग, विकलेन्द्रिय और भ्रमिष्ठ जीव बाहर ही घूमते रहते हैं ॥५७-१७१-१७३॥

—हरिवंशपुराण

देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा ।
यामध्यास्ते स्म पुण्यां समवसृतमहीं तां परीत्याध्यवात्सुः ।
प्रादक्षिण्येन धीन्द्रा द्युयुवतिगणिनीनृस्त्रियस्त्रिश्च देव्यो
देवाः सेन्द्राश्च मर्त्याः पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥२३-१९३॥

अरिहन्त देव नियमानुसार पूर्व अथवा उत्तरदिशाकी ओर मुख कर जिस समवसरणभूमिमें विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणा क्रमसे १ बुद्धिके ईश्वर गणधर आदि मुनिजन, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ व मनुष्य स्त्रियाँ, ४ भवनवासिनी देवियाँ, ५ व्यन्तरोंकी देवियाँ, ६ ज्योतिषियोंकी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिष्कदेव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ पशु इन बारह गणोंके बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं ॥२३-१९३॥

तत्रापश्यन्मुनीनिद्धबोधान् देवीश्च कल्पजाः ।
सार्यिका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्योरगामरीः ॥३३-१०७॥
भावनव्यन्तरज्योतिःकल्पेन्द्रान्पार्थिवान्मृगान् ।
भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥३३-१०८॥

समवसरणके उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्रभगवान्के चरणोंके दर्शन करनेसे उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाओंसे युक्त रानी आदि स्त्रियाँ, ज्योतिष, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी स्त्रियाँ, भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ये बारह गण देखे ॥३३-१०७, १०८॥

—महापुराण

वीतग्रन्थाः कल्पनार्योऽथार्या ज्योतिर्भौमा हि स्त्रियो भावनाश्च ।
भौमज्योतिःकल्पदेवा मनुष्यास्तिर्यग्यूथान्येषु तस्थुः क्रमेण॥२०-६०॥

उस सभाके बारह कोठोंमें क्रमसे मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिका, ज्योतिष्क देवाङ्गना, व्यन्तर देवाङ्गना, भवनवासिनी देवाङ्गना, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशुओंके यूथ बैठे॥२०-६०॥

—धर्मशर्माभ्युदय

दत्ताद्या मुनिभिः समं गणधराः कल्पस्त्रियः सज्जिता
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसंघास्ततो भावनाः ।
वन्या ज्योतिषकल्पजाश्च विबुधाः स्वस्योदयाकांक्षिणः
तस्थुर्द्वादशसु प्रदक्षिणममी कोष्ठेषु मर्त्या मृगाः ॥१८-६१॥

समवसरणके बारह कोठोंमें अपने उदयकी आकांक्षा रखनेवाले मुनियोंके साथ दत्त आदि गणधर, कल्पवासिनी स्त्रियाँ, आर्यिका, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर

देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु प्रदक्षिणाके क्रमसे बैठे ॥१८-६१॥

—चन्द्रप्रभचरित

मिथ्यादृशः सदसि तत्र न सन्ति मिश्राः सासादनाः पुनरसंज्ञिवदप्यभव्याः ।
भव्याः परं विरचिताञ्जलयः सुचित्तास्तिष्ठन्ति देववन्दनाभिमुखं गणोर्व्याम्

उस समवसरणकी गणभूमिमें जिस प्रकार असंज्ञी जीव नहीं थे उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और अभव्य जीव भी नहीं थे। केवल जिनेन्द्रदेवके सन्मुख हाथ जोड़े हुए सुन्दर चित्तवाले भव्य जीव बैठे हुए थे ॥१०-४६॥

तस्थुर्यतीन्द्रदिविजप्रमदार्यिकाश्च ज्योतिष्कवन्यभवनामरवामनेत्राः ।
तं भावना वनसुरा ग्रहकल्पजाश्च मर्त्याः प्रदक्षिणमुपेत्य मृगाः क्रमेण ॥

उस समवसरणसभामें प्रदक्षिणा क्रमसे मुनीश्वर, स्वर्गवासिनी देवाङ्गना, आर्यिका, ज्योतिष्क देवाङ्गना, व्यन्तर देवाङ्गना, भवनवासी देवाङ्गना, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु बैठे ॥१८-३५॥

—वर्धमानचरित

गृहस्थोंके आवश्यककर्मोंकी मीमांसा

दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विणा दीहसंसारं ॥१०॥

सम्यक्त्व सहित दान, पूजा, शील, उपवास और अनेक प्रकारका क्षपण यह सब मोक्षसुखको देनेवाला है और सम्यक्त्वके बिना दीर्घ संसारका कारण है ॥१०॥

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥११॥

श्रावकधर्ममें दान और पूजा ये दो कार्य मुख्य हैं । इनके विना कोई श्रावक नहीं हो सकता । तथा यति धर्ममें ध्यान और अध्ययन ये दो कार्य मुख्य हैं । इनके विना कोई यति नहीं हो सकता ॥११॥

—रयणसार

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

श्री जिनेन्द्रदेवने मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्यागके साथ पाँच अणुव्रतोंको गृहस्थोंके आठ मूलगुण कहा है ॥६६॥

—रत्नकरण्ड

अत्रान्तरे जगादैवं कुण्डलस्त्रस्तमानसः ।
नाथाणुव्रतयुक्तानां का गतिर्दृश्यते वद ॥२६–९६॥
गुरुरूचे न यो मांसं खादत्यतिदृढव्रतः ।
तस्य वक्ष्यामि यत्पुण्यं सम्यग्दृष्टेर्विशेषतः ॥२६–९७॥
उपवासादिहीनस्य दरिद्रस्यापि धीमतः ।
मांसभुक्तेर्निवृत्तस्य सुगतिर्हस्तवर्तिनी ॥२६–९८॥
यः पुनः शीलसम्पन्नो जिनशासनभावितः ।
सोऽणुव्रतधरः प्राणी सौधर्मादिषु जायते ॥२६–९९॥
अहिंसा प्रवरं मूलं धर्मस्य परिकीर्तितम् ।
सा च मांसान्निवृत्तस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मला ॥२६–१००॥
दयावान् सङ्गवान् योऽपि म्लेच्छश्चाण्डाल एव वा ।
मधुमांसान्निवृत्तः सन् सोऽपि पापेन मुच्यते ॥२६–१०१॥
मुक्तमात्रः स पापेन पुण्यं गृह्णाति मानवः ।
जायते पुण्यबन्धेन सुरः सन्मनुजो यथा ॥२६–१०२॥

सम्यग्दृष्टिः पुनर्जन्तुः कृत्वाणुव्रतधारणम् ।
लभते परमान् भोगान् विभुः स्वर्गनिवासिनाम् ॥२६-१०२॥

इसी बीच ग्रस्तमन होकर कुण्डलने पूछा हे नाथ ! अणुव्रतयुक्त मनुष्योंकी क्या गति होती है, बतलाइए ॥२६-६६॥ भगवान्‌ने कहा—जो व्रतोंमें अत्यन्त दृढ़ होकर मांस नहीं खाता है उसका जो पुण्य है उसे कहते हैं। तथा सम्यग्दृष्टिके पुण्यको विशेषरूपसे कहते हैं ॥२६-६७॥ जो बुद्धिमान् दरिद्र पुरुष उपवास आदि नहीं करता किन्तु मांसभुक्तिका त्यागी है उसकी सुगति उसके हाथमें है ॥२६-६८॥ किन्तु जो शीलसम्पन्न, जिनशासनभावित अणुव्रतधारी प्राणी है वह मरकर सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है ॥२६-६६॥ अहिंसाको धर्मका सर्वोत्कृष्ट मूल कहा गया है और वह मांस आदिका त्याग करनेवाले मनुष्यके अत्यन्त निर्मल होती है ॥२६-१००॥ म्लेच्छ या चाण्डाल जो भी दयासे और सत्सङ्गतिसे युक्त है वह यदि मधु और मांसका त्याग कर देता है तो वह पापसे मुक्त हो जाता है ॥२६-१०१॥ तथा वह पापसे मुक्त होकर उत्तम पुण्यका बन्ध करता है और पुण्यबन्धके प्रभावसे वह वैसे ही देव होता है जैसे उत्तम मनुष्य ॥२६-१०२॥ परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको धारणकर उत्तम भोगोंको प्राप्त करता है और देवोंका अधिपति होता है ॥२६-१०३॥

—पद्मचरित

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥३८-२४॥

भरतने उन ब्राह्मणोंको उपासकाध्ययनसूत्रसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ॥३८-२४॥

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् ।
तदा भरतराजर्षिः अन्ववोचदनुक्रमात् ॥३८-२५॥

यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥३८-२५॥

मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥३८-१२२॥

उसके मधुत्याग, मांसत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापोंका त्याग ये सदा काल रहनेवाले व्रत होते हैं ॥३८-१२२॥

दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयं आम्नातो गृहमेधिनाम् ॥४१-१०४॥

दान देना, पूजा करना, शील पालना और पर्व दिनोंमें उपवास करना यह गृहस्थोंका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥४१-१०४॥

——महापुराण

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति ।

··· वार्ताऽसि-मषि - कृषि - वाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्यार्थोपार्जनमिति ।

गृहस्थके इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह आर्य षट्कर्म होते हैं।·········असि, मषि, कृषि और वाणिज्यादि तथा शिल्प कर्म द्वारा विशुद्धि आजीविका करके अर्थका उपार्जन करना वार्ता है।

——चारित्रसार

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥६-७॥

देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थोंके प्रतिदिन करने योग्य छह कर्म हैं ॥७॥

——पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका

सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रिया ।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढावश्यकमीरितम् ॥८-२९॥

प्राज्ञ पुरुषोंने सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कर्म कहे हैं ॥८-२९॥

उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः ।
अन्यैरेते यथाशक्ति संसारान्तं यियासुभिः ॥८-७१॥

यहाँ पर इनके करनेकी विधि बतलाई है उसके अनुसार उत्कृष्ट श्रावकोंको ये प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए तथा संसारका अन्त चाहनेवाले अन्य गृहस्थोंको ये यथाशक्ति करने चाहिए ॥८-७१॥

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥९-१॥

दान, पूजा, शील और उपवास यह संसाररूपी वनको भस्म करनेवाला चार प्रकारका श्रावकधर्म जिनदेवने कहा है ॥९-१

जिनस्तवं जिनस्नानं जिनपूजां जिनोत्सवम् ।
कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं लभते याचितां जनः ॥१२-४०॥

जिनस्तुति, जिनस्नान, जिनपूजा और जिनोत्सवको भक्तिपूर्वक करनेवाला मनुष्य वांछित लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१२-४०॥

—अमितिगतिश्रावकाचार

मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकाः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतेः ॥

श्रुतिके अनुसार पाँच उदुम्बर फलोंके साथ मद्य, मांस और मधुका त्याग करना गृहस्थोंके ये आठ मूलगुण कहे गये हैं ।

——यशस्तिलकचम्पू आश्वास ७ पृ० ३२७

देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः ।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥

देवसेवा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के प्रतिदिन करने योग्य छह कर्म हैं ।

सज्जनोंने देवसेवाके समय स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतकी स्तुति ये छह क्रियाएँ गृहस्थोंकी कही गई हैं ।

—आश्वास ८ पृ० ४१४

नित्याष्टान्हिकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा–
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान् ।
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः ।
शुद्धयाप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१–१८॥

नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुमपूजा और इन्द्रध्वज-पूजा इन पाँच प्रकारकी पूजाओंको तथा पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वयदत्ति और दयादत्ति इन चार प्रकारकी दत्तियोंको तथा तप, संयम और स्वाध्यायको करनेके लिए जिसने कृषि, सेवा और व्यापार आदि कर्म स्वीकार किये हैं ऐसा गृहस्थ आप्तके द्वारा कही गई शुद्धिके द्वारा तथा पक्षादि रूप चर्याके द्वारा अपने पापलेशका नाश करता है ॥१–१८॥

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरफलानि च ॥२–२॥

सर्व प्रथम जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका श्रद्धान करनेवाला यह गृहस्थ हिंसाका त्याग करनेके लिए मद्य, मांस, मधु और पाँच क्षीर फलोंका त्याग करे ॥२–२॥

एतेनैतदुक्तं भवति तादृग्जिनाज्ञाश्रद्धानेनैव मद्यादिविरतिं कुर्वन् देशव्रती स्यात् न कुलधर्मादिबुद्धया ॥२–२ टीका॥

इसके द्वारा यह कहा गया है कि इस प्रकारकी जिनाज्ञा है ऐसा श्रद्धान करनेसे ही मद्यादिका त्याग करनेवाला देशव्रती होता है, यह कुल-धर्म है इत्यादि प्रकारकी बुद्धिसे त्याग करनेवाला नहीं ॥२-२ टीका।

—सागारधर्मामृत

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्वसाधारणा इमे ॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥

व्रतधारी गृहस्थोंके आठ मूलगुण होते हैं। तथा कहीं अव्रतियोंके भी ये ही आठ मूलगुण होते हैं, क्योंकि ये सर्वसाधारण धर्म हैं।

जिसने मद्य; मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग कर दिया है वह नामसे श्रावक माना गया है, अन्य प्रकार कोई श्रावक नहीं हो सकता।

—लाटीसंहिता

देवपूजा गुरूसेवा दत्तिः स्वाध्यायः संयमम्।
दयैतानि सुकर्माणि गृहिणां सूत्रधारिणाम् ॥
मूलगुणसमोपेतः कृतसंस्कारो दग्रुचिः।
इज्यादिषट्कर्मकरो गृही सोऽत्र ससूत्रकः ॥

देवपूजा, गुरुकी सेवा, दान, स्वाध्याय, संयम और दया ये यज्ञोपवीत-धारी गृहस्थोंके सुकर्म हैं।

जो मूलगुणोंसे युक्त है, जिसका संस्कार हो गया है और जो सम्यग्दर्शनसम्पन्न है ऐसा यज्ञोपवीतसे युक्त गृहस्थ यहाँ पर इज्या आदि छह कर्मका करनेवाला होता है।

—दानशासन

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥१६॥

मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रत ये आठ मूलगुण हैं। पाँच उदुम्बर फलोंके साथ तीन मकारोंका त्याग तो बालकोंमें भी होता है ॥१६॥

—रत्नमाला

जिनदर्शन-पूजाधिकारमीमांसा

तिरिक्खा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति । ॥२१॥ तीहिं कारणेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण केइं जिणबिंबं दट्ठूण ॥२२॥

तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि कितने कारणोंके आश्रयसे प्रथम (प्रथमोपशम) सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं ॥२१॥ तीन कारणोंके आश्रयसे प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं—कितने ही जातिस्मरणके आश्रयसे, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्बका दर्शनकर प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं ॥२२॥

मणुस्सा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति ॥२६॥ तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबं दट्ठूण ॥३०॥

मनुष्य मिथ्यादृष्टि कितने कारणोंके आश्रयसे प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं ॥२६॥ तीन कारणोंके आश्रयसे उत्पन्न करते हैं—कितने जातिस्मरणके आश्रयसे, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिन-बिम्बका दर्शनकर प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं ॥३०॥

[यहाँपर इतना समझना चाहिए कि प्रथम सम्यक्त्वको अन्यके समान स्पृश्य व अस्पृश्य शूद्र मनुष्य भी उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका जातिस्मरणके समान धर्मोपदेशका सुनना और जिनबिम्बका दर्शन करना आगमसे सिद्ध होता है।]

—जीवस्थान सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका

तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव।

तिर्यञ्चोंमें किन्हींके जातिस्मरणसे, किन्हींके धर्मश्रवणसे और किन्हींके जिनबिम्बदर्शनसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। मनुष्योंके भी इसी प्रकार प्रथम सम्यत्क्वकी उत्पत्ति जाननी चाहिए।

—त० सू०, अ० १ सू० ७ सर्वार्थसिद्धि

अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः।
मातङ्गानामपि स्वामिन् निकायान् शृणु वच्मि ते ॥२६-१४॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः।
अमी मातङ्गनामानो मातङ्गस्तम्भसङ्गताः ॥२६-१५॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तम्भसंश्रिताः ॥२६-१६॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यम्बराणि ये।
पाण्डुरस्तम्भमेत्यामी स्थिताः पाण्डुरखेचराः ॥२६-१७॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः।
कालस्तम्भं समभ्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥२६-१८॥
पिङ्गलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकाञ्चनभूषणाः।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिताः स्तम्भं श्वपाकिनः ॥२६-१९॥
पर्णपत्रांशुकच्छन्नविचित्रमुकुटस्रजः।
पार्वतेया इति ख्याताः पार्वतं स्तम्भमाश्रिताः ॥२६-२०॥

वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तम्भाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया गताः ॥२६-२१॥

महाभुजगशोभाङ्कसंदष्टवरभूषणाः ।
वृत्तमूलमहास्तम्भमाश्रिता वार्क्षमूलिकाः ॥२६-२२॥

ये आर्य विद्याधर हैं। इनका संक्षेपमें कथन किया। हे स्वामिन्! अब मैं मातंग (चाण्डाल) निकायोंका भी कथन करती हूँ, सुनो ॥२६-१४॥ जो नीले मेघोंके समान नीलवर्ण हैं तथा नीले वस्त्र और माला पहने हुए हैं वे मातंग निकायके विद्याधर (सिद्धकूट चैत्यालयमें) मातंग स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-१५॥ जिन्होंने श्मशानकी हड्डी और चमड़ेके आभूषण पहन रखे हैं तथा जो शरीरमें भस्म लपेटे हुए हैं वे श्मशान निलय नामके मातंग श्मशानस्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-१६॥ जो नील वैडूर्य वर्णके वस्त्र पहिने हुए हैं वे पाण्डुर नामके मातंग पाण्डु स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-१७॥ जो काले हिरणके चर्मके वस्त्र और माला पहने हुए हैं वे कालस्वपाकी नामके मातंग कालस्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-१८॥ जिनके सिरके केश पिङ्गल हैं तथा जो तपाये हुए सोनेके आभूषण पहिने हुए हैं वे श्वपाकी नामके मातंग श्वपाकी स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-१९॥ जिनके मुकुटमें लगी हुई नाना प्रकारकी मालाएँ पर्णपत्रके वस्त्रसे आच्छादित हैं वे पार्वतेय नामके मातङ्ग पार्वत स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-२०॥ जिन्होंने बाँसके पत्तोंके आभूषण तथा सब ऋतुओंके फूलोंकी मालाएँ पहिन रखी हैं वे वंशालय नामके मातंग वंशस्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥२६-२१॥ जो महाभुजककी शोभासे चिन्हित उत्तम आभूषणोंसे युक्त हैं वे ऋक्षमूलक नामके मातंग वृत्तमूलमहास्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं ॥१६-२२॥

—हरिवंशपुराण

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव-द्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान् ।

आचारकी निर्दोपता, गृह-पात्रादिकी शुद्धि और शरीर शुद्धि ये शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियोंकी उपासनाके योग्य करते हैं ।

—नीतिवाक्यामृत

कधं जिणविंवदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणविंबदंसणेण णिधत्त-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो ।

शंका—जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कैसे है ?

समाधान—जिनबिम्बका दर्शन करनेसे निधत्ति और निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, इसलिए उसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहा है ।

—जीवस्थान सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका सूत्र २२ धवला

जिणमहिमं दट्ठूण वि केइं पढमसम्मत्तं पडिवज्जंता अत्थि तेण चदुहि कारणेहि पढमसम्मत्तं पडिवज्जंति त्ति वत्तव्वं ? ण एस दोसो, एदस्स जिणविंवदंसणे अंतब्भावादो । अधवा मणुसमिच्छाइट्ठीणं गयणगमण-विरहियाणं चउव्विहदेवणिकाएहि णंदीसरजिणवरपडिमाणं कीरमाणमहा-महिमालोयणे संभवाभावा । मेरुजिणवरमहिमाओ विज्जाधरमिच्छादिट्ठिणो पेच्छंति त्ति एस अत्थो ण वत्तव्वओ त्ति केइं भणंति तेण पुव्वुत्तो चेव अत्थो घेत्तव्वो । लद्धिसंपण्णरिसिदंसणं पि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे ? ण, एदस्स वि जिणबिंवदंसणे अंतब्भावादो । उज्जंत-चंपा-पावाणयरादिदंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं । कुदो ? तत्थतणजिणबिंबदंसणजिणणिव्वुइगमणकहणेहि विणा पढमसम्मत्त-गहणाभावा । णइसग्गियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं तं हि एत्थ दट्ठव्वं, जाइस्सरणजिणविंवदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो ।

शंका—जिनमहिमाको देखकर भी कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, इसलिए चार कारणोंके आश्रयसे प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं ऐसा यहाँ कहना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस कारणका जिनबिम्ब-दर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है। अथवा आकाशमें गमन करनेकी शक्तिसे रहित मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंके चार निकायके देवों द्वारा नन्दीश्वर द्वीपमें जिनप्रतिमाओंकी की जानेवाली महिमाका देखना सम्भव नहीं है, इसलिए मनुष्योंमें जिनमहिमादर्शन नामक चौथा कारण नहीं कहा है। मेरुपर्वतपर की जानेवाली जिनवरकी महिमा विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं, इसलिए यह बादमें जो जिनमहिमादर्शनरूप कारणका अभावरूप अर्थ कहा है वह नहीं कहना चाहिए ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंमें जिनमहिमादर्शनरूप कारण होता अवश्य है, इसलिए उसका जो जिन-बिम्बदर्शनमें अन्तर्भाव कर आये हैं वह ठीक है।

शंका—लब्धिसम्पन्न ऋषिदर्शन भी प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका एक कारण है उसे यहाँ क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस कारणका भी जिनबिम्बदर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है।

ऊर्जयन्तपर्वत, चम्पानगर और पावानगर आदिका ग्रहण भी इसीसे कह लेना चाहिए, क्योंकि वहाँके जिनबिम्बदर्शन तथा जिननिर्वृत्तिकथन के बिना प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं होता।

तत्वार्थसूत्रमें नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्वका भी कथन किया गया है उसे

भी जान लेना चाहिए, क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शनके बिना उत्पन्न होनेवाला प्रथम सम्यक्त्व असम्भव है।

—जीवस्थानसम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका सूत्र ३० धवला

नित्याष्टान्हिकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा-
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान् ।
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः ।
शुद्धयाप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१-१८॥

...किं विशिष्टः सन् आदृतकृषीसेवावणिज्यादिकः आदृतानि यथास्वं प्रवर्तितानि कृषीसेवावणिज्या आदिशब्दान्मषीविद्याशिल्पानि च षडाजीवनकर्माणि येन सः आदृतकृषीसेवावणिज्यादिकः ॥१-१८ टीका ॥

नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुमपूजा और इन्द्रध्वजपूजा इन पाँच प्रकारकी पूजाओंको तथा पात्रदत्ति, समदत्ति, अन्वयदत्ति और दयादत्ति इन चार प्रकारकी दत्तियोंको तथा तप, संयम और स्वाध्यायको करनेके लिए जिसने कृषि, सेवा और व्यापार आदि कर्म स्वीकार किए हैं ऐसा गृहस्थ आप्तके द्वारा कही गई शुद्धिके द्वारा तथा पक्षादिरूप चर्याके द्वारा अपने पापलेशका नाश करता है ॥१-१८॥

यहाँ श्लोकमें कृषि, सेवा और वाणिज्यके बाद आये हुए आदि पद द्वारा मषि, विद्या और शिल्प ये कर्म लिए गये हैं। तात्पर्य यह है कि छहों कर्मोंसे आजीविका करनेवाला गृहस्थ उक्त पूजाओं, दत्तियों, स्वाध्याय और संयमका अधिकारी है।

—सागारधर्मामृत

पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः ।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥१६॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाद्यः सुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥१७॥

कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः ।
गुरूपदिष्टमन्त्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥१८॥

द्वितीयस्योच्यतेऽस्माभिर्लक्षणं सर्वसम्पदः ।
लक्षितं त्रिजगन्नाथवचोमुकुरमण्डले ॥१९॥

कुलीनो लक्षणोद्भासी जिनागमविशारदः ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नो देशसंयमभूपितः ॥२०॥

पूजक और पूजकाचार्य इस प्रकार पूजक दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे जो प्रतिदिन पूजा करनेवाला है वह आद्य अर्थात् पूजक कहलाता है। और जो प्रतिष्ठा आदि कराता है वह अन्य अर्थात् पूजकाचार्य कहलाता। है जो अपने व्रतोंमें दृढ़ है, आचारका दृढ़तासे पालन करता है, सत्य और शौच युक्त है, जिसकी कुल और जाति शुद्ध है, मित्र और बन्धु आदि परिकर भी जिसका उत्तम है, जो गुरुके द्वारा दिये गये मन्त्रसे युक्त है और जो प्राणिवधसे विरत है ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनमेंसे कोई भी वर्णवाला शील पुरुष पूजक होता है। अब पूजकाचार्यका लक्षण कहते हैं जो कुलीन है, अच्छे लक्षणोंवाला है, जिनागममें विशारद है, सम्यग्दर्शनसे युक्त है और देशसंयमसे भूषित है इत्यादि गुणवाला पूजकाचार्य होता है ऐसा केवली भगवानने अपनी दिव्यध्वनिमें कहा है। जिस दिव्यध्वनिमें दर्पणके समान सब प्रतिभाषित होता है ॥१६–२०॥

—पूजासार

जातिकुलविशुद्धो हि देहसंस्कारसंयुतः ।
पूजासंस्कारभावेन पूजायोग्यो भवेन्नरः ॥

जाति और कुलसे जो विशुद्धियुक्त है तथा जिसके देहका संस्कार हुआ है वह मनुष्य ही पूजासंस्कारभावसे पूजाके योग्य होता है।

—स्मृतिसार

भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
द्वारा सम्पादित अन्य ग्रन्थ

●

महाबन्ध [भाग २ से ७]

जैन-कर्म सिद्धान्तका प्रामाणिक विवेचन करनेवाला प्रथम मौलिक ग्रन्थ।

मूल्य प्रत्येक भाग ग्यारह रुपये

सर्वार्थसिद्धि [हिन्दी अनुवाद सहित]

जैन तत्त्वज्ञानका सांगोपांग विवेचन करनेवाले प्रथम संस्कृत ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्रपर प्रथम संस्कृत टीका।

मूल्य बारह रुपये

ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि

संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी पूजा-पाठ, स्तुति-स्तोत्रका प्रामाणिक संकलन तथा हिन्दी अनुवाद।

मूल्य चार रुपये